यथार्थ से आगे

आदर्श की भूमि पर यथार्थ के अध्ययन का एक
मौलिक सामाजिक उपन्यास

लेखक
श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद

ओरिएण्टल बुक डिपो
१७०४, नई सड़क - दिल्ली

प्रकाशक
ओरिएण्टल बुक-डिपो
नई सड़क, दिल्ली

मूल्य ५॥)

मुद्रक
बालूजा प्रैस
फतेहपुरी, दिल्ली

विचार

विश्व को यदि हम कर्मक्षेत्र मान लें और जीवन को एक संघर्ष, तो हमें यह मानना ही पड़ेगा कि हम सब योद्धा हैं—युद्ध करना ही हमारा कर्म और धर्म है। युद्ध के लिए हम उत्पन्न हुए हैं और युद्ध करते हुए ही हमें इस संसार से सदा के लिए विदा हो जाना है।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि प्रत्येक मनुष्य कैसे योद्धा है, जबकि वह शान्तिपूर्वक रहता है और हिंसक कार्यों द्वारा किसी को हानि और क्लेश नहीं पहुँचाता। न वह हिंसा के लिए सर्वथा स्वतन्त्र है, न स्वाभाविक रूप से सदा तत्पर।

प्रश्न स्वाभाविक होते हुए भी एकांगी है। क्योंकि संघर्ष और युद्ध वह जीवन के लिए करता है। जीवन में यदि संघर्ष नहीं, तो फिर जीवन का कोई महत्त्व भी नहीं। निरन्तर अग्रसर होते जाना ही जीवन है और निरन्तर अग्रसर होने के लिए संघर्ष अनिवार्य है। मनुष्य अपनी सीमाओं में अपूर्ण है। पूर्ण बनने के लिए ही तो उसे सामाजिक बनना पड़ता है। अपने आपसे तो उसे असन्तोष रहता ही है; साथ-ही-साथ वह अपने पारिवारिक जीवन से भी असन्तोष रखता है। उसकी आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं होतीं, इसलिए उसकी आशाएँ भी अपूर्ण रह जाती हैं। महत्वा-

कांक्षाओं के अगाध रत्नाकर में निरन्तर डुबकियाँ लगाने और सतत प्रयत्न करने पर भी कभी-कभी वह असफल ही बना रह जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रयत्न करते-करते थककर, चूर-चूर होकर जब सर्वथा निराश हो जाता है—यहाँ तक कि प्रयत्न करना भी छोड़ बैठता है—तब कहीं सफलता उसके पास आती, ठहरती और बैठती है। वह उसके निकट रम जाती है और कभी-कभी उचित स्वागत के अभाव में उसके निकट आकर लौट भी जाती है !

तात्पर्य यह है कि प्रयत्नों का तारतम्य उसको यदि एक ओर सफलता प्रदान करता है तो दूसरी ओर प्रयत्नशीलता के प्रति उसकी उदासीनता में भी सफलता उसे वरण करती है। सदा प्रयत्न ही उसे सफल नहीं बनाते—प्रयत्नों के प्रति उसकी मौन तटस्थता और प्रति-क्रियात्मक विरक्ति भी उसे सफल बनाती है। जैसे प्रयत्नशील प्राणी भी कभी असफल होता है, वैसे ही कालान्तर में प्रयत्नहीन प्राणी भी कभी सफल हो जाता है। इन दशाओं में कभी-कभी कुछ ऐसा प्रतीत होने लगता है कि सफलता का सीधा सम्बन्ध न प्रयत्नशीलता के साथ है न प्रयत्नहीनता के साथ। बहुतेरे प्रयत्न ऐसे होते हैं, जो अपना प्रभाव तत्काल नहीं दिखा पाते। उनका मूल्यांकन जब वर्तमान नहीं कर पाता, तब भविष्य का करना पड़ता है। अँगूर के गुच्छ की भाँति सफलता कभी हमारे ऊपर नहीं लटकती, जिसे हम जब चाहें तब हाथ बढ़ाकर, उचककर, हस्तगत कर सकें। सब कुछ करने पर भी जब सफलता हमें नहीं प्राप्त होती, तब कुछ भी न करने पर वह आप से आप प्राप्त हो जायगी, यह समझ लेना बड़ा भ्रमात्मक है।

बहुतेरे व्यक्ति यह समझ लिया करते हैं कि काम किये जाओ, युद्ध करते रहो, संघर्ष में पड़कर चाहे जीवय की आहुतियाँ ही दिये जाओ, किन्तु सफलता फिर भी अनिश्चित बनी रहेगी। क्योंकि जो अपने लिए वांछनीय, आवश्यक और अनिवार्य है, वह तो सतत दुर्लभ

है। वह केवल संयोगेन प्राप्य और सुलभ है, केवल भाग्याधीन है। कभी-कभी वे यह भी समझ लिया करते हैं कि निश्चित सफलता की अपेक्षा अनिश्चित सफलता कहीं अधिक सुन्दर, मधुर, मनोहर और मायाविनी होती है। प्रयत्नशील व्यक्ति भी असफल रहता है, यही जीवन का निश्चित यथार्थ है। क्योंकि प्रयत्नहीन, अयोग्य व्यक्ति भी संयोगेन सफल, कृतकार्य, उच्चपदस्थ, मर्यादाशील अधिकारी होता है; अपने आप में सम्पन्न और समर्थ। यथार्थ की इस रूप-रेखा से कौन इनकार कर सकता है ?

इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे बहुतेरे प्रश्न आज हमारे चिन्तकों के विचारणीय विषय बन गये हैं। किन्तु इन प्रश्नों को यदि हम हल नहीं करते और उन्हें एक अभेद्य किंवा विलक्षण, अलौकिक और रहस्यमय मान लेते हैं, तो प्रकारान्तर से हम यह कहते हैं कि सफलता, संयोग और प्रकृति की ही एक देन है। मनुष्य के प्रयत्न पर वह सर्वथा आधारित नहीं है, आश्रित नहीं है, अवलम्बित और अनिवार्य भी नहीं है।

अब यहाँ पर प्रश्न उठता है कि यथार्थ के साथ इसका सामंजस्य साहचर्य और समन्वय क्या है ? उत्तर स्पष्ट है कि सफलता यदि प्रयत्नपरक नहीं है, तो वह लौकिक भी नहीं है। किन्तु सफलता कोई अलौकिक वस्तु नहीं है, वह सर्वथा लौकिक और प्रयत्नपरक है। सफलता मनुष्य के सतत प्रयत्न, परिश्रम और जीवन के सर्वस्व समर्पण की अनुचरी है, दासी है। यह तो बात ही दूसरी है कि जिसको एक सैनिक और योद्धा सफलता मानता है, कोई व्यक्ति कभी-कभी नाक-भौं सिकोड़ता हुआ उसको असफलता मान बैठता है। यह भी एक दृष्टिकोण-मात्र है कि सफलता को अन्तिम सीढ़ी मानते समय हम यह समझने लगते हैं कि उसके नीचे की जितनी भी सीढ़ियाँ हैं, वे सब असफलता की हैं। जबकि वास्तव में वे सब सीढ़ियाँ भी सफलता तक पहुँचानेवाली उसकी सम्बन्धित, निकटस्थ और आत्मीय सीढ़ियाँ होती हैं।

इस प्रकार यह तो केवल मान लेन अर्थात् दृष्टिकोण मात्र की बात हुई । सफलता के वास्तविक रूप पर उसका क्या प्रभाव पड़ सकता है ! विचार और अनुभव करने की बात है कि युद्धरत व्यक्ति यह कभी नहीं सोचता कि मेरे अग्रिम पदक्षेप पर दुनिया यह कहेगी, वह कहेगी । क्योंकि उसकी छाती में भरा हुआ उत्साह उसकी भुजाओं की नसों के भीतर से गतिशील रहनेवाली रक्त की उष्णता, उसके मन में समाया हुआ अटूट विश्वास, उसके रग-रग में भरा हुआ अपने प्रयत्न का अभिमान और दर्प उसे क्षण-क्षण पर यह बतलाया और समझाया करता है कि दुनिया तो सदा ही कुछ-न-कुछ कहा करती है । अपने मार्ग पर चले जाओ, कर्मक्षेत्र में डटे रहो, तो सफलता निश्चित है, बिल्कुल निश्चित है ।

तात्पर्य यह कि सफलता के मार्ग में अनिश्चितता का कोई क्रम नहीं है । कर्मक्षेत्र की टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों पर जा पड़नेवाले योद्धा के लिए असफलता से एक क्षण के लिए भी डरने और आतंकित होने का कोई कारण नहीं है । इसलिए कि कर्मक्षेत्र में युद्ध करते-करते यदि कभी मरण भी आ जाय, तो वह एक अमर जीवन को लेकर ही आयेगा । योद्धा का मरण उसकी पराजय कभी नहीं हो सकती, वह तो उसकी विजय है । युद्ध-क्षेत्र में मरनेवाला योद्धा कभी नहीं मरता । यह तो दृष्टिकोण के माध्यम में बिजली की-सी एक कौंध—एक भावनात्मक क्षणिक लकीर—है, जिसके डर से दुर्बल और भीरु मन काँप-काँप उठता है ! यह तो अज्ञान से भरा हुआ एक भ्रामक मतान्तर है कि मनुष्य मरता है । वास्तव में मनुष्य वह मरता है, जो संग्राम से भाग खड़ा होता, या हार मानकर रो पड़ता है ! जीवन की हार में असफलता यदि यथार्थ है, तो आदर्श की ओर हमारी गति, आदर्श की ओर हमारा प्रस्थान, आदर्श की ओर हमारा सर्वस्व-उत्सर्ग, यथार्थ का अनुचर नहीं, उसके आगे का वरदान और विजय-चिह्न है ।

\+ +

साहित्य का रचनात्मक कार्य निर्माता के स्वस्थ चित्त की अपेक्षा रखता है। किन्तु यह उपन्यास उन परिस्थितियों में छपा है, जब मैं प्रायः अस्वस्थ रहा हूँ। कभी-कभी महीनों इसका मुद्रण-कार्य स्थगित रखना पड़ा है और मुझे खेद है कि इस कारण इसके मुद्रण और प्रकाशन में भी अवाञ्छनीय विलम्ब हो गया है। ऐसी अवस्था में इसकी प्रेस-कॉपी तैयार करने और प्रूफ़-संशोधन में अपने कथाकार बन्धु श्री लक्ष्मीचन्द्र वाजपेयी का सतत आग्रह और सहयोग मैं कभी भुला नहीं सकता। इस रचना के साथ उनकी अनेक स्मृतियों का अमिट इतिहास जुड़ा हुआ है।

[illegible], देवनगर,
कानपुर

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

: १ :

सुख की हों या दुःख की, प्रभाव और प्रतिक्रिया के रूप में जो छायाएँ, रेखाएँ और गहराइयाँ हमारे जीवन पर एक बार छा जाती हैं, उन्हें प्रायः हम मिटा नहीं पाते; वे हमारे जीवन के निर्माण, पथ के मोड़ और पगडंडियों के अस्पष्ट तोड़ में निर्देशन का काम करती रहती हैं।

प्रदीप कभी यह भूल न पाता था कि मेरे पिता कितनें सीधे, सच्चे और उच्च विचार के पुरुष थे। लेकिन अपने मधुरभाषी चरित्र-दुर्बल मित्रों के कारण वे प्रायः कितने चिन्तित और दुखी रहा करते थे ! कभी-कभी वह अपने आप से यह पूछता रहता कि जब वे एक महामानव थे, तब उनका साथ ऐसे लोगों से हुआ ही क्यों ?

यह प्रश्न वास्तव में बड़ा जटिल था; पर कालान्तर में प्रदीप ने इसका एक हल निकाल लिया था। उसने अनुभव किया था कि जो घटनाएँ उसके पिता के जीवन में घटित हुईं, वे कदापि न होतीं, यदि उनकी वैसी साधु प्रकृति न होती। जैसे वे स्वयं विश्वसनीय थे, वैसे ही अन्य लोगों को भी समझ लेते थे। उनके पास आशा का एक रसार्णव था, इसलिए वे यह समझने लगे थे कि मेरा यह कोष कभी रिक्त न होगा।

तो क्या इसका अर्थ यह था कि वे इस संसार को पूरी तरह समझ नहीं पाये थे ?

नहीं, यह बात न थी। कदाचित् वे सोचते थे कि जब तक कोई व्यक्ति उनको धोखा नहीं देता, तब तक उसे अविश्वसनीय

समझने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। अर्थात् सम्बन्ध व्यक्ति-व्यक्ति के साथ अलग-अलग होता है। ऐसा भी तो हो सकता है कि जिस व्यक्ति ने सबको धोखा दिया हो, वह मुझको न दे ! प्रदीप ने अनुभव किया था कि उनकी इसी प्रवृत्ति ने उन्हें समय-समय पर जोखिम में डाल दिया था। मुख्य बात यह थी कि वे अपने ऊपर शक्ति से अधिक विश्वास रखते थे।

और भी एक बात थी। प्रदीप सोचता था कि उनका सारा जीवन संघर्ष और दु:ख में व्यतीत हुआ था। इस कारण उनके अतृप्त मानस में स्वभावतः महत्त्व के प्रति कभी-कभी मोह उत्पन्न हो जाया करता था। इसीलिए वे ऐसे प्रस्ताव भी स्वीकार कर लेते थे, जिनका वास्तव में कोई सुदृढ़ आधार न रहता था।

कुछ ऐसी बात थी कि इन बातों को समझते हुए भी प्रदीप ने पिता के ये गुण विरासत में पाये थे। किसी निन्दा-स्तुति पर वह विश्वास न करता था। वह केवल अपने अनुभव पर चलता था। इस कारण जो भी कार्य उसे सौंपा जाता, उसे समझकर वह तुरन्त स्वीकार कर लेता कि यह तो मेरे बायें हाथ का खेल है !

उस दिन नगर के एक कालेज में एक प्रान्तीय राजपुरुष पधारने वाले थे। उनकी अभ्यर्थना की व्यवस्था सुचारु रूप से हो रही थी। स्थानीय शिक्षा-संस्थाओं से सम्बन्धित अध्यापकों तथा उच्चकक्षाओं के छात्रों की भीड़ विशेष रूप से सजाये हुए शामियाने के विशाल मंडप में, बराबर बढ़ती जा रही थी। कार्य-क्रम में अपना एक निश्चित उत्तरदायित्व रखनेवाले लोग अपनी-अपनी तैयारियों में संलग्न थे। झंडियाँ और वन्दनवारें लग चुकी थीं। राष्ट्रपिता-पितामह से लेकर राष्ट्र-निर्माण में अपने जीवन की आहुति देनेवाले स्वर्गीय महाधिपतियों के चित्र लगाये जा रहे थे। उधर माइक्रोफ़ोन ठीक ढंग से काम देगा या नहीं, इसकी जाँच करनेवाला टेकनीशियन दुलीचन्द आवाज़ परखने

के लिये बोल रहा था—"हाज़रीने जलसा ! अगर आप लोग यह शोर-गुल फ़ौरन से पेश्तर नहीं बन्द कर देंगे, तो मुझे रिसेप्शन-कमिटी के चेयरमैन की हैसियत से जनाबे सदर से यह प्रार्थना करनी पड़ेगी कि वे ऐसे लोगों को यहाँ से कान पकड़कर उठा देने का हुक्म अता फ़रमायें, जो किसी तक़रीर के वक्त आपस में गुफ़्तगू करने से बाज़ नहीं आते !"

जो लोग उस मंडप में पहले से आकर जम गये थे, वे और जो लोग यत्र-तत्र काम में लगे थे वे सब-के-सब, दुलीचन्द के इस अभिनयात्मक कथन पर हँस रहे थे। सम्मान्य अतिथि के स्वागत में जो गायन तैयार किया गया था, उसको गाने के लिये कई लड़कियों के साथ प्रमुख रूप से अरुणा और रंजना अभ्यास करती आ रही थीं। अतएव बैठक के कमरे में ज्यों ही घड़ी ने टन-टन का यांत्रिक उच्चारण किया, त्यों ही गायनाचार्य पण्डित विष्णुशास्त्री, प्रदीप को निकट से जाता हुआ देखते ही, सावधान होकर बोल उठे—"अरे प्रदीप ! और तो सब ठीक है। पर वे दोनों लड़कियाँ अभी तक नहीं आयीं, जिन्होंने स्वागत-गान की तैयारी कर रखी है। मेरे विचार से तुम्हीं उन्हें ला सकते हो। तुम उनसे परिचित तो हो ही। अरे वही अरुणा और···।"

शास्त्रीजी को और अधिक बतलाने का अवसर नहीं मिला; क्योंकि तब तक प्रदीप के मुँह से निकल गया—"अच्छी बात है। मैं उन्हें लिये आता हूँ।"

प्रदीप तब तक बी० ए० कर चुका था और उस समय राजनीति का विद्यार्थी था। वह अपने कालेज में आकर्षक व्यक्तित्व का एक युवक समझा जाता था। भीतर से वह यथेष्ट रसिक था, किन्तु बाहर उसकी रसिकता का क्षेत्र बहुत सीमित था। मित्रों में ही वह कभी-कभी हास्य-विनोद कर लेता, पर बाहर उसकी गम्भीरता प्रसिद्ध थी। वार्तालाप

के समय वह बहुत शिष्ट और शालीन प्रतीत होता; पर विवाद और कविता-पाठ के समय वह सामाजिक मनोविज्ञान के एक पारखी और आलोचक के रूप में प्रकट होता। साधारण वार्तालाप में भी वह अपनी एक विशिष्ट शैली रखता था। यही कारण था कि वह अपनी सीमाओं के बाहर भी बहुत लोकप्रिय था।

प्रदीप की नासिका लम्बी, भृकुटियाँ घनी और केश छल्लेदार थे। मूँछें अभी तक अच्छी तरह निकल न पायी थीं, किन्तु अब उनके निकलने न निकलने का प्रश्न ही न उठता था; क्योंकि हजामत वह अब नित्य बनाता था। वेष-भूषा में वह अंगरेज़ था, लेकिन घर पर प्राय: बनियान के साथ एक रेशमी लुंगी पहने रहता था। उसे टाई की विविधता का चसका था और कमरे में जिस जगह उसके कपड़े टँगे रहते, वहाँ चार-पाँच प्रकार की नयी टाइयाँ तो सदा टँगी ही रहती थीं। वह उठते-बैठते सदा कुछ गुनगुनाया करता। उसके फ़ाउन्टेनपेन की स्याही रायल ब्ल्यू रहती थी और चश्मा वह प्राय: डार्क लगाये रहता था। जूतों के सम्बन्ध में वह अति आधुनिक था। उन दिनों प्लास्टिक का प्रचलन प्रारम्भ नहीं हुआ था; फिर भी उसके चप्पल साँप की केंचुल सी झलक मारते थे। उसकी भृकुटियों के ठीक मध्य में एक काला तिल था और बाएँ नथुने के नीचे का एक दाँत किञ्चित् आगे निकला हुआ था। वह साइकिल पर प्रायः एक ही हाथ का प्रयोग करता और जब कभी ताँगे पर बैठकर निकलता, तो उसके हाथ में कोई पुस्तक या पत्रिका अवश्य रहती। सायंकाल वह अपने मकान पर कभी न मिलता और प्रात: काल नौ बजे तक केवल उन्हीं लोगों से मिलता, जिनका कार्य दो-चार मिनट में समाप्त हो जाता। नगर में प्रथम श्रेणी के जितने रेस्तोराँ और होटल थे, सबसे उसका परिचय था और महीने-दो-महीने में एक-न-एक पार्टी तो वह अपने मित्रों को देता ही रहता था। उसे चाय पीने का शौक़ था, इसलिये वह किसी एक रेस्तोराँ

का भक्त बनना कभी पसन्द न करता था। यौवनागम के कारण सृष्टि, प्रकृति और जगत के नाना रूपों में वह सौन्दर्य्य, रूप और लावण्य के आकर्षण से प्रभावित अवश्य होता था, किन्तु तब तक कहीं उसने अपना मन खोया या समर्पित नहीं किया था; यद्यपि ऐसे अवसर उसे मिलते रहते थे।

उन दिनों कालेज की जिन छात्राओं की चर्चा विशेष रहा करती थी, उनमें अरुणा और रंजना प्रमुख थीं। अरुणा बी० ए० प्रथम वर्ष में थी और रंजना इण्टर के द्वितीय वर्ष में। अरुणा से उसका साधारण परिचय भर था, सो भी कवि-गोष्ठियों के माध्यम से। प्रत्यक्ष और व्यक्तिगत परिचय का अवसर उसे अब तक नहीं मिला था। एक बार तो उसके मन में आया भी कि वह स्पष्ट कह दे—'शास्त्री जी, इस काम के लिये आप किसी और व्यक्ति को भेज दीजिये।' पर वह समय टाल-मटोल का न था और इनकार कर देने का स्पष्ट अर्थ यह होता था कि वह अपने को, इस काम के लिए, या तो सर्वथा अयोग्य समझता है, या फिर इतना अभिमानी है कि ऐसे कार्य पर नियुक्त किया जाना अपने गौरव के प्रतिकूल मानता है।

प्रदीप एक ताँगा लेकर जब अरुणा के मकान की ओर जा रहा था, तब सड़क पर सहसा एक दृश्यविशेष की ओर उसकी दृष्टि जा पड़ी। एक ओर एक आदमी दायें कन्धे पर एक बहँगी लटकाये दोनों ओर दही के कूँड़े लिये हुए पुकार रहा है—"दहीऽ।" और उसके पीछे जीभ लपलपाता हुआ एक कुत्ता दौड़ रहा है। दूसरी ओर दो मजदूर एक ठेला लिये जा रहे हैं, जिसके ऊपर एक पुरुष इतमीनान से बैठा बीड़ी पी रहा है, उसके केशों की जटाएँ बिखरी हुई हैं और ढीला कुरता और कदाचित् तहमद भी खादी की है। इतने में ठेला और वह बहिंगीवाला ज्यों ही परस्पर एक दूसरे को प्रतिकूल दिशाओं

में विदा करते हैं, त्यों ही वह कुत्ता पश्चिम के मकान की ओर मुँह कर के झट वहीं निबटना प्रारम्भ कर देता है।

प्रदीप ज्यों ही ठगा हुआ-सा सोचने लगा—'जो प्रकृति ऐसे अनन्त दृश्यों को चुपचाप मौन भाव से निरन्तर देखा करती है, वही इन दृश्यों के मूल में स्वयं भी एक पात्र है।' त्यों ही कुत्ता निवृत्त होकर पहले कान फटफटाता है, फिर तुरन्त जिधर से आया था, उसी ओर मुड़कर पुन: जीभ लपलपाता हुआ चल देता है।

थोड़ी देर में ताँगा अरुणा के मकान पर जा पहुँचा। प्रदीप उससे उतरकर जो मकान के अन्दर गया, तो नीचे जो परिवार रहता था, उसके एक वृद्ध सदस्य ने बतलाया—"इसी ज़ीने से ऊपर चले जाइये।"

प्रदीप सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ आँगन की ओर ले जानेवाले द्वार पर खड़ा हो गया।

अरुणा सामने के कमरे में एक शीतलपाटी पर बैठी सामने रक्खे डेस्क पर कुछ लिख रही थी। उसके केशगुच्छ की एक चोटी बाँए ओर लटक रही थी और उसको चुस्त ब्लाउज़ ग्रीवा के नीचे कुछ खुला हुआ था।

आहट पाकर ज्यों ही उसने खुले द्वार की ओर देखा त्यों ही कुछ लजाकर झट से अपनी दुग्ध-श्वेत साड़ी के आँचल से अपने आपको सम्हालते हुए सम्यक् विस्मय के साथ पूछा—"आप ?"

प्रश्न तो उसने कर दिया, पर वह सोचने लगी, ये तो शायद वे दद्दा हैं।

ऐसी बात नहीं है कि अरुणा प्रदीप को जानती न हो। कुंजबिहारी तो कालेज छोड़कर अपनी नौकरी में लग गया है, अन्यथा ये प्रदीप क्या उसके इसी घर पहले कभी आये नहीं हैं ? जब कुँजबिहारी दद्दा इण्टर में थे, तब यही प्रदीप परीक्षा की तैयारी के सिलसिले में घण्टों इसी पास के कमरे में बैठे पढ़ते-पढ़ते कभी-कभी बहस भी करने लगते

थे। अरुणा ने उसे चाय पिलाई है, खाना भी शायद एक-आध दफ़ा खिलाया है।

पर तब बात और थी। अब बात ही और है !

इतने में प्रदीप बोल उठा—"आप शायद मुझसे परिचित न हों, किन्तु कुंजबिहारी मेरा सहपाठी था। मैं इस समय कालेज से आपको लेने आया हूँ। आज वहाँ जो समारोह है, उसमें आपको कुछ काम सौंपा गया है। उसी के लिए शास्त्रीजी देर से आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

इतने में एक गौरैया आकर उस कमरे के द्वार की चौखट से लगे खूँटे पर जा बैठी और संकोच के साथ कुछ सोचती-सी अरुणा बोली— "मुझे वहाँ जाना तो है...मगर।...अच्छा, आप पहले रंजना को तो ले आइये।"

"मगर मैं रंजना का घर जानता जो नहीं हूँ।" प्रदीप ने ज्यों ही उत्तर दिया, त्यों ही अरुणा फिर सोच-विचार में पड़ गयी।

प्रदीप की दृष्टि अब अरुणा के मुख पर स्थिर होकर रह गयी। क्षण-क्षण पर वह यही अनुभव करने लगा, जान पड़ता है, इसको मुझ पर विश्वास नहीं हो रहा है। तब फिर वह अपने आपसे उलझ गया—जब इस अरुणा के साथ तुम्हारा कोई विशेष परिचय न था, तब तुमने शास्त्रीजी से अपनी यह स्थिति स्पष्ट रूप से क्यों नहीं प्रकट कर दी ? तुम उनके इस झाँसे में आ ही क्यों गये कि 'मेरे विचार से तुम्हीं उन्हें ला भी सकते हो !'

पर अधिक देर तक प्रदीप चुपचाप कैसे खड़ा रहता ! अतः उसने उत्तर दे दिया—"अच्छा तो अब मैं जाता हूँ। आपको कदाचित् मेरी बात पर विश्वास नहीं हो रहा है !"

अरुणा अब पकड़ गयी। उठकर कुछ आगे आते हुए उसने उत्तर

दे दिया—" इसमें विश्वास की तो कोई बात नहीं है। मगर दद्दा घर में नहीं हैं और उनसे पूछे बिना···।"

इसी समय कुंजबिहारी की पत्नी जैसी एक नारी अरुणा के पास आकर धीरे-से कुछ बोल उठी, जिसे अरुणा ने संकेत से टाल दिया।

प्रदीप के मन में आया कि वह कह दे—'मगर अपने कालेज के इस समारोह में आपको भाग तो लेना ही है। वह भी प्रारम्भ ही में। आप जानती हैं, ऐसे अवसरों पर कुछ पहले से पहुँच जाना अच्छा रहता है। आखिर शास्त्रीजी की भी एक ज़िम्मेदारी है। अगर आप समय पर न पहुँच पायीं तो उनकी स्थिति कितनी चिन्त्य हो सकती है! इसी के लिए उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है। आप स्वयं भी यह स्वीकार कर रही हैं कि हाँ मुझे जाना तो है। ऐसी परिस्थिति में अविश्वास के सिवा ऐसा कौन-सा कारण हो सकता है, जो आपको मेरे साथ चलने से मना कर रहा है!' पर उसने फिर कहा कुछ नहीं और चुपचाप वह नीचे उतर आया।

रास्ते भर प्रदीप अपने सम्बन्ध में सोचता रहा—'क्या मुझमें कोई ऐसा दोष है जिसके कारण अरुणा मुझसे घृणा करती है? क्या मेरी शकल किसी शोहदे और बदमाश की-सी है, जो इसे मुझ पर विश्वास नहीं होता!

नहीं, यह बात नहीं है। इन लड़कियों को अपने रूप पर इतना अभिमान हो गया है कि मेरे जैसे युवक की साधारण प्रार्थना को ठुकराने में इनके हिंसक अहंकार को तुष्टि मिलती है। अरुणा के अन्दर जो एक रूप-गर्विता नारी है उसको इस समय बड़ी तृप्ति मिली होगी!'

तब मन-ही-मन प्रदीप ने संकल्प किया—"अच्छी बात है अरुणा। मुझे तुम्हारी चुनौती स्वीकार है। मैं तुमको अब जीवन में कुछ ऐसा बनकर दिखाऊँगा कि तुम मुझसे मिलने और मुझे प्रसन्न रखने में एक गौरव का अनुभव करोगी।"

जिस अहंकार की तृप्ति किसी की उपेक्षा और अपमान से होती है, वह हिंसक होता है। पर जिस प्रतिहिंसा का जन्म किसी की उपेक्षा और अपमान से होता है, प्राय: उसका अन्त प्रतिष्ठा, विजय और गौरव की सृष्टि करता है।

: २ :

अन्य कपड़े उतारकर केवल एक बनियान प्रदीप ने बदन पर रहने दी। फिर तिखंड़े पर चढ़कर जब वह रसोईघर में जा पहुँचा, तो रसोइया महराज बैठा ऊँघ रहा था और बिल्ली खीर की पतीली साफ़ करती हुई शंकित दृष्टि से इधर-उधर देख रही थी ! प्रदीप जब चुपचाप आसन पर बैठा, तो महराज चौंक पड़ा। बोला—"आ गये सरकार !" और चूल्हे की लकड़ी को भीतर की ओर खसकाने लगा। फिर आटे की गोली पर हाथ बढ़ाते हुए बोला—"मगर बहुत देर कर देते हैं सरकार। बतलाइये, ग्यारह तो बज गये। कब घर पहुचूँगा, कब सोऊँगा ? सबेरे सात बजते ही शिकायत होने लगती है—चाय के साथ कोई नमकीन चीज़ नहीं बनी। और हलुआ क्या दाल-रोटी के साथ खाया जायेगा !"

प्रदीप की थाली में खीर और साग अलग-अलग कटोरियों में परोसा जा चुका था। उसी में से सूखे आलू के टुकड़े को टूँगते हुए वह बोला—"अब की बार दिसम्बर का महीना जब लगे, तब याद दिलाना इस बात की, समझे।"

सुनकर महराज चुप रह गया। प्रदीप के इस कथन का मूल्य वह समझता था।

पराठा तवे पर जा चुका था।

आज प्रदीप बदल जाना चाहता है। बार-बार अरुणा उसके सामने आ जाती है। उसने कहा था—"हाँ, मुझे जाना तो है, मगर...।"

अपनी लज्जासुलभ वाणी में अरुणा ने ठीक कहा था शायद। और अपने 'शायद' शब्द पर प्रदीप को स्वयं हँसी आ गयी। फिर उसे ध्यान आया—आटे की लोई पर बेलन चल रहा है। मानो आटा हृदय है, उसी पर सादा बेलन चला करता है।

फिर अरुणा ने कहा था—'अच्छा, आप पहले रंजना को ले आइये। अर्थात् साथ में अगर रंजना रहेगी, तो आपका दिमाग सही रहेगा। कोई ऐसी बात न कह पायेंगे, जिसे कहने के लिए आप मुझे लेने आ पहुँचे हैं।...पता नहीं आप अपने को समझते क्या हैं!'

पराठा घी पी रहा है, उससे सीं-सीं का स्वर फूट रहा है।

तो मैं अरुणा के लिए लोफ़र और गुण्डा हूँ। 'लोफ़र और गुण्डा हूँ! कितने सुन्दर विशेषण हैं! तो समाज की दृष्टि में ये लोफ़र और गुण्डे इतने हीन और तुच्छ हैं? क्योंकि वे मर्यादा नहीं रखते—मान और प्रतिष्ठा के आडम्बर नहीं पालते। भले आदमियों की पगड़ी उछालने में उन्हें संकोच नहीं होता; क्योंकि पगड़ी वे स्वयं नहीं रखते। वे गाली, चपत, घूँसा और मारपीट में संकोच नहीं करते; क्योंकि इसके लिए वे स्वयं सदा तैयार रहते हैं!

लेकिन वे किसी की ज़्यादा ख़ुशामद करना भी पसन्द नहीं करते, क्योंकि उनकी आत्मा साधारण व्यक्ति से कुछ अधिक बलिष्ठ होती है। वे दम घोंट-घोंटकर, एड़ियाँ रगड़-रगड़कर ज़िन्दगी की साँसें पूरी करना भी पसन्द नहीं करते; क्योंकि दौड़कर, झपटकर, छीनकर, खाने की कला उन्हें ख़ूब आती है। वे लफंगे होन पर भी वीर होते हैं, दिल-फ़ेंक होने पर भी ज़िन्दादिल। वे दूसरों को धोखा देते हैं—अपने को नहीं। आत्म-प्रवंचना उनके लिए सम्भव नहीं है।

इतने में लाल-लाल चित्तियों वाला पराठा प्रदीप की थाली में आ गिरा और नीचे सड़क पर जाती हुई एक कार का हार्न कानों में पड़ गया।

अपने लिये लोफ़र और गुण्डा—अरुणा के मन के इन सुन्दर विशेषणों पर प्रदीप बार-बार विचार करने लगता है। अपनी समझ से वह इस प्रसंग को जल्दी भूल जाना चाहता है, पर भूल नहीं पा रहा है।

—लेकिन गुण्डे समाज से प्रतिष्ठा कभी नहीं पाते।

इसी क्षण उसके मन में आया—'और सभ्य गुण्डे ?'

पराठा घी पी रहा है। आप मन-वचन कर्म की एकता, दीन-दुखियों के प्रति सहानुभूति और अधिकार के क्षेत्र में न्याय और समानता के व्यवहार पर निरन्तर जिनके भाषण और प्रवचन सुना करते हैं वे जब अपने सजातीय व्यक्ति का पक्ष लेकर एक योग्यतम विजातीय व्यक्ति की जीविका छीन लेते, उसकी पद-वृद्धि रोक देते—यहाँ तक कि परीक्षाओं के अवसर पर उसका डिवीज़न गिराकर, जीवन भर के लिये, उसकी महत्वाकांक्षा का गला घोंट देते हैं वे ? और...

—नेतृत्व के लोभ में पड़कर चुनाव के समय जो जाली वोटिंग कराते हुए नहीं हिचकिचाते, मत-पत्रों का डिब्बा या बक्स हस्तगत करके उनमें उलट-फेर कर देने में जिन्हें संकोच नहीं होता, हास्पिटलों में हजारों का वेतन पाने पर भी बँगले या कोठी पर बिना बुलाये जिन डाक्टरों का पेट नहीं भरता, घूस-खोरी के अपराधों पर विचार करने-वाले जो न्यायाधीश अपने बगल में बैठे हुए पेशकार की घूसखोरी पर विचार नहीं करते, वे ?—वे क्या हैं ?

अब कहिये वे शक्तिशाली हैं या आप ?

पराठा घी पी रहा है। ऐसा पराठा उसी के मुँह में जाता है, जो उसकी व्यवस्था क़रता है। वरना दुनिया में रोनेवालों की कमी

नहीं है। कोई शायर साहब जिन लोगों के लिये फ़रमा गये हैं—
"एक ढूँढो हज़ार मिलते हैं !"

लेकिन मैं रोता कहाँ हूँ। मैं तो केवल विचार कर रहा हूँ।

"तो महराज, तुम्हें शिकायत है कि मेरी वजह से तुम सो नहीं पाते; क्यों ?" प्रदीप बोला।

"जी सरकार।" महराज ने उत्तर दिया।

एक पराठा और थाली में आ गया !

"अच्छा तो आज से तुमको सोने को मिलेगा महराज। मगर जाड़े के दिनों में याद दिलानेवाली बात कट !"

"ना सरकार। ऐसा कैसे हो सकता है ! उसके बिना गुज़र कहाँ है !"

महराज कहता हुआ मुसकरा रहा है।

लालच जल्दी नहीं छूटता; सीमित जीवन के साथ उसका साले-बहनोई का-सा सम्बन्ध है।

प्रदीप के मन में आया—'क्या यह रिश्वत नहीं है ? इसके समय को, विश्राम को, रक्त-मांस तथा हड्डियों की आयु को पैसों के बल पर मिटा देनें, उसे नष्ट कर डालने को हम परम्परा कहते, अपनी आजादी और मस्ती कहते हैं ! बड़े बाप के हर बेटे का यही हाल है। तब वह बोला—

"अच्छा महराज, जाड़े के दिनों में याद दिलाने की जो ठहरी, सो तो अब ठहर ही गयी। पर मैं खाना सचमुच जल्दी खा लिया करूँगा। अब मैं भी भला आदमी बनना चाहता हूँ महराज। भला आदमी बनना तुमको पसन्द है न ?"

"जी सरकार। लेकिन आपको बुरा कहता कौन है ?"

कलेजा फूटकर रक्त की भाँति बहना चाहता है। एक हूक निकल उठती है। एक आह भरकर प्रदीप कह देता है—"क्या बतलाएँ मह-

राज, इस दुनियाँ में कुछ ऐसे भी ज़ालिम हैं, जो मुझे गुण्डा समझते हैं !"

"अँगार उनके मुँह पर। एक नहीं, दस !"

"ऐसा मत कहो महराज ! वे दुश्मन नहीं, मेरे देवी-देवता हैं। मैं उनकी पूजा करता हूँ। मैं तो यही चाहूँगा, वे हमेशा मेरा अपमान करते रहें !"

लो, एक पराठा और थाली में आ गया।

"बस महराज, अब और नहीं चाहिये।"

लोई पर बेलन चल रहा है।

'मेरा विश्वास उसे नहीं है। तब जिस प्रकार उसको मेरा विश्वास हो मुझे वैसा ही बनना पड़ेगा। मुझे अपने आपको बदलना पड़ेगा, मुझे अपने आप को बदलना ही पड़ेगा। जब कोई वस्तु प्राप्त करनी होती है, तो उसकी प्राप्ति करने की परिस्थितियों के अनुसार हमें अपनें आपको बनाना पड़ता है। मुझे भी अपना निर्माण करना है।

इतने में महराज बोल उठा—"चाहिये कैसे नहीं ? अभी सरकार ने खाया ही क्या है ? लेकिन यह बात मेरी समझ में नहीं आयी सरकार कि जो आपको गुण्डा समझते हैं वे आपके देवी-देवता कैसे हुए ?"

"महराज कभी तुमने मोर की गूँज सुनी है ?"

"सुनी है।"

"और कोयल की कूक ?"

"रोज ही सुनता हूँ।"

"और हिरनी की आँख देखी है ?"

"देखी है।"

और धीरे-धीरे प्रदीप के मन में मिश्री का एक टुकड़ा जा पहुँचता है।

तब उसने पूछा—"और तितली ?"

"अपनी बगिया में बहुत तरह की हैं सरकार।"

"और मन्दिर के कंगूरे जी जमना की जलधारा पर हिलते डुलते और उठते गिरते हैं ? और कबूतरी की गर्दन ?"

इस बार महराज बोल उठा—"देखा सब है, लेकिन इन सब चीज़ों से आपका मतलब क्या है सरकार, यह समझ में नहीं आया।"

तब प्रदीप के मुँह से निकल गया—"मतलब यह कि आदमी की शकल वाले जानवरों के लिये दुनियाँ में बहुत काम हैं। यह जरूरी नहीं कि वे सब चीज़ों का मतलब समझ ही लें।"

इस बार प्रदीप की बात पर महराज चुप हो गया।

तब प्रदीप पुन: बोल उठा—"जैसे हर बात का जवाब नहीं होता महराज, वैसे ही हर बात समझाने की चीज़ नहीं होती। आम की मंजरी में अमियों की हर गुच्छी पकने की उमर नहीं पाया करती।"

प्रदीप गिलास उठाकर पानी पीने लगा। अब उसके मन में मिश्री का टुकड़ा घुल रहा था।

प्रदीप अपने मन से खेल रहा है। आज जिनके यहाँ चाचाजी ने हुंडी सकारने के लिये भेजा, अच्छा खासा मज़ाक रहा उनके यहाँ।

उस दिन लालाजी से तबियत भर के दो-चार बातें हुईं। पहले तो वे हुक्के की नली मुँह में लगाये हुए थे। मगर फिर मुझे देखकर उनकी बाछें खिल गयीं। बोले—"बस ठीक है राम-राम शिव-शिव। कल भुगतान हो जायगा।"

पर ऐसी हुंडी मैंने आज तक नहीं देखी, जिसकी शकल देखकर आसामी फूलकर कुप्पा हो जाय।

फिर उन्होंने पूछा—"लालाजी की तबीयत तो ठीक है ? मतलब यह कि आजकल राम-राम शिव-शिव दमा तो उनका दबा हुआ है न ?"

मैंने कहा दिया—"जी, यह शिकायत तो उनकी रफ़ा हो चुकी है।"

"वही तो—वही तो राम-राम शिव-शिव मुझे याद पड़ता है कि कभी थी उनको। और चाची जी खाना······मगर खाना तो तुम्हारे यहाँ रसोइया बनाता है। फिर भी कभी कोई खास चीज़ बनानी हुई—क्योंकि घर के लोगों के हाथ का बनाया हुआ खाना—और वह भी पास बैठाकर खिलाना। राम-राम शिव-शिव उसकी बात ही और है! मेरे कहने का मतलब तो तुम्हारी समझ में आ गया होगा? क्योंकि वे भी कभी कुछ खिलाती और परोसती होंगी ही। जब तुम्हारी माँ नहीं हैं तो वही अब तुम्हारी माँ जो हुई। मगर माँ का क्या कहना! वैसे चाची तो वो हैं ही। और फिर तुम खुद ही समझदार लड़के हो। जैसी माँ वैसी चाची, राम-राम शिव-शिव!"

सोचा—लालाजी कौड़ी तो दूर की लाते हैं। इसलिए तबियत ने कुछ रुख बदला और मैं बोल उठा—"माँ को तो मै जानता नहीं। उनकी तो बस याद भर रह गयी है। सो भी इतनी ही कि कोई थी मेरी माँ। और ज़्यादा याद करना मुझे ज़रा कम पसन्द आता है; चाहे कोई हो। क्योंकि याद करना और क्विनाइन मिक्सचर पीना बराबर है। आपका क्या खयाल है?"

"क्या बात कही है तुमनें बेटे! अच्छा खासा शेर का मज़ा आ गया।" और छिपे हौसले की पूँछ पर हाथ रखते हुए से बोले—"मुझको बस इसी तरह से लड़के प्यारे लगते हैं राम-राम शिव-शिव जो बेलौस बात कर लेते हैं। जैसी अभी तुमने कही कि याद करना तुम्हें पसन्द नहीं। मैं कहता हूँ, क्या रक्खा है याद करने में जी? जो मर गये सो मर गये; हमारी बला से! अब हम उनकी याद करके अपना वक्त खराब क्यों करें राम-राम शिव-शिव?"

और इसके बाद वे हुक्का गुड़गुड़ाने लगे।

लालाजी की इस पैंतरेबाजी पर मेरे अन्दर भी उत्साह का एक झकोरा आ गया। तब मैंने कह दिया—"मगर गुस्ताखी माफ़ हो तो मैं कुछ अर्ज़ करूँ।"

तब उन्होंने हुक्के की नली सामने से हटा दी और वे बोले—"ज़रूर ज़रूर। कहने में जो चूक गया, उसका हाज़मा कभी दुरुस्त रह नहीं सकता राम-राम शिव-शिव।"

हृदय के परदे खोलकर तब मैंने कह दिया—"मेरे ख्याल से तो वक्त खराब करने से बढ़कर मज़ा किसी चीज़ में नहीं है लालाजी। दुनियाँ में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उन्होंने अगर थोड़ा-बहुत सुख पाया है तो बस वक्त बरबाद करके। वरना सुख, आराम और मस्ती केवल कहने भर की चीजें हैं! अस्तित्व उसका कहीं है ही नहीं। लोग आलस्य की बेकार बुराइयाँ करते हैं। मैं तो कहता हूँ कि हममें आलस्य न हो तो हमारी नींद हराम हो जाय और जिन्दगी एक मरसिया बन जाय!"

अब लाला जी हँस पड़े। मूँछों पर रोशनी सी झलक उठी। बोले—"अच्छा तो तुम तस्वीर का दूसरा रुख भी साथ-साथ देखते चलते हो! तब तो मिजाज तुम्हारा आशिक़ाना है राम-राम शिव-शिव। अच्छी तबियत पायी है तुमने। मुझे ऐसे जिन्दादिल लड़के बहुत अच्छे लगते हैं। मैं भी कभी ऐसा ही था राम-राम शिव-शिव।"

इतना कहकर उन्होंने हुक्के की नली पर फिर मुँह लगा दिया।

इतने में मैंने भी रुख बदल दिया। बोला—"लेकिन आजकल माँ की मुझे बहुत याद आती है। कोई दिन ऐसा नहीं जाता जब उसकी याद में मुझे रोना न आये। मैं तो अक्सर सोचा करता हूँ कि प्यार का अस्तित्व तभी तक रहता है, जब तक माँ का हाथ—उसके अंचल की पावन छाया—हमारे ऊपर रहती है। इसके पश्चात् प्यार की कहानी समाप्त हो जाती है। माँ के रूप में ही मैं भगवान की सत्ता और उसकी इस अनोखी सृष्टि का अनुभव करता हूँ। माँ की ही वाणी आज मेरे लिये एक मधुर स्वप्न है—उन्हीं की स्मृति मेरी आत्मा का चरम सुख। जब से

वे नहीं रहीं, मैं अनाथ हो गया हूँ। आज संसार में मेरा है कौन, जिसकी गोद में क्षण भर के लिये भी मैं सिर टेकने का अवसर पाऊँ। वह अवसर जो मुझे शान्ति दे सके, जिससे मैं मन की वे गाठें सुलझा सकूँ जिन्हें सुनकर वह नाराज़ होने पर भी बुरा न माने। थपकियाँ दे-देकर जो मेरे अन्तर की सारी वेदना हर ले।"

अभी मैं इतनी ही कह पाया था कि लालाजी सिसकियाँ भरने लगे। रोते-रोते वे बोले—"तुम सच्चे सपूत हो बेटा। तुमको जन्म देकर तुम्हारी माँ अमर हो गयी हैं राम-राम, शिव-शिव!"

इसी समय मैंने देखा कि लालाजी के बड़े, मँझले, सँझले, छोटे और नन्हें चिरंजीव वहाँ आकर खड़े हो गये हैं। बड़े बोले—"यह आपको हो क्या गया, जो मामूली-सी बात पर बच्चों की तरह रोने लगे!" कम-से-कम इतना लिहाज़ तो आपको होना चाहिये कि कौन आया है अ र किससे बात कर रहे हैं आप!"

"मुझे सब लिहाज़ है राम-राम शिव-शिव, अपना लिहाज़ दुरुस्त करो।" गाँठों के ऊपर तक खिसकी हुई धोती को आगे फैलाकर घुटने ढकते हुए लालाजी बोले—"इतने ज़ोर की तक़रीर अगर तुम कर सकते, ऐसे बेहतरीन ख़यालात अगर तुम्हारे बन सकते, तो राम-राम शिव-शिव आज मैं कितना ख़ुशक़िस्मत होता! फिर माँ की याद आ जाने पर जो आदमी रो नहीं सकता राम-राम शिव-शिव, मैं उसको जानवर समझता हूँ! और अगर मैं साफ़ कह दूँगा तो वह तुम्हारे हक़ में अच्छा न होगा; वरना तुम्हारी जगह कोई दूसरा आदमी होता, तो मैं फ़ौरन यह कह डालता कि जिसकी माँ मौजूद है वह इस बात को समझ ही नहीं सकता और भगवान् न करे राम-राम शिव-शिव···! ख़ैर, अब बकवास बन्द करो, अपना काम देखो।"

मँझले चुप रहे और अलमारी में ब्रश जो पड़ा देखा, तो उसे उठा

कर अपनी नयीटोपी पर घिसने लगे ! सँभले उनके पास आ बैठे और अपनी जेब से रूमाल निकालकर मानो लालाजी के आँसू पोछने के इरादे से कहने लगे—"पिताजी आप रोते हैं तो माँ मुझ पर बिगड़ती हैं। कहती है वहीं मरो जाकर। मेरे सामने से हट जाओ। मैं नहीं समझ पाता कि वे ऐसा क्यों कहती है पिताजी।"

छोटे साहब लालाजी के पास खड़े होकर बोले—"चलिये लालाजी, पहले खाना खा लीजिये। अम्मा कहती हैं कि रोना ही हो तो रात भर पड़ी है।" और नन्हें साहब मुँह में पान भरे हुए फुर-फुर करने लगे !

इन लोगों की शकल देखकर और बातें सुनकर बड़े चिरंजीव को ताव आ गया। बोले—"बात करने की तमीज़ सीख लो पहले तुम लोग। ऐसे जंगली लोगों से काम पड़ा है कि नाक में दम आ गया है !"

लालाजी सुनते-सुनते थक से गये थे। इसलिये उन्होंने कह दिया—"राम-राम शिव-शिव तमीज़ ही तुमको अगर होती तो ये जो कुँवर साहब घंटे भर से बैठे हैं, इनकी कुछ ख़ातिर ही की होती !"

तब "आइये साहब" कहकर बड़े साहब मेरा हाथ पकड़कर भीतर खींच ले गये और उन्होंने सब से पहले घर के एक-एक मेम्बर से मेरा परिचय कराया।

"ये मेरी माँ हैं। उन्होंने जब कहा तो हाथ जोड़कर मैंने उनको नमस्ते किया। इसके उत्तर में उन्होंने मेरे सिर पर हाथरखकर कहा—"जीते रहो बेटा।"

"ये मेरी बड़ी दादी यानी पिताजी की चाची हैं।" उन्होंने जब फिर कहा तो दादी के चरणों पर मैंने सिर रख दिया। इसके उत्तर में उन्होंने कहा—" जुग-जुग जियो।" और फिर उभरी हुई नसों

और झुर्रियों से मुद्रित हाथों से मेरे सिर को उठा दिया। मेरी हथेली चूमी और फिर मुझे सीने से लगा लिया।

"और यह मेरी वह हैं।" उन्होंने जब कहा, तो जैसे मैं ऊँची सीढ़ी से फिसलकर धड़ाम से नीचे जा गिरा! मैंने कल्पना भी न की थी कि इन साहब की 'वह' इस क़दर थलथल होंगी। फिर भी मैंने एक फ़रमायशी मुस्कराहट में अदब के साथ जो कह दिया—"नमस्ते", तो वे मेरे पीछे-पीछे चल दीं।

अब मुझे दूसरे कमरे में जाना था। बड़े साहब कहाँ हैं यह जानने के इरादे से मैंने जो पीछे मुड़कर देखा, तो क्या देखता हूँ कि किवाड़ों की ओट में कोई मुझे पीछे से देख रहा है; किन्तु फिर मेरी दृष्टि बचाकर छिप गया है।

अब मैं समझ गया कि हुंडी दर्शनी है और भुगतान जल्दी हो जायगा!

चल हम आगे को रहे थे, मगर अब हुंडी मेरे पीछे छूटी जा रही थी!

फिर मुझे एक कमरे में ले जाया गया, जहाँ चाय, शरबत, फल, मिठाइयाँ—सभी चीज़ें सजाकर रक्खी हुई थीं। ज्योंही मैं एक कुर्सी पर बैठा, त्योंही देवीजी ने बड़े साहब से धीरे से कह दिया—"चाय का पानी गरम किया रक्खा है। छोटे से कहो, ले आये।"

उनकी इस बात पर वे तो अन्दर हो गये। उनकी देवी जीने कन्धे पर आगयी साड़ी को मत्थे के ऊपर खींचते हुए कहा—"आपको यह घर भला काहे को पसन्द आया होगा!"

मैं सोचने लगा, ज़रा कन्धे पर हाथ रख के देखा जाय। इसलिए मैंने कह दिया—"पसन्द आने पर अगर दुनियाँ की हर चीज़ मिल जाया करे, तब तो सारा झगड़ा ही खतम हो जाय! मगर मुसीबत यह है कि आदमी की पसन्द उसकी सीमाओं के बाहर चली जाती है।"

इस पर वे बोलीं—"मैंने इस खयाल से कहा कि आप बड़े आदमी हैं। हम लोगों का यह झोंपड़ा…!"

"झोपड़ा अगर इसी को कहते हैं, तो माफ़ कीजियेगा आपको तो"…कहते-कहते बड़ी मुश्किल से मैं अपने को रोक सका; क्योंकि इसके आगे मेरे मुँह से निकलने ही वाला था—"टिड्डी कहना ज्यादा अच्छा होगा !"

इतने में बड़ेसाहब चाय का पानी ले आये, पर इस बार उनके पीछे एक ऐसी अंगना थी, जिसे देखते ही मैं सहम गया। इस समय मेरी वही दशा होगयी, जैसी नकल करते हुए पकड़ लिये जाने पर किसी विद्यार्थी की हो जाती है ! इसका परिणाम यह हुआ कि परिचित होनें पर भी मैं उससे नमस्ते करना भूल गया।

कहीं किसी कोने से कोई ऐसी बात न उठ खड़ी हो जिससे इसके प्रति मेरी भावनाओं की छाया भी कहीं झलक उठे; इस डर से तत्काल बड़े साहब की देवीजी से मैंने पूछ दिया—"आप ?"

"ओः इनको आप नहीं जानते ?"

"मुझे ख़याल नहीं पड़ता कि मैंने कभी…।" कहता हुआ जब मैं उस शैतान को देख रहा था, तब वह बड़े साहब की कोई बात सुन रहीं थीं। फिर वे बोलीं—"मगर ये तो आपको जानती हैं।"

"अपना-अपना ख़याल है।" जब मैंने कहा, तब जान पड़ा, जैसे एक बार नयनों की कोर उस शैतान ने मेरी ओर बढ़ा दी हो !

"आपका क्या ख़याल है ?" जब बड़े साहब की देवीजी ने प्रश्न किया, तब जिसके सम्बन्ध में ये बातें चल रही थीं, मैंने देखा, उसके नयनों की पुतलियाँ इधर-उधर चलने लगी हैं !

इसी क्षण कुछ शालीनता और संकोच से पहले मुझे देखकर फिर चाय की ट्रे के पास जाते हुए उसने कह दिया—

"एतराज़ न हो तो चाय मैं बना दूँ।"

और इसके पश्चात् मैंने कह दिया—"आपकी रुचियों के साथ मेरे एतराज़ का यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता।"

तब तक उसने चाय ढालना शुरू भी कर दिया था।

उधर उन देवीजी से मैं तब यह कहते-कहते रुक गया कि मेरा ख़याल न पूछिये !

उक्त बात के बाद यह बात अब आयी-गयी हो चुकी थी।

इस पर बड़े साहब की देवीजी से नहीं रहा गया। अपने पति की ओर संकेत करती हुई वे बोलीं—"मेरी समझ में नहीं आता कि लोग खड़े-खड़े यहाँ कर क्या रहे हैं !" और इस कथन के साथ ही वे एक प्याले में दूध छोड़ने लगीं।

बड़े साहब पता नहीं इसी अवसर की ताक में थे, या संयोग ही कुछ ऐसा आ पड़ा कि उनके मुँह से निकल गया—"लोग तो खड़े रहेंगे ही। क्योंकि उन्हें यह भी तो देखना है कि जिसका जो काम है, वह उसे ठीक तौर से अन्जाम भी दे रहा है या नहीं।"

अब मेरे मन में आया कि मैं कुछ पूछूँ, पर मैं चुप लगा गया।

याद आ रहा है कि लालाजी के यहाँ से जब मैं इस कमरे में आ रहा था, तो इससे लगे हुए दूसरे कमरे में एक पलना पड़ा हुआ था। उसमें लेटे बच्चे को बहलानेवाली कोई एक सामने से ज़रा हटकर एक कोने में छिप गयी थी। बड़े साहब ने चलते-चलते उस शिशु की ठुड्ढी छूकर, उसके अरुण कपोल को तर्जनी से छेड़कर उसे प्यार भी दिया था।

इसलिए बड़े साहब के इस कथन का क्या अर्थ होता है, किसी को यह समझने में देर न लगी। यहाँ तक कि उनकी देवी जी के मुख पर भी लज्जा और मुस्कराहट एक साथ झलक उठी ! अब मुझे ऐसा कुछ जान पड़ा, मानों चाय ढालनेवाली अंगना कभी-कभी कनखियों से मेरी भाव-

भंगिमा पढ़ने में कोई कोर-कसर नहीं रख रही है।

चाय ढाली जा चुकी थी और एक कप मेरे सामने आगया था। इतने में पति की ओर संकेतकर भृकुटियों में तनाव पैदा करती हुई वे देवीजी बोल उठीं—"यहाँ ये सब क्या बातें हो रही हैं बेकार की !" और फिर उस ओर देखकर मुसकराती हुई धीरे से कहने लगीं—"आपको सिर्फ़ चाय ही नहीं पीनी है, कुछ खाना भी है।"

बड़े साहब कुछ कहें, तब तक वह युवती बोली—"आपको इसमें बुरा नहीं मानना चाहिये भाभी; क्योंकि हम लोग कलानिकेतन का ड्रामा देखकर लौट रहे हैं !"

इतने में बड़े साहब बोल उठे—"अरी अरुणा, तुमको शायद रंजना बुला रही है।"

अब मुझे मालूम हुआ कि जिस हुंडी के भुगतान की बात चल रही है उसका नाम रंजना है। पर इस ओर विशेष ध्यान न देकर मैंने कह दिया—"उस दिन कुञ्जबिहारी के घर आप ही थीं शायद, जब आपको मेरे साथ चलने में…।"

तब एक शरारत भरी मुसकान के साथ हाथ जोड़ती हुई अरुणा बोली—"जी, पर अब मुझे उसके लिये बड़ा खेद है।" और चल पड़ी।

रंजना जिसे मैंने देखा नहीं और अरुणा, जिसका यह हाल है !

: ३ :

जब रात को नींद नहीं आती, तब कुछ सोचते-सोचते करवट बदलते रहने के सिवा और किया भी क्या जाय ?

'हाँ, तो अरुणा को इतनी जल्दी खेद प्रकट की जरूरत कैसे पड़ गयी ?' प्रदीप धीरे-धीरे सारी बातें सोचने लगा। बात का प्रारम्भ

यद्यपि बहुत प्रसन्नता के साथ हुआ था; क्योंकि उसने कहा था—"एतराज़ न हो तो चाय मैं बना दूँ।" इस पर मैंने जो उत्तर दिया, उससे अरुणा का मुख लाज से सफ़ेद पड़ गया था। फिर जब मैंने स्मरण दिलाया कि आप ही थीं शायद, जब आपको मेरे साथ चलने में आपत्ति हुई थी, तब खेद प्रकट करते उसे देर न लगी थी।

इसका कारण था। यद्यपि पहले से मैंने उस विषय में कुछ नहीं सोचा था। मगर प्रिंसिपल साहब ने पहले साफ़ इनकार कर दिया। उनका कथन था—"ऐसा कैसे हो सकता है!"

मुझे तो ऐसा कुछ जान पड़ता है कि प्रत्येक महान संकल्प को प्रकृति का विरोध सहन करना पड़ता है।

"क्यों, हो क्यों नहीं सकता! 'सोसायटी आव् पोलिटिकल वर्ल्ड अफ़ेयर्स' का मैं मंत्री जो हूँ।"—मैंने जो कहा तो वे बोल उठे—"मगर तुमको बोलने का मौक़ा ही कहाँ मिलेगा! स्टाफ़ में कितने लर्नेड स्कालर्स हैं। उनके रहते हुए तुमको आगे कर देना···! जाओ देखो फ्लूरोसेन्ट-ट्यूब्स का अभी तक कोई प्रबन्ध नहीं हुआ। बकअप माई ब्वाय।"

मैंने विनयावनत होकर कहा था—""मैं अभी प्रबन्ध करता हूँ। पर आप मेरे पूज्य पिता के समान हैं। अगर आप का प्रोत्साहन मुझे न मिला तो मैं कैसे आगे बढ़ पाऊँगा! क्या आप चाहते हैं कि मेरा सारा जीवन रोते-झींखते व्यतीत हो!" इस कथन में 'पूज्यपिता' शब्दों पर मैंने उनके चरण भी छू लिये थे!

पर इतने पर भी प्रिंसिपल साहब न पसीजे। उन्होंने यही उत्तर दिया—"मैं अभी से कोई वादा नहीं कर सकता। तुम अभी बच्चे हो; बड़े-बड़े विद्वानों के होते हुए मैं तुमको बोलने का अवसर दूँ, यह मेरी

समझ में नहीं आता।" तब मेरा चित्त एकदम उदास हो उठा था। एक आघात के बाद यह दूसरा था। फ्लूरोसेंट-ट्यूब्स के लिए यद्यपि मुझे जाना ही पड़ा था। पर अब मेरा सारा उत्साह मर गया था। 'भारत बिजली-कम्पनी' के मिस्त्री को लेकर जब मैं लौटा, तब तक मंडप खचाखच भर चुका था। विनय ने पूछा—"तुम कहाँ चले गये थे? डाक्टर मिश्र तुमको पूछ रहे थे। मगर तुम इतने परेशान क्यों नज़र आ रहे हो? चेहरे पर हवाइयाँ क्यों उड़ रही हैं!" मैंने कह दिया—"सबेरे से दौड़ रहा हूँ।" फिर मैं डाक्टर मिश्र को खोजने लगा। पर तब तक गवर्नर महोदय आ चुके थे और लोग उनकी सेवा में इधर-से-उधर दौड़ रहे थे। डाक्टर मिश्र राजनीतिविभाग के अध्यक्ष हैं। इस कारण वे भी उन्हीं के कमरे में बैठे हुए थे। फिर एकदम से कार्यक्रम प्रारम्भ हो गया और मुझे डॉ० मिश्र से मिलने का अवसर ही न मिला।

गवर्नर महोदय ने ज्यों ही आसन ग्रहण किया, त्यों ही अरुणा और और रंजना ने मिलकर अपना गायन प्रारम्भ कर दिया—"मंगल स्वागत—मंगल गान।"

मुझे मानना ही पड़ा कि अरुणा का कण्ठस्वर बड़ा मधुर है। माइक्रोफ़ोन से उनका गायन चारों ओर छाकर रह गया। इधर-उधर लोग कानाफूसी करने लगे। चड्ढा बोला—"किस क्लास की छात्रा है यह तितली? रूप-यौवन के सिवा कोकिल-कण्ठी भी है!"

कैलाश कहने लगा—"सिनेमा-इण्डस्ट्री में इसको प्लेबैक का चांस फ़ौरन मिल सकता है।"

मगर तब तक डा० मिश्र गवर्नर महोदय की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए बोले—"अब मैं गवर्नर महोदय आनरेबल सर श्रीरुद्रप्रताप सिंह से प्रार्थना करूँगा कि वे इस कालेज की 'सोसायटी आव् पोलिटिकल वर्ल्ड अफ़ेयर्स' का उद्घाटन करें।"

मैं मानता हूँ कि गवर्नर महोदय अपने विषय के प्रकाण्ड विद्वान हैं। उन्होंने आज के राजनैतिक विश्व का जो चित्र खींचा, वह कई अर्थों में यथार्थ था। पर वे इस समस्या को स्पष्ट नहीं कर सके कि सम्पूर्ण विश्व में स्थायी रूप से शान्ति का समर्थन करनेवाले राष्ट्र भी अन्दर-ही-अन्दर युद्ध की तैयारियाँ क्यों करते रहते हैं। क्या इसका अभिप्राय यह है कि 'कहना कुछ और करना कुछ' आधुनिक राजनीति के पास यही एक मूलमंत्र रह गया है!

अब सिनेमाहाउस में जान पड़ता है, अन्तिम शो समाप्त हुआ है। सड़क पर कोलाहल बढ़ गया है।···खैर सारा कार्य सुचारु रूप से चलता रहा। मैं तो मंच के पास ही बना रहा। मेरी सहयोग-भावना एकदम से समाप्त जो हो चुकी थी। मगर गवर्नर महोदय ने अपने भाषण में एक काम की बात कही। वे बोले—"जो लोग यह समझ बैठे हैं कि एकदम से तटस्थ रहकर हम विश्व-शान्ति को स्थायी बनाने में सहायता ही पहुँचा रहे हैं वे यह भूल जाते हैं कि चुप रहने का अर्थ राजनीति के क्षेत्र में बौद्धिकता का सूचक कभी नहीं होता। विश्व-शान्ति के समर्थक के लिए सब से अधिक आवश्यक कर्तव्य यह है कि वह उस समय कभी चुप न रहे, जब कोई शक्तिशाली राष्ट्र किसी निर्बल राष्ट्र को अपने पैशाचिक मुँह का कौर बना डालने के लिए तत्पर हो उठा हो!"

आगे चलकर गवर्नर महोदय बोले—"तटस्थता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि अवसर आने पर संकट के समय भी, हम किसी निर्बल राष्ट्र के साथ सहयोग न करें; वरन् यह है कि हम किसी भी राष्ट्र की आन्तरिक समस्याओं में अनुचित हस्तक्षेप न करें। उसकी जनता के प्रति आदर की भावना चाहे न भी रक्खें, पर न तो उसके प्रति कभी अपनी घृणा प्रकट करें, न उसकी शासन-व्यवस्था की अनुचित आलोचना करें।

और अपनी इच्छाओं, रुचियों तथा धारणाओं को किसी राष्ट्र पर लादना तो तटस्थता की नीति के प्रति विश्वासघात करना है। तटस्थता का सबसे बड़ा और महान उद्देश्य तो यही है कि राष्ट्रों के पारस्परिक संघर्ष के समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इतनी गुंजाइश बनी रहे कि उपस्थित समस्याओं के हल को हम स्थायी रूप से अक्षुण्ण बनाये रखते हुए भी सर्वथा मानवीय रख सकें।"

प्रिंसिपल साहब जब खड़े हुए, तब मेरा कलेजा धक से हो गया ! मैं यही सोचने लगा कि इस सोसायटी के मंत्री के रूप में यदि वे पाँच मिनट का भी समय मुझे दे देते, तो इनकी प्रतिष्ठा में कौनसी कमी आ जाती ! खैर, उन्होंनें पहले तो गवर्नर महोदय की सराहना की। उन्होंने कहा कि मेरे अनुरोध को स्वीकार करके आपने अपनी जिस उदारवृत्ति का परिचय दिया है, उसके लिये यह कालेज आपका सदा ऋणी रहेगा। पर इसके बाद इस संस्था के जन्म की चर्चा करते हुए वे बोल उठे—"मुझे इस अवसर पर यह बात प्रकट करते हुए बड़ी प्रसन्नता हो रही है कि ऐसी एक संस्था हमारे कालेज में होनी चाहिये, सुझाव के रूप में यह विचार पहले हमारे कालेज के एक छात्र के मन में उत्पन्न हुआ था। राजनीति-विज्ञान का वह एक तेजस्वी छात्र है, जिसका नाम प्रदीप है। मैं चाहूँगा कि हमारे मान्य अतिथि गवर्नर महोदय तथा उपस्थित सज्जन वृन्द उसीके मुख से इस संस्था के जन्म-कथा का इतिहास संक्षेप में अवश्य सुन लें।"

प्रिंसिपल साहब के इन शब्दों को सुनकर मुझे कितनी प्रसन्नता हुई और अब तक है, यह कोई कहने की बात है ! जो हो, मैं अब उत्साह के साथ मंच पर आ पहुँचा और मैंने बोलना प्रारम्भ कर दिया—

"माननीय सभापति, हमारे देश के गौरव पूज्य राज्यपाल महोदय, गुरु-जनो और बन्धुओ !

"वे घटनाएँ जो जीवन को एक विशेष धारा की ओर मोड़ देती हैं, कभी भुलाई नहीं जा सकतीं। इस संस्था के जन्म के साथ भी मेरे जीवन की कुछ घटनाओं का विशेष सम्बन्ध है। बात उन दिनों की है, जब मैं इसी कालेज के हाईस्कूल का विद्यार्थी था। उस समय हमारे हेडमास्टर साहब श्रीज्ञानचन्द्र जी थे। तभी व्याख्यान का एक विषय रक्खा गया—"तुम क्या बनना चाहते हो ?" उस समय हमारा देश स्वतंत्र नहीं हो पाया था। नेतागण जेलों में थे और हम लोग राजनीतिक आन्दोलनों में भाग लेने के लिए स्वतंत्र न थे। हमारे साथियों में से किसी ने कहा—"मैं प्रिंसिपल बनना चाहता हूँ।" कोई बोला—"मैं तो सम्राट् बनने की इच्छा रखता हूँ, यद्यपि आज की परिस्थितियाँ ऐसी नहीं हैं कि मेरी यह अभिलाषा पूर्ण हो।" किसी ने कहा—"मैं हाई कोर्ट का जज" तो किसी ने प्रान्तीय मिनिस्टर और किसी ने नेता बनने की आकांक्षा प्रकट की थी। पर जब मेरे बोलने की बारी आयी, तब मैंने कह दिया—"मैं तो स्वतन्त्र भारत का प्रधानमंत्री बनना चाहता हूँ !" मुझे अब तक याद है, उस समय मेरे इस कथन पर करतलध्वनि हो उठी थी ! इससे मुझे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ, मानों मैंने सचमुच कोई आश्चर्यजनक किन्तु महत्त्वपूर्ण बात कही है। तब मैंने यह अनुभव किया कि बात महत्त्वपूर्ण तभी बन पाती है, जब वह सर्वथा मौलिक होती है। इसके पश्चात् जब मैं बी० ए० का विद्यार्थी था, तब कालेज के छात्र-संघ की ओर से मैं प्रधानमन्त्री पद के लिये खड़ा हुआ। संयोग की बात कि मेरे प्रतिकूल वह महाशय थे, जिनका मुझे सदा विशेष बल रहता था। यद्यपि मेरी शक्तियाँ विशृंखलित हो चुकी थीं और मुझे विजय प्राप्त करने की कोई आशा न थी, फिर भी मैं प्रयत्न में लगा रहा। अन्त में जब मत-गणना का अवसर आया, तो मेरी स्थिति कुछ सम्हल गयी। परिणाम यह हुआ कि मैंने अपने प्रतिद्वन्दी श्रीविनयकुमार के बराबर मत प्राप्त कर लिये। अब प्रश्न उठा कि ऐसी दशा में निर्णय कैसे हो

सकता है। श्रीविनयकुमार तैयार थे कि गोली बनाकर लाटरी डाल दी जाय। एक में लिखा रहे विजय, दूसरी खाली रहे। लेकिन मेरा तर्क यह था कि पुरुषार्थ को मैं भाग्य के हाथ बेचना कभी स्वीकार न करूँगा। इससे तो यही उत्तम होगा कि मेरा भाई विनयकुमार ही प्रधानमन्त्री बना दिया जाय। मुझे इसमें कोई आपत्ति न होगी। मेरे इस मनोभाव की मुख्य पृष्ठ-भूमि यह थी कि जब मेरा बाल-बन्धु स्वयं मेरे विरोध में खड़ा होता है तब मुझे पद-लालसा के मोह में न पड़ना चाहिये।

"पर मेरे इस कथन का श्रीविनयकुमार पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह रुद्ध कंठ की मर्मवाणी से बोल उठा—"नहीं, ऐसा नहीं होगा। मेरे लाख विरोध करने पर भी जब तुमने अपने पुरुषार्थ से मेरे बराबर मत प्राप्त कर लिये हैं, तब मै अन्त:करण से तुम्हीं को विजेता स्वीकार करता हूँ।" इस प्रकार मैं कालेज-छात्र-संघ का प्रधानमंत्री नियुक्त हो गया। इस घटना से मैंने यह सीखा कि राजनीति के क्षेत्र में भावुकता का कोई महत्त्व नहीं है। अगर मैं अपने सखा श्रीविनयकुमार की प्रबल शक्ति से आतंकित होकर अपना साहस खो बैठता, तो एक प्रधानमन्त्री के पद से कालेज-छात्र-संघ की सेवा करने का मुझे कभी सुअवसर न मिलता!

"इसके पश्चात् माननीय सर श्रीरुद्रप्रतापसिंह महोदय इस प्रदेश में गवर्नर होकर पधारे, तब मेरे मन में आया कि क्यों न अपने कालेज में एक ऐसी संस्था बनायी जाय जिसमें समय-समय पर विश्व की राजनैतिक समस्याओं पर भाषण और विचार-विनिमय हुआ करे। संसार के विशेष विद्धज्जन जब यहाँ पधारें, तब उनके विचारों का लाभ भी राजनीति-विज्ञान के छात्रों को निरन्तर मिलता रहे। माननीय राज्यपाल महोदय रचित, 'मैसेज आव् पोलिटिकल क्राइसेज आव द वर्ल्ड' ग्रंथ से भी मेरी इस भावना को बल मिला। इन्हीं सब विचारों का परिणाम इस संस्था के जन्म के रूप में आज आपके सम्मुख है। और ऐसे अवसर पर माननीय राज्यपाल महोदय ने प्रारम्भ से ही हमको अपनी जो छत्रछाया

प्रदान की है, वह तो इस संस्था के सांस्कृतिक इतिहास में सदा चिरस्मरणीय रहेगी !

"अपने गुरुजनों के समक्ष मैं अभी बच्चे के समान हूँ। इसलिये अधिक न बोलकर मैं अन्त में केवल इतना कहना चाहता हूँ कि हम एक ऐसे नवयुग में प्रवेश कर चुके हैं जो सदा अपने पैरों से खड़े रहने के लिए कठोर-से-कठोर श्रम और उत्पीड़न स्वीकार करने को हमें ललकार रहा है। उसकी इस चुनौती की माँग है कि हम इतने योग्य और कर्मठ बन जायँ कि अपनी सांस्कृतिक परम्परा की स्थायी निधि को सुरक्षित रखने के साथ-साथ विश्व की गति-विधि में भी सक्रिय भाग लेते रहें।"

तीन-चार मिनट के इस वक्तव्य ने मुझे मित्रों और गुरुजनों की बीसों बधाइयाँ दिलवाईं और अगले दिन जब नगर के समाचार-पत्रों में चित्र के साथ मेरा यह छोटा-सा भाषण भी प्रकाशित हुआ, तब तो एक बार सर्वत्र मेरी चर्चा होने लगी।

अतएव अरुणा का उस अवसर पर, रंजनाके यहाँ, खेद प्रकट करना अपना एक दृष्टिकोण रखता है। और वह है—शक्ति की पूजा करना और उच्च प्रतिष्ठा के आगे सिर झुका लेना! सारी दुनियाँ की यही रीति है।

अब आँखें झुकने लगी हैं।

: ४ :

प्रदीप के उठने म आज उतनी देरी नहीं हुई जितनी नित्य हो जाया करती थी। उठते ही उसने अपनी डायरी खोली और देखा कि आज उसे क्या-क्या कार्य करने हैं।

संख्या एक पर लिखा था—" नाई की जो बारह वर्ष की लड़की शारदा है उसकी पीठ पर फोड़ा हो गया है। उसके आपरेशन के लिए

डाक्टर तिवारी के यहाँ जाना है।"

संख्या दो पर—"गाँव से धनीराम कोरी जो आया है, उसको मिल में कहीं नौकरी दिलवानी है।"

संख्या तीन—"बड़े ताऊ के यहाँ से जो निमंत्रण आया है, उसकी तैयारी के लिए बाज़ार जाकर साड़ियाँ, ब्लाउज़ के कपड़े और फूफा जी के लिए एक बढ़िया रेशमी चादर। कुछ मिठाइयाँ डब्बे में और अंगूर सेब, आम और लीची एक झल्ली में।

लेकिन आज तो रविवार है। प्रदीप सोचने लगा—"वीरेन्द्र सम्भव है आ जाय। बद्रीनाथ के यहाँ भी जाना पड़ेगा। बहुत दिनों के बाद बेचारे को निमन्त्रण देने का एक अवसर मिला है।"

अब प्रदीप ने डायरी बन्द कर दी। वह सोचने लगा—"कल मैंने तय किया था—'चाय बन्द कर देंगे और उसकी जगह सवेरे दूध की लस्सी लेंगे।"

इतने में महराज ने साइड-टेबल पर चाय लाकर रख दी। तब उसने सोचा—'जान पड़ता है, मन में ही वैसा निश्चय कर लिया था, महराज से कहा नहीं था। कुछ निश्चय ऐसे होते हैं, जो कहने पड़ते हैं। सोच लेने मात्र से ही उनके अनुसार कार्य नहीं हो जाया करते'।

तब उसने महराज से पूछा—"दूध तो अभी काफ़ी होगा न ?"

उसने उत्तर दिया—"हाँ, हू सरकार।"

अब पेंसिल हाथ में लेकर ब्लाटिंग पैड पर 'अरुणा' लिखता हुआ वह बोल उठा—"दूध की लस्सी बना लाओ और यह चाय शीला को दे दो जाकर। वह पी लेगी। और देखो, मैं अब सदा चाय के बजाय दूध की लस्सी लिया करूँगा।"

महाराज ने पूछा—"तो अब आप चाय नहीं पिया करेंगे ?"

प्रदीप ने उत्तर दिया—" हाँ, मैंने तय कर लिया है कि अब मैं चाय छोड़ दूँगा।"

दरवाज़े के नीचे, सड़क पर, जो ताँगा जा रहा था, उसपर एक

लाउडस्पीकर लगा हुआ था और उस पर बैठे हुए वक्ता महाशय कहते जा रहे थे—"आज शाम को, पाँच बजे फूलबाग़ के मैदान में एक विराट सभा होगी, जिसमें समाजवादी दल के चोटी के नेता पधारेंगे। आप सब लोग बड़ी-से-बड़ी तादाद में इकट्ठे होकर ज़लसे को कामयाब बनायें। इस समय हमारा देश जिन महान संकटों से गुज़र रहा है, उनपर विचार करने की बड़ी आवश्यकता है। यह ऐसा अवसर है, जब जनता की सारी भावनाओं के अध्ययन करने का एक संयोग हमें मिलता है। ऐसे जलसों में नेताओं के पुराने विचार एक नया मोड़ लेते हैं और जनता को भी यह समझने का मौक़ा मिलता है कि हमारे नुमाइन्दे, हमारे प्रतिनिधि, हमारे नेता, हमारी इच्छाओं और भावनाओं को कितना ज्यादा समझते और गुनते हैं और अपनी घोषणाओं के अनुरूप वे कार्य के समीप कहाँ तक जाते हैं!"

प्रदीप के होठों पर कुछ मुसकराहट आ गयी। उसके मन में आया—'चलो, एक काम और बढ़ा।' और उसने अपनी डायरी में नोट किया—शाम को पाँच बजे फूलबाग़ की सभा में जाना।

इतने में उसका हाथ जो ठुड्डी पर जा पहुँचा तो वह सोचने लगा—'अरे अभी तो मुझे 'शेव' भी करना है। और शेविंग का डिब्बा ज्योंही उसनें खोला, त्योंही दाएँ तरफ़ की खिड़की पर एक कबूतर आ बैठा। गरदन हिलाकर उसने एक बार प्रदीप को देखा और वह बोल उठा—"गुटरूँ गूँ।"

प्रदीप फिर मुसकरानें लगा। उसके मन में आया कि उससे प्रश्न करे कि क्या तुमको भी हजामत बनवानी है? लेकिन तब तक दूसरा कबूतर भी वहाँ आ बैठा।

प्रदीप ने अभी 'शेविंग स्टिक' दाढ़ी पर फेरी ही थी कि शीला अन्दर से आकर बोली—"भैया, हमारे लिए चप्पल लाना न भूलियेगा। और

देखिये, यह रहा मेरे पैर का नाप। ऐड़ी ज़रा ऊँची रहे। समझते हैं कि नहीं ? और चमड़ा अगर हरा रहे, तो उसके ऊपर बार्डर सुनहला होना चाहिये। अगर घटिया क़िस्म के चप्पल लाकर आपने रख दिये, तो फिर आपको खुद दुबारा जाना पड़ेगा। और अम्मा ने यह अँगूठी दी है। इसका नग गिर पड़ा है, इसको ठीक करवाना है। और बाबू ने पूछा है—"शामको कै बजे गाड़ी जाती है ?"

उसने उत्तर दिया—"टाइम मैं अभी देखकर बताता हूँ। पर इस चप्पल के लिए रुपये ?"

लाड़ से मुँह बनाती शीला बोली—"ऊँ ऊँ···रुपये आप मुझसे लेंगे ? अभी तो बीस और पाँच पच्चीस और दो सत्ताईस रुपये आप से मुझको चाहिये। उन्हों में से खर्च कर दीजिये।"

हजामत बनाते हुए एक कील फट जाने के कारण एक बूँद रक्त झलकने लगा था, उस पर फिटकरी फेरता हुआ प्रदीप बाला—"देख शीला, तू इतना तो जानती ही है कि अभी हम कुछ पैदा नहीं करते। हमारी कोई आमदनी नहीं है। तब समय-समय पर क़ाबुली की तरह यह रुपयों का तकाज़ा तू मुझसे क्यों करती है ?"

शीला हँसने लगी, बोली—"तो मेरे पास ही कौन खज़ाना रक्खा है ?

प्रदीप बोला—"रुपया तू ज़रूर अम्मा से लायी होगी। हाँ, देना तू नहीं चाहती, यह बात दूसरी है।"

प्रदीप का इतना कहना था कि शीला नें दस का नोट देते हुए कहा —"रुपया तो मैं ज़रूर ले आयी हूँ। मगर लौटा दीजियेगा आज ही। अम्मा से ले लीजियेगा; मगर उनसे यह न कहियेगा कि मुझसे मिल गये हैं। नहीं तो फिर वह देंगी नहीं। और हाँ, नीचे वीरेन्द्र बाबू बैठे हैं आपके इन्तज़ार में।"

शीला इतना कहकर चली गयी।

अब प्रदीप सोचने लगा—'इस वीरेन्द्र को आज मैं क्या जवाब दूँगा ? पचास रुपये का सवाल है । चाची से मिलनें की उम्मीद नहीं है ।···इस ब्लेड से अब काम नहीं चलेगा ।' और उसने रेज़र से पुराना ब्लेड निकालकर उसमें नया लगा लिया और वीरेन्द्र जैसे फिर उसके सिर पर आ बैठा—'जीवन में कितना क्रन्दन है ! चारों ओर से नाना प्रकार के चीत्कार, रुदन, सिसकियों और कराहों के ही स्वर आ रहे हैं। कहीं कोई अवलम्ब नहीं हैं; कहीं कोई समाधान नहीं है ! ए: ! फिर ब्लेड लग गया ! तब उसके मन में आ गया—

'बहुत सोचना और मनोमन्थन करते रहना जीवन के व्यापारों में सदा सहायक नहीं होता ।' और उसने जो खिड़की की ओर दृष्टि डाली तो क्या देखता है कबूतरों की जोड़ी उड़ गयी है !

थोड़ी देर में शेव करके प्रदीप नीचे बैठक में जाने लगा तो उसे ध्यान हो आया कि मैंने शीला से यह कहा ही नहीं कि वीरेन्द्र से कह देना, मैं अभी आया ।...मुझसे पग-पग पर गलतियाँ होती हैं। लेकिन सवाल तो यह है कि पचास रुपये में लाऊँ कहाँ से ? उसको फ़ीस की रक़म पूरी करनी है । और यह भी सही है कि मेरे यहाँ शोलापुर मिल की एजन्सी है कपड़े की और गोरखपुर के मिल की एजन्सी है शुगर की । कई मकान हैं । सब ठीक है, मगर मेरे जेब-खर्च की भी तो एक सीमा है । सिर्फ दो सौ रुपये मिलते हैं और इस महीने तो मेरे पास अब तेरह चौदह रुपये पड़े होंगे ।...अच्छा ।

और बिना कुछ तय किये हुए ही वह नीचे चला गया ।

वीरेन्द्र टेबिल पर हाथ रखे और उसी पर मत्था टेके बैठा था। प्रदीप ने पूछा—"कितने देर से बैठे हो ?"

वीरेन्द्र मुस्कराता हुआ बोला—"अभी आधा ही घण्टा हुआ है !"

प्रदीप बोला—"अच्छा ! आधा घण्टा हो गया !!"

पसीने की बू से ओत-प्रोत एक रूमाल जेब से निकालकर मुंह पोंछता

हुआ वीरेन्द्र बोल उठा—"मेरी चिट्ठी तो मिली होगी ?"

इतने में महरा अन्दर जाने लगा ।

प्रदीप बोला—"ए कलुआ, पंखा यहाँ लाकर रख । इतने बदतमीज़ हो गये हो तुम सब कि यह भी नहीं देखते कौन मुझसे मिलने आया है और कौन नहीं । माफ़ करना भाई वीरेन्द्र !' और वीरेन्द्र हँस पड़ा !

कलुआ जाने लगा तो प्रदीप बोला—"पहले पंखा रख जाओ और उसके बाद लस्सी, दूध की बन रही होगी हमारे 'लिए, वही दो ग्लास । जाओ ।"

कलुआ चला गया ।

प्रदीप बोला—"देखो वीरेन्द्र, चिट्ठी तुम्हारी ज़रूर मिली थी और इस मौक़े पर मैं सोचता हूँ कि मुझे तुम्हारी मदद भी करनी ही चाहिये । मगर मुसीबत यह है कि इस वक्त मेरे पास रुपये हैं नहीं और आज ही मुझे अम्मा और शीला को लेकर फूफाजी के यहाँ जाना है । वहाँ हमारी भतीजी का विवाह है । क्या बताऊँ, मेरी तो कुछ समझ में नहीं आता ।"

इतने में शीला ने सौ-सौ के दो नोट लाकर प्रदीप को देते हुए कह दिया—"बाबू ने दिये हैं और कहा है कि बाज़ार खुल गया होगा । कपड़े वग़ैरह सब अभी ले आयें । उन्होंने मुनीमजी से भी कह दिया है । बिरहानारोड पर जो सबसे बड़ी दूकान है चौरासीमल त्रिबेनीप्रसाद की, उनके यहाँ फ़ैंसी क़िस्म के बहुत बढ़िया कपड़े रहते हैं । इकलाई विकलाई से तो काम चलेगा नहीं, रेशम और जार्जेट की साड़ियाँ होनी चाहिये ।"

इतना कहकर शीला चली गयी । मगर दरवाज़े तक जाकर फिर लौट आयी और बोली—"भैया, इतने रुपये आपको मिल रहे हैं एक साथ; अब दस-पाँच रुपये इधर-उधर करने में क्या लगता है ! हमारे लिये नम्बर एक का चप्पल आना चाहिये । बस, अब तो आपको शिकायत

न होगी कि मेरे पास पैसा नहीं है।" फिर पास आकर बोली—"और भैया उचित तो यही है, अब आप मेरे दस रुपये लौटा दे?"

प्रदीप बोला—"जा जा, मुझको सोलह दूनी आठ पढ़ाने आयी है। इतनी वाचाल हो गयी है...।"

शीला जाती हुई बोली—"जाती तो हूँ, मगर मेरा काम सब से पहले होना चाहिये।"

शीला चली गयी। महराज लस्सी ले आया और प्रदीप बोला—"अच्छा वीरेन्द्र, चलो तो हमारे साथ। तुम भी क्या कहोगे...!"

दोनों लस्सी पीने लगें।

: ५ :

घर के ताँगे पर बैठकर जब प्रदीप चलने लगा, तो वीरेन्द्र अगली सीट पर बैठा हुआ सोचने लगा—'पीछे बैठने के लिए इन्होंने मुझसे नहीं कहा। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि प्रदीप मुझको अपने से हीन कोटि का मानव मानता है। यह केवल रुपये की परम्परागत महिमा है। अन्यथा कहाँ मैं और मेरा व्यक्तित्व और कहाँ एक पूँजी-पति के सपूत इस प्रदीप का!'

जिस क्षण वीरेन्द्र यह सोच रहा था, उसी क्षण प्रदीप ने रास्ता चलते हुए एक बन्धु का नमस्कार स्वीकार करने के साथ ही कह दिया—'आन्तरिक परिस्थिति जाने बिना प्राय: लोग अपने निकटतम बन्धु पर भी अविश्वास करने लगते हैं। यह नहीं देखते कि उनकी भी अपनी परिस्थितियाँ हुआ करती हैं। आप को विश्वास न होगा, मगर इस समय मेरे पास कुल तेरह रुपये सवा पाँच आने हैं। अब तो अगले महीने का जेबखर्च जब चाचाजी से मिलेगा, तभी काम चलेगा।—

और यह आपको पता ही है कि तीस-चालीस रुपये तो मेरे पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं में ही प्रतिमास व्यय हो जाते हैं !"

वीरेन्द्र 'हूँ हूँ' करता रहा। न वह समर्थन कर सकने की परिस्थिति में था, न विरोध। बल्कि यह अवश्य उसने सोचा—'इन दो सौ रुपयों में से अगर यह पचीस भी प्रतिमास मुझे देते जाते, तो मैं कितना सुखी होता ! समर्थ होने पर भी जो व्यक्ति अपनी असमर्थता ही प्रकट करता है, उसे सभ्यभाषा में अर्थ-पिशाच कहते हैं ! और इस पर तुर्रा यह है कि यह अपना मित्र भी बन रहा है ! क्या दुनियाँ है !!'

इस समय दस बज रहे थे और सड़क के इधर-उधर जानेवाले विद्यार्थी कापियाँ और किताबें दबाये, या झोला हाथ में लटकाये, शीघ्रतापूर्वक चले जा रहे थे। जब कोई सवारी आ जाती, तो वे अपने बाएँ ओर सिमट जाते। प्रदीप का ताँगा भी जब तेज़ी से चल पड़ा, तो एक विद्यार्थी ज़रा चौंकता हुआ-सा बाईं ओर कुछ इतनी तेज़ी से हटा कि उसकी कई पुस्तकें फिसलकर सड़क पर गिर गयीं ! एक ठेले में मांस लदा जा रहाथा, जिस पर एक मोमजामा पड़ा हुआ था। जेब से रूमाल निकालकर प्रदीप ने मुँह में लगा लिया। फिर उसके मन में आया—'आदिकालीन मानव जब जंगल में मंगल मनाया करता था, अन्न वह नहीं उत्पन्न कर पाया था, तब उसे जंगली जीवों को मारकर भूनकर खा जाने की छूट रहती थी। किन्तु आज इस बीसवीं शताब्दी में भी मनुष्य को मांसाहार की आवश्यकता बनी है !' और इस सभ्यता पर कुछ हँसता हुआ-सा प्रदीप सोचने लगा—'इस पर तुर्रा यह है कि पढ़े-लिखे लोग ही मांस-भक्षी अधिक हैं।...छि: ! छि: !!'

सोचने के इस क्रम में तुर्रा दोनों के मन पर खड़ा होकर लाल झंडी दिखाने लगता है !

ताँगा जब आगे बढ़ा, तो रास्ते में पड़ी एक कुतिया की पूँछ का

अन्तिम भाग कुछ दब गया और वह बिचारी ज़ोर से चिल्ला उठी ! प्रदीप को ऐसा जान पड़ा, जैसे किसी ने उसके कलेजे में सुई चुभो दी हो ! और तत्काल उसके मुँह से निकल पड़ा—"देखो पीरू, कम-से-कम इन राह चलनेवालों को तो देख लिया करो। आख़िर इस कुतिया की पूँछ तुमने खुतर दी न ! बड़े शर्म की बात है ! ज़रा भी दर्द तुम्हारे हृदय में नहीं रह गया है !"

पीरू बोला—"सरकार बात यह है कि···!"

"अरे क्या बात है ! बात-बात लगाते हो ! ताँगा हाँकते-हाँकते बुड्ढ़े हो गये, मगर बचकर चलना न आया !"

प्रदीप जब पीरू को डाँट रहा था, तब वीरेन्द्र उसकी शकल देख रहा था।

पीरू ने उत्तर दिया—"भैया, आप देवता पुरुष हैं। इसलिए जो चाहे सो कह सकते हैं। मगर बड़ेबाबू कभी इन सब बातों का ख्याल नहीं करते।"

तब प्रदीप कुछ तेज़ी के साथ बोल उठा—"दुनियाँ न ख्याल करे, लेकिन तुमको तो करना चाहिए। जबकि तुम बिलकुल नहीं करते ! तुम्हारी लड़की अगर सड़क पर पड़ी हो और कोई ताँगेवाला उसके हाथ के ऊपर से ताँगा निकाल ले जाय, तुम्हारी लड़की एकदम से चीख पड़े, तो मैं पूछता हूँ, तुम्हारे दिल पर क्या गुज़रेगी ! और ऊपर से बहस करते हो ! तबियत होती है, तुमको आज ही जबाब दे दूँ। मगर फिर ख्याल आता है कि तुमने तो मुझे खिलाया भी होगा !"

पीरू चुप हो गया। उसे कुछ ऐसा जान पड़ा कि अब जो कुछ भी मैं कहूँगा, उसी पर ये बिगड़ उठेंगे !

जिस समय प्रदीप की यह बातचीत चल रही थी, उस समय वीरेन्द्र सोच रहा था—'ख़ामख़्वाँ सनके जा रहे हैं। लाखों जीवजन्तु कीड़े-मकोड़े नित्य मरते रहते हैं। कोई घड़ी और पल ऐसा नहीं होता, जिस पर मृत्यु की काली छाया हमारे सामने न आ पड़ती हो ! मगर और

कुछ नहीं है, तो कोचवान ही को खाये जा रहे हैं !' और इसके बाद फिर वह सोचने लगा—'लेकिन सच पूछो तो मुझे इन बातों से कोई मतलब नहीं है। देखना यह है कि मुझको आज यह पचास रुपये देते हैं कि नहीं !'

थोड़ी देर में दूकान आ गयी। मुनीमजी अभी नहीं आ पाये थे। प्रदीप दूकान में जा बैठा। जब वह गद्दी पर बैठ गया, तो उसने कलेण्डर की ओर जो दृष्टि डाली, तो क्या देखता है कि अभी उसमें जुलाई ही चल रही है !

तब प्यारे महराज को, जो अभी पीतल की दवात को पक्की ईंट के पाउडर से घिस-घिसकर उसे चमकाने में लगे थे, अपने पास बुलाकर प्रदीप बोला—"क्यों प्यारे, तुम थोड़ा-बहुत पढ़े हो न ?"

"भैया, यही तीन-चार दरजे तक !" प्यारे के उत्तर में कुछ सकपकाहट आ गयी थी।

प्रदीप बोला—"मगर कलेण्डर की यह तारीख़ और महीना तो तुम पढ लेते होगे न ?"

प्यारे बोला—"हाँ, इतना तो पढ़ लेता हूँ।"

तब प्रदीप ने पूछा—"तो फिर यह ऊपर का पन्ना तुमने फाड़ा क्यों नहीं ?"

प्यारे सिटपिटा गया ! धीरे से बोला—"बात यह है छोटे भैया···।"

प्रदीप ने डाँटते हुए कह दिया—"बको मत प्यारे ! बात यह है, बात वह है। जब कि बात यह है कि जितने नौकर चाचाजी ने रक्खे हैं, सब पड़े-पड़े खा रहे हैं ! काम देखने की उनको कोई चिन्ता नहीं है !"

प्यारे चुप रह गया। वह जानता था कि भैया जब आते हैं, तो घण्टे-आध-घण्टे में ही महीनों की कसर निकाल लेते हैं !

अब यकायक प्रदीप का ध्यान वीरेन्द्र की ओर जा पहुँचा। एक

बार तो यह भी उसके मन में आया कि 'मित्र है तो क्या हुआ, लेकिन यह आदमी कुछ निकम्मा और मनहूस क़िस्म का है। जबसे आया है, तबसे स्वार्थ की बात को छोड़कर किसी भी विषय पर एक वाक्य तक हज़रत ने नहीं कहा। कहीं-न-कही इसके मन में रोग ज़रूर है।'

तब उसने पूछा—"तुमको हो क्या गया है वीरेन्द्र ? कौआ बढ़ गया है या मुँह के अन्दर छाले पड़ गये हैं ? बात करते हुए कुछ पीड़ा होती है या मुँह खोलते ही दम घुटने लगता है ? उमर में हमसे एकाध साल छोटे ही होगे। मरी-मरी सी तबीयत लिये फिर रहे हो ! जानते हो, इस तरह का आदमी या तो टी० बी० से मरता है या ज़हर खाकर ! मेरी इस बात को गाँठ में बाँध लो।"

इसी अवसर के लिए वीरेन्द्र डर रहा था। वह जानता था कि जो व्यक्ति किसी को आर्थिक सहायता देता है वह उसका स्वाभिमान ही नहीं, आत्मगौरव भी अपने यहाँ गिरवी रख लेता है !

तब वीरेन्द्र ने कह दिया—"आप सब कुछ कह सकते हैं !"

वस्तुस्थिति के साथ उसे संलग्न करके यथार्य 'परस्पेक्टिव' में देख सकने की बुद्धि उसमें न थी। अतएव कुछ भरे हुए बोझिल मन से, उसने उत्तर दिया था।

प्रदीप को कुछ आश्चर्य हुआ। वह बोला—"क्या मतलब ?"

वीरेन्द्र कुछ मुसकरा उठा। फिरे थोड़ा गम्भीर होकर बोला—"काश आप जान सकते कि ग़रीब लोग कैसे जीते हैं !"

थोड़ा मुसकराते हुए प्रदीप बोल उठा—"अपनी समझ से तो तुमने बहुत नयी बात कही, मगर प्रश्न कुछ वैसा नया नहीं है।" और तब कुछ आवेश में आकर वह बोल उठा—"मैं बताऊँ कि गरीब लोग कैसे जीते हैं ? जीते हैं, कायर और निकम्मे बनकर, जीते हैं अपने से आगे बढ़े हुए साथियों को कोस-कोस कर, उन्हें गाली दे-दे कर ! वे बुद्धि से काम नहीं लेते। और साहस की ललकार से

खेलना तो जानते ही नहीं। तूफ़ान और बिजली का अनुभव न अपने हृदय में करते हैं और न धमनियों में। रास्ते की ईंट को जूते की ठोकर से किनारे फेंक देने के बजाय खुद ही उससे टकरा जाते और गिर पड़ते हैं! बस एक रोना और हाथ पसारना उनको आता है— "मेरी सहायता कर दीजिये।" मैं पूछता हूँ, किसी से सहायता माँगने का आपको क्या हक़ है? आप तो एफ़० ए० में पढ़ रहे हैं। पोस्टआफ़िस के सामने बैठकर सड़क पर चिट्ठियाँ नहीं लिख सकते आप?—शर्म लगती है! मुझे हर दूसरे-चौथे दिन और महीने में साबुन, तेल, ब्लेड्स, नील पाउडर, टूथपेस्ट, टूथब्रश, बटन, पालिश वग़ैरह पचीसों चीजों की आवश्यकता अपने और घर के लिए बनी रहती है। और इतने बड़े शहर में मेरी जैसी स्थिति के पचास हज़ार आदमी भी न होंगे? आप एक बैग में ये सब चीज़ें रखकर अपने खाली समय में उन सबके यहाँ जा नहीं सकते?—संकोच लगता है! तो जाइये, कोशिश कीजिये, डी० एम० की कुर्सी पर बैठ जाइये!... मुझे तुम्हारे इस उत्तर को सुनकर बड़ा दुःख हुआ वीरेन्द्र।...ए प्यारे, यह सौ का नोट तो भुना लाओ।—अजीब हालत है, साढ़े दस हो गया, अभी कोई आया नहीं। ओः ग़ज़ब हो गया। मुझे इसी समय डाक्टर के यहाँ जाना था। गाँव के नाई की लड़की का कारबंकिल का औपरेशन! सुनो प्यारे, वह जो मुन्नू हलवाई है न, मेरा नाम लेकर कहना कि रुपये मँगवाये हैं; न हो तो ऊपर अपने घर से मँगा ले। खाली हाथ न लौट आना। जाओ, जल्दी करो।"

वीरेन्द्र के मन में आया कि वह कह दे—'आप ही अगर इस घर में पैदा न हुए होते, तो मेरी ही तरह आप भी कौड़ी के तीन बिकते। ख़ैर मनाइये उस पूँजीवादी परम्परा की, जो अब अपनी अन्तिम साँसे गिन रही हैं! गद्दी पर बैठे हैं न, इसलिए जो मन में आता है, बकते चले जा रहे हैं!'

फिर वीरेन्द्र सोचने लगा—'मगर पचास रुपये यह अगर दे देता है तो यह प्रवचन सुन लेना और इसे पी जाना भी ज़्यादा मँहगा न पड़ेगा !"

कहीं अन्यत्र होता, तो वीरेन्द्र अपने इस खयाल पर ही ठठ्ठा मारकर हँस देता ।

प्यारे रुपया लेकर आ गया, तब दस-दस के पाँच नोट उसने झट वीरेन्द्र के हाथ पर रख दिये और कह दिया—"लो और सुनो, हम एक बजे खाना खाते हैं । समय निकालकर आ जाना ।"

अब वीरेन्द्र बहुत प्रसन्न था । रुपये मिलते ही उसने पैन्ट के आगे वाले पाकेट में डाल लिये और चप्पल में पैर डालते हुए दोनों हाथ जोड़ नमस्कार करके जब वह चलने लगा तो प्रदीप ने कह दिया—"जाते तो हो, और काम भी मैंने तुम्हारा कर दिया; मगर मैंने जो कुछ कहा, उसका बुरा न मानना और हो सके तो उस पर विचार भी कर लेना !"

वीरेन्द्र के जाते ही प्रदीप फिर ताँगे पर जा बैठा । बोला—"बड़े अस्पताल की ओर चलो, उधर परेड की तरफ़, मगर बहुत सम्हाल के ।"

ताँगा चला जा रहा था और प्रदीप सोच रहा था—'पचास रुपये तो इनकी नज़र हो गये ! अब हास्पिटल में जो नुस्ख़ा बनेगा, सो अलग । क्या करूँ, क्या न करूँ, कुछ समझ में नहीं आता ! मगर अब मैं किसी काम लायक रह कहाँ गया हूँ । मुझे तो जनता के हृदय में अपने लिए घर बनाना है । मुझे भला आदमी बनना है, इतना भला आदमी कि एक बार तो अरुणा का मस्तक श्रद्धा से झुक ही जाय ! मानता हूँ, यह मेरी कमज़ोरी है । मगर बुद्धिमान मैं उसी को समझता हूँ जो अपनी दुर्बल-ताओं से भी लाभ उठाना जानता है ।' और इसके बाद वह फिर एक महासमुद्र में डूब गया । उसे ऐसा जान पड़ा कि अरुणा अब मेरे जीवन में कमी न आयेगी । वह मुझको कभी देवता की मान्यता न देगी,

मुझसे मिलने को उसका मन कभी आतुर न होगा !

प्रदीप का कार्य-क्षेत्र कुछ इस प्रकार का था कि कहीं-न-कहीं उसे अरुणा मिल ही जाती थी। एक दिन नहीं मिलती थी, तो दूसरे दिन मिल जाती थी। एक बार वह उसको देख अवश्य लेता था। एकाधबार उसको जली-कटी या तो स्वयं सुना देता था या फिर उसी से सुन लिया करता था !

इस तरह प्रदीप अपने अन्दर एक चेतना का अनुभव करता रहता था। बार-बार यह वह सोचने लगता था कि आज तक मैंने ऐसा कोई काम नहीं किया, जिसमें मुझे सफलता न मिली हो ! मेरी प्रत्येक इच्छा पूरी होनी ही चाहिये। उसकी इस भावना का परिणाम यह हुआ कि वह प्रत्येक सुन्दर लड़की को इस दृष्टि से देखने लगता कि यह अरुणा से किस बात में हीन है। मानों अरुणा उसके पास एक कसौटी थी, जिसमें वह प्रत्येक नवयुवती के रूप को घिसकर देख लेता था कि उसकी लकीर में कितनी स्वर्णिम आभा और झलक है। पर आज ताँगे पर जाते-जाते उसने अपने मन में यह निश्चय कर लिया कि अब मैं अरुणा के फेर में नहीं पड़ूँगा। मेरे कार्यों का प्रताप ही एक दिन उसे मेरे पास खींच ले आयेगा।

: ६ :

वैभव, ऐश्वर्य और रूप-सौंदर्य का प्रभाव, कहते हैं, आज की सभ्यता की नयी देन नहीं है। वह प्रकृत है और नित्य है। किन्तु वैभव चाहे वह धन-सम्पदा का हो, चाहे रूप-सौंदर्य और संस्कृति का, प्रभाव तो डालता ही है।

लेकिन यहाँ प्रश्न यह उठता है कि कैसा प्रभाव ?—ऐसा प्रभाव कि हम न्यायत: उसके अधिकारी बनें, अपने पुरुषार्थ से उसको हस्तगत करें, हो सके तो सौभाग्येन कर्मफल के रूप में पा जायँ, या ऐसा कि इन सब के अभाव में अपने सहयोगियों,सहकर्मियों अथवा सहगामियों को छल और प्रपंच से पराजित कर, षडयन्त्र से अपदस्थकर, हिंसक वृत्तियों से ध्वस्त कर, द्वेषाग्नि से जल-जलकर, उन्हें भस्मसात कर डालें और तब अपने को सफल और विजयी मान कर सुख की साँस ले !

प्रदीप प्राय: यही सोचा करता था। सोचता तो वीरेन्द्र भी यही था, किन्तु उसके सोचने के ढंग में अन्तर था।

यहाँ यह बतला देना भी आवश्यक हो गया है कि वीरेन्द्र स्वतः बहुत अधिक अपराधी नहीं था। मूलरूप से अपराधी उसके पिता थे। वे नहर-विभाग में एक आफ़िसर थे और कार्य की घड़ियों के अतिरिक्त हरदम शराब के नशे में धुत् रहा करते थे। समय पर उनको अच्छे से अच्छा भोजन मिल जाना चाहिये, बाहर जाते समय स्वच्छ और बिना कहीं से मसके या फटे हुए कपड़े, बस।

दाग़ उनको बरदाश्त न था। आने-जाने के लिए सवारी आवश्यक थी क्योंकि पैदल चलना वे अपनी शान के ख़िलाफ़ समझते थे। सवारी में बैठे हुए आदाबअर्ज अथवा नमस्ते के उत्तर में सिर को ज़रा-सा झुका देना-मात्र यथेष्ट होता। अपनी तबीयत से वे बहुत कम लोगों से बोलते थे। भाँड़, नट, पुन्श्चल, संन्यासी और वैश्या जैसे असाधारण सामाजिक व्यक्ति उनमें प्रमुख रहते ! घर में रहते, तो बाहरी लोगों से मिलना-जुलना दुष्कर होता। क्योंकि गर्मियों में केवल एक लुंगी बदन पर होती और सर्दियों में नीचे एक रेशमी और उसके ऊपर ऊलन बनियान, बस। घर पर मिलनेवालों में भी उन्हीं को आने की स्वतन्त्रता प्राप्त रहती, जो उनके साथ बैठकर मनमाना खा-पी सकते और यदि बाहरी मनोरंजन

का कोई कार्यक्रम तय होता, तो उसमें भी साथ न छोड़ पाते। ऐसे लोगों के चुनाव में भी उन्हें अपनी मर्यादा का बड़ा ध्यान रहता। इसलिए उनके साथवाले सभी लोग पदमर्यादा में केवल उन्नीस-बीस का अन्तर रखते थे।

सुरेन्द्र बाबू के मिज़ाज का हाल यह था कि एक बार कहीं वीरेन्द्र की माँ अपनी इच्छा से ही पिता के यहाँ चली गयी थीं। इसका परिणाम यह हुआ था कि तीन वर्ष बाद वे स्वयं अपनी ही इच्छा से आने को विवश हो गयीं। वे स्वयं न उन्हें लेने गये थे, न उनको कोई पत्र ही उन्होंने लिखा था। उस दिन के बाद वीरेन्द्र की माँ ने यह अच्छी तरह समझाया था कि मेरी स्थिति एक सेविका और दासी की ही है। स्त्री के नाते, पत्नी के नाते, मेरा न कोई अस्तित्व है, न कोई मूल्य और महत्व ! कहते हैं उस समय जब वे आयी थीं, तब सुरेन्द्र बाबू ने सिगरेट का धुआँ उड़ाते हुए केवल मुस्करा दिया था ! तुरन्त न उनको अपने पास बुलाया था, न स्वयं पास जाकर उनसे मिले थे !

वीरेन्द्र के केवल एक बहन थी माला, जो उससे बड़ी थी। सुरेन्द्र बाबू ने उसका विवाह नहर के महकमे के एक युवक के साथ कर दिया था, जो उन्हींके अधीन एक ओवरसियर था। जब कभी दौड़े पर होते और किसी कार्य के सम्बन्ध में जामात्र उनसे मिलने आता, तो कभी-कभी पूछ लेते—"माला को ले आये हो ?" दामाद अगर उत्तर देता—"इस बार तो नहीं ले आया।..." तो फिर कुछ न कहते। लेकिन अगर यह मालूम हो जाता कि माला भी आयी है, तो प्रसन्न अवश्य होते थे। पर इन अवसरों पर भी ऐसा कभी नहीं होता था कि सुरेन्द्र बाबू ने ज़बान से यह भी कहा हो कि माला कुछ दिनों यहीं रहेगी ! न तो वे कोई कृत-ज्ञता लेना चाहते थे और न दे ही सकते थे ! उन्हें इस बात का बड़ा ध्यान रहता था कि मेरी इच्छा के कारण दामाद को किसी प्रकार का

कष्ट न मिलना चाहिये ।

इस परिस्थिति का एक पहलू और भी था । वे स्वयं भी अपने सास और ससुर के साथ इसी तरह पेश आते थे । काम-काज में जाने की आवश्यकता पड़ती, तो वे वीरेन्द्र की माँ को साथ ले जाते और साथ ही भी आते । इस विषय में कोई भी प्रार्थना, विनय और कारण कभी कोई बाधा नहीं उपस्थित कर सकता था ।

इन सब निर्बन्ध स्वेच्छाओं, रुचियों और प्रवृत्तियों का स्वाभाविक परिणाम यह था कि वीरेन्द्र न किसी काम का बन सका और न उच्च शिक्षा ही प्राप्त कर सका । उसकी माँ ने यदि कभी नौकर से यह कहला दिया—"बाबू जी आज पन्द्रह तारीख है; वीरेन्द्र को फ़ीस के लिये दस रुपये चाहिये और उसकी परीक्षा की स्टेशनरी आदि के लिये सोलह की और आवश्यकता पड़ेगी । कुल छब्बीस रुपये अभी चाहियें; तो सुरेन्द्र बाबू यही उत्तर देते—"रुपया-उपिया हमारे पास नहीं है !"

नौकर की पहले तो हिम्मत ही न पड़ती कि आगे कुछ कहे, किन्तु यदि वह साहस करके, सुरेन्द्र की माँ के पूर्व आदेश पर, यह कह भी देता कि रुपया दिये बिना काम नहीं चलेगा सरकार, तो भी सुरेन्द्र बाबू यही उत्तर देते—"न चले काम, मैं काम का कोई ठेकेदार हूँ ! उससे कह दो, मेरी कोई ज़िम्मेदारी नहीं है !" कमरे भर में, बल्कि कहना चाहिये बँगले भर में उनका यह स्वर दशों दिशाओं में गूँज उठता और सुरेन्द्र बाबू अपनी कल्पना में डूबे यही सोचते रहते कि सारी दीवारों पर, काले-काले अक्षरों में, यही तो लिखा हुआ है—मेरी कोई जिम्मेदारी नहीं है, मेरी किसी तरह की, किसी मामले में, कोई ज़िम्मेदारी नहीं है ! यह सोच-सोचकर वे मन-ही-मन खुश होते और इधर-से-उधर कमरे भर में टहलते, सिगरेट पर सिगरेट फूँकते और कभी-कभी हो-हो कर हँस भी पड़ते । और इतने भर भी अगर तृप्ति न होती, तो एक-दो पेग और

चढ़ा जाते और दस-पाँच मिनट में ही वहीं के वहीं लुढ़क जाते! जब तक उन्हें चेत रहता, तब तक हल्के स्वर में उम्मरखय्याम या जिगर के गल में हाथ डालकर कभी खाँसते, कभी हँसते, कभी गाते और कभी वमन करते।

सुरेन्द्र बाबू के इस स्वरूप का केवल एक कारण था। वह यह कि वे स्वयं किसी के आश्रय और अवलम्ब के मोहताज नहीं रहे। उन्होंने होटल के जूठे बरतन मलकर, वाशिंग-कम्पनियों के कपड़ों पर लोहा करके, आरा-मैशीन के कारखानों में लकड़ी पर खराद का काम करके अपना निर्वाह ही नहीं किया, शिक्षा भी प्राप्त की! अतएव निरन्तर उनके भीतर केवल यही एक भावना काम करती रहती थी कि जिस संसार ने मेरे साथ किसी तरह की कोई रू-रियायत नहीं की, उसके साथ मैं भी कोई रू-रियायत नहीं करूँगा!

कलेक्टरगंज-क्लाकटावर के आगे ही दक्षिण की ओर रेलबाज़ार को एक सड़क गयी है, जिसके प्रारम्भ ही में, दाहिनी ओर कई होटेल और रेस्तोराँ चल रहे हैं। वे रात को केवल तीन-चार घण्टे के लिए बन्द होते हैं, एक से चार-पाँच बजे तक। उनके यहाँ निम्न और मध्यवर्ग के कर्मचारी और मज़दूर, व्यापारिक क्षेत्रों के एजेण्टस्, कन्वेसर्स और गुमाश्ते, मुनीम—स्थानीय और परदेसी—प्रायः भोजन करनें या चाय पीने आया करते हैं। प्रदीप से रुपये लेकर वीरेन्द्र ने जो सबसे पहला काम किया, वह यह था कि वह सीधा यहीं आकर जमकर बैठ गया। क्षणभर में ब्वाय जो उसके पास आया, तो उसने पूछा—"तुम्हारे यहाँ मुर्ग़मुसल्लम बनता है?"

ब्वाय ने उत्तर दिया—"चढ़ा दिया है। दस-पन्द्रह मिनट में तैयार हुआ जाता है। तब तक के लिए मैं आपको सींक का कबाब ला दूँ?"

ब्वाय का इतना कहना था कि वीरेन्द्र कुर्सी से उठकर खड़ा हो

गया और उसके कान के पास मुँह ले जाकर पूछने लगा—"तुम्हारे यहाँ उस चीज का भी इन्तज़ाम है ?"

ब्वाय थोड़ा मुसकराया और सामने मुँह करके बोला—"किस चीज़ का ?"

वीरेन्द्र ने उसके पास मुँह ले जाकर उत्तर दिया—"ह्विस्की, ब्राण्डी, रोज़ा-रम, जानी-वॉकर, ड्राईजिन—कोई भी ड्रिंक !"

ब्वाय ने कहा—"बाबू, आप मुझे फँसाना चाहते हैं ?"

वीरेन्द्र ने कह दिया—"ग़लत ख़्याल है। फँसानेवाले कोई और होते हैं। हम खाने-पीनेवाले आदमी ठहरे। अगर इस तरह फँसाने लगें, तो किसी-न-किसी क़दम पर ख़ुद भी फँसे बिना न बचें। इसलिए मुझ पर शक मत करो और देखो, मेरा ख़्याल रक्खोगे तो तुमको भी थोड़ा-बहुत फ़ायदा होता रहेगा। मैं एक कप चाय भी पीता हूँ तो दुवन्नी बख़्शीश में ज़रूर देता हूँ !"

ब्वाय ने उत्तर दिया—"नहीं साहब, ऐसा कोई इन्तज़ाम हमारे यहाँ नहीं है।"

वीरेन्द्र उसके इस उत्तर पर वहाँ से उठने ही वाला था कि एक लड़की जो बहुत साफ़ हिन्दुस्तानी बोलती थी, वहाँ आ पहुँची। बदन पर उसके लम्बी कुरती, सलवार और चुन्नी थी, जो मिले-जुले रंगों की हलकी हरी—न बहुत साफ़ थी, न विशेष मैली। पैरों में ऊँची एड़ी के सैंडिल थे, जिनका नयापन मिट चुका था। पलकों में सुरमे की पतली धार थी और होठों पर कृत्रिम लाली, कुछ अधिक गहरी। एक चोटी उसकी पीठ पर लटक रही थी, एक बाएँ ओर कन्धे पर। उसके दाहनें हाथ में एक बीड़ी थी। बिना किसी संकोच के वह वीरेन्द्र के पास आकर बोली—"दियासलाई बाबू ?"

संयोग की बात कि वीरेन्द्र के पास सिगरेट का पैकेट तो नहीं था, लेकिन दियासलाई की डब्बी ज़रूर थी। वीरेन्द्र ने अपने होठों पर

बल देकर पैण्ट के जेब में हाथ डाला और दियासलाई निकालकर उसके हाथ में दे दी। लड़की जब बाड़ी का एक कश ले चुकी, तो वीरेन्द्र ने पूछा—"तुम क्या काम करती हो ?"

लड़की के होंठ खुल गये। वह मुसकराई और उसने उत्तर दिया—"पालिश। लाइये, आपके चप्पलों पर भी कर दूँ !"

वीरेन्द्र ने चप्पल उतार दिये और ब्वाय को बुलाकर कहा—"एक कप चाय देना। और देखो, सिगरेट का एक पैकेट भी।"

ब्वाय ने पूछा—"कौन-सी सिगरेट ?"

'गोल्डफ्लैक !"

ब्वाय ने झट से गोल्डफ्लैक का एक पैकेट दे दिया और क्षणभर बाद एक कप चाय भी उसके सामने रख दी। अभी वह अपना आधा कप ही खाली कर पाया था कि लड़की ने वीरेन्द्र के चप्पलों में पालिश कर दी और जहाँ वह बैठा हुआ था, उसके ठीक नीचे उसके दोनो चप्पल रख दिये।

वीरेन्द्र ने जेब में हाथ डालकर एक इकन्नी उसके सामने रख दी।

लड़की ने ढिठाई से कह दिया—"हमारी पालिश का दाम दो आना होता है बाबू ! एक पैसा भी हम कम नहीं लेते।"

वीरेन्द्र मुसकराया और एक आना जेब से निकालकर उसने और दे दिया। किन्तु इकन्नी निकालते और बढ़ाते क्षण उस लड़की की ओर घूरते हुए उसने पूछा—"तुम चाय तो पीती होगी ?"

प्रसन्नता से लड़की बोली—"खुशी से !" और इस कथन के साथ हँसना छिपाने के लिए उसने अपना मुँह बाईं ओर घुमाकर उस पर झीनी चुन्नी का आवरण डाल लिया।

तब वीरेन्द्र बोला—"ब्वाय, एक कप और !"

दूसरे ही मिनट में ब्वाय ने पुन: चाय का एक कप उसके सामने

रख दिया। लड़की खड़ी होकर कप जो उठाने लगी, तो वीरेन्द्र ने कह दिया—"बैठकर पी लो, इतमीनान से।"

लड़की निस्संकोच सामने बैठ गयी। कुछ मिनट बाद जब वह चाय पी चुकी, तो वीरेन्द्र ने एक रुपया ब्वाय को देते हुए कहा—"लो।"

ब्वाय ने पूछा—"क्यों, अब खाना नहीं खाइयेगा ?"

वीरेन्द्र नें उत्तर दिया—"अभी थोड़ी देर में आता हूँ।"

ब्याय ने जो पैसे प्लेट में रखकर वापस कर दिये, वीरेन्द्र ने उनमें से दुवन्नी ब्वाय को दे दी।

उत्तर में ब्वाय नें एक सलाम बजाया और तब वीरेन्द्र उस रेस्तोराँ से निकलकर सड़क पर आ गया। संयोग की बात, वहाँ एक खाली रिक्शा खड़ा था। वीरेन्द्र तुरन्त उस पर जा बैठा।

इस बीच में उसनें कुछ ऐसा संकेत भी कर दिया कि लड़की रिक्शे के पास जा पहुँची। वीरेन्द्र नें कह दिया —"आओ, इधर बैठ जाओ।"

लड़की एक क्षरण रुकी। उसने एक बार इधर-उधर देखा और फिर वह कुछ सोचकर वीरेन्द्र के बग़ल में जा बैठी।

अब वीरेन्द्र ने रिक्शेवाले से कहा—"चलो।"

रिक्शेवाले ने पूछा—"कहाँ ?"

वीरेन्द्र ने उत्तर दिया—"यह बाद में बतायेंगे। अभी यहाँ से कुछ आगे तो बढ़ो।"

रिक्शा जब चल पड़ा, तो वीरेन्द्र सोच रहा था—'सौभाग्य और संयोग्य सदा अनायास ही नहीं मिला करते। वे कभी-कभी उत्पन्न भी करने पड़ते हैं। तब इस संयोग से क्यों न मैं अपने जीवन का नव-निर्मारण करूँ ?'

: ७ :

प्रदीप ने अपने फूफा के यहाँ एक सिर-दर्द मोल ले लिया । बात यह हुई कि दूसरे दिन जब वह सोकर उठा और अपनी सदरी जो पहनने लगा तो क्या देखता है कि उसकी घड़ी ग़ायब है । पहले तो उसे अपने पर ही शंका हुई—'कहीं रख दी होगी ।' फिर एक दृढ़ स्वर भीतर से निकल पड़ा—'और कहीं नहीं रक्खी थी । बाएँ हाथ में घड़ी वह बाँधता था, अतः बाएँ पाकेट में ही उसने छोड़ दी थी । और केवल कल ही नहीं, यह अभ्यास तो उसका महीनों से चल रहा था ।' फिर उसने अपना अटैची देखा, बैग देखा । अब निश्चय हो गया कि घड़ी किसी ने ले ली है । अपने भाइयों से उसने पूछा, बल्कि हँसते-हँसते कहा—"घण्टे-दो-घण्टे के मनोरञ्जन के लिए ही अगर यह नुस्ख़ा पेश किया जा रहा हो, तो मुझे कोई आपत्ति न होगी, लेकिन अगर जान-बूझकर किसी ने मेरे साथ यह उपकार किया है, तो मुझे दुःख होगा । क्योंकि अपने सम्बन्ध में किये गये उपकारों को मैं बहुत समझ बूझकर स्वीकार करना चाहता हूँ ।"

बड़े भैया थे तो बहुत विनोदी स्वभाव के, लेकिन सचाई के बड़े भक्त थे । शील और सौजन्य उनके संस्कार बन गये थे । नाटे क़द के और कुछ स्थूलकाय भी थे । मुस्कराते हुए बोले—"तुम्हारे साथ तो कोई मज़ाक करता नहीं है । मान और आदर ही तुम्हें सब कोई देता है; आख़िर हुआ क्या ?"

प्रदीप ने गले के नीचेवाला पहला बटन छोड़कर दूसरा बन्द करते हुए उत्तर दिया—"भैया घड़ी हमारी किसी ने टीप दी है । मेरी बम्बई की ख़रीदी हुई थी और मिनिट-टू-मिनिट पञ्चुएल थी ।"

अब उन्होंने गम्भीर होकर उत्तर दिया—"बड़ी बेजा बात है । मुझे मालूम भर हो जाय, तो मैं उनका नशा उतार दूँ । हमारे यहाँ आज

तक ऐसा कभी नहीं हुआ।···तुम चिन्ता मत करो प्रदीप; मैं घड़ी का पता लगाऊँगा।"

फिर भैया चले गये और प्रदीप भी अन्य लोगों से बातचीत करने लगा।

कालूराम ने आकर कहा—"द-द-द-द दादा, ठ-ठ-ठ-ठ ठंडाई तैयार है। ल्ले आऊँ ?"

तुलसीराम बोले—दादा, ढाई-वंढाई नहीं लेते। वे हमारे सम्प्रदाय के हैं। चाय—और अगर समोसे बन गये हों, तो वो भी—ले आओ।"

प्रदीप कहते-कहते रह गया कि मैं दूध की लस्सी लेता हूँ। वह उस क्षण यही सोच रहा था कि उस चोर को मुझसे क्या शत्रुता थी ? क्या मैंने उसका कहीं अपमान किया था ? मनुष्य का प्रत्येक व्यवहार कोई-न-कोई अभिप्राय रखकर होता है। कल शाम को छत पर लेटे-लेटे मेरे मुँह से निकल गया था कि देश ने चाहे जैसी उन्नति की हो, किन्तु नैतिक पतन तो निश्चय-पूर्वक उसमें बहुत बढ़ गया है। ग़बन और डाकेज़नी के अपराधियों का पता लगाकर देखा जाय, तो ऐसे लोगों की संख्या ही अधिक मिलेगी, जो भ्रमवश यह समझ बैठे हैं कि मेरे चाचा-ताऊ, बहनोई, मौसा, फूफा या साले के दामाद जब इतने बड़े पद पर हैं, यहाँ तक कि वे संसद अथवा राज्य-सभा के सदस्य हैं तब कौन मेरा बाल बाँका कर सकता है ?और ऐसा होता भी है। जब इन अपराधों के मूलाधारों का उद्घाटन होता है, तब राजकीय सत्ताधारी सूत्रों का दबाव स्पष्ट झलक उठता है। बातें दबाई जाती हैं और छिपाई जाती हैं। जान पड़ता है उसी व्यक्ति ने मेरे ऊपर हाथ साफ़ किया है, जिसको मेरी यह बात बुरी लगी है। उसने निश्चय ही मुझे चुनौती दी है; उसने प्रकारान्तर से मुझसे कहा है—"लीजिये, पता लगाइये, चुनौती है। देखें, आप उसका क्या बिगाड़ लेते हैं !"

इतने में कालूराम फिर आ गया। बोला—"तु तु. तु तु तुलसी भैया के···स स समुदाय में आप भले ही हो, किन्तु मेरे कहने से आप एक ग ग ग गिलास ठंढाई ज़रूर ले लीजिये। ज···ज···जनेऊ क़सम भैया ठंढाई ब ब ब ब बहुत बढ़िया बनी है। अ अ अ अ आधा सेर बादाम पड़ा है। ज···ज···जब आप पियेंगे, तो कालूराम की मेहनत को याद करेंगे! मैं क क कलकत्ता भी हो आया हूँ और बम्बई भी। ब···ब··· बड़ों-बड़ों को बाँटकर पिलाई है और स···स···सर्टिफिकेट तक लिये हैं! अ अ अ अ आप मेरे कहने से प प पी लीजिये।"

इतने में तुलसीराम आकर कहने लगा—"देखो चाय तो हम लोगों की जैसे बन ही रही है, मगर ठंढाई भी अगर इस वक्त ले ली जाय, तो क्या बुराई है? बात यह है कि ठंढाई वाक़ई बहुत अच्छी बनी है।"

मुस्कराते हुए प्रदीप ने कहा—"भाई ठंढाई तो मैं पसन्द करता हूँ, खुद भी। मगर आप लोगों का विश्वास अब धीरे-धीरे कम होता जाता है। क्योंकि नाम लेंगे आप ठंडाई का और धर्म रहेगा उसमें पत्ती का!"

तुलसीराम ने बात बीच में पकड़ ली। बोला—"ग़लत बात है। हम चायवाले लोग पत्ती-वत्ती से बिलकुल दिलचस्पी नहीं रखते।"

कालूराम से न रहा गया। बोला—"देखो तु···तु···तु···तुलसी, दादा को धोखे में रक्खोगे, तो अच्छा न होगा। अ···अ···अभी थोड़ी देर की बात है, ज···ज···जब चाय आई···त त तब चाय आपने च··· च···चढ़ा ली और···ज···ज···जब गोली आयी···त···त···तब उसको भी आप ग ग गटक गये! दादा को अपने सम्प्रदाय में मिलाते हुए श श श श शर्म नहीं आयी तुम्हें!" और इसके बाद कालूराम प्रदीप के पैर छूते हुए कहने लगा—"दादा, आप हम पर प···प···प···पूरा विश्वास

कीजिये प ··प·· पत्ती की···गो··ओ···ओ···ली···हमने अलग रखली है। मगर ठंढाई बिलकुल हबीब बैंक है—अ अ असली !"

तुलसीराम मुस्कराते हुए बोला—"ई हमार पहिलौठी क है। ठीकै ठीक कहत है।···लै आ, लै आ !"

कालूराम जब चला गया तो प्रदीप बोला—"यह हमारे ज़िले में मादक पदार्थों पर जो रोक लगाई गई है, इससे जनता का मानस-क्षेत्र कुछ सुधरा ज़रूर है, किन्तु इसमें सांस्कृतिक स्वाधीनता पर आघात भी अवश्य लगा है। अगर यहाँ पुलिस का एक जत्था आ जाय और भंग की गोली धारण करते समय एक-एक का पहुँचा पकड़कर हथकड़ी डाल दे, जैसा कि क़ायदे से होना भी चाहिये, तो क़ानून की रक्षा तो हो जायगी, किन्तु सांस्कृतिक परम्परा को थोड़ा आघात भी लगेगा !"

तुलसीराम बोला—"बात कुछ गोलमोल सी कही आपने। वैसे तो भई, मैं खुद बुरी तरह से नशापानी का मरीज़ हूँ। लेकिन यह जो आप इसमें सांस्कृतिक-वांस्कृतिकपन देखते हैं, यह बात मेरी कुछ समझ में नहीं आ रही है।"

प्रदीप दाहने हाथ की एक अँगुली चटकाते हुए बोला—"संस्कृति इतनी व्यापक वस्तु है कि उससे मनुष्य के वर्ग-विशेष के ही नहीं सम्पूर्ण देश के वेष-विन्यास, खानपान, रुचि-वैचित्र्य, साहस-शौर्य यहाँ तक कि त्यौहार-संस्कार और उत्सव-महोत्सवों के मनाने का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमारे यहाँ भाँग का प्रचलन था; लेकिन भँगेड़ी लोगों को हम समाज में आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे। बल्कि घर का कोई लड़का अगर भंग पीने की लत पाल लेता, तो डाँट-डपटकर उससे यह लत छुड़ा भी दी जाती थी। किन्तु होली-दिवाली, विजया-दशमी आदि राष्ट्रीय त्यौहारों और पर्वों को आनन्दपूर्वक मनाने में हम

थोड़ी-बहुत मात्रा में भंग का उपयोग कर लेते थे। पर आज हमारी यह स्वाधीनता भी हरण कर ली गयी।"

"क्या बात कही है बाबू आपने ! वह-वा वह-वा ! मान गया आज से आपको ! क्या बतलाऊँ, मेरे पास कोई घड़ी नहीं है, नहीं तो अभी आपका लेखा-जोखा बराबर कर देता !"

इतने में कालूराम आ गया।

तुलसीराम बोला—"बेटा हौ तो चिड़िया के, मगर काम कभी-कभी तुम्हारे नम्बरी होते हैं ! देखो, यहाँ एक गिलास से काम नहीं चलेगा। प्रदीप अकेले तो ठंढाई पियेंगे नहीं, जब तक मैं यहाँ बैठा हूँ। इसलिए बिना कान-पूंछ हिलाये चुपचाप एक गिलास और ले आओ।"

कालूराम के मुँह से निकल गया—"द-द देखा दादा ! ···अ···अ अब्भी उस बैठक से पिये चले आ रहे हैं, मगर अब यहाँ न···न···नाद-भर ठंढाई इन्हीं को चाहिये !···द···द···दादा ज···ज···ज···जनेऊ क···क···कसम खाकर कहता हूँ च च च···चोरी-चमारी ऐसे ही च···च···चपरकनाती करते हैं !"

कालूराम का इतना कहना था कि तुलसीराम अपने पैर के नीचे क्या देखता है कि एक जूता ही नहीं दिखाई पड़ रहा है !

इतने में कालूराम नौ-दो ग्यारह हो गया।

प्रदीप बोला—"देखो तुलसीराम, इस सिलसिले में अभी एक बात छूटी जाती है। मादक द्रव्यों के प्रसार का मैं समर्थक नहीं हूँ। लेकिन उसके निषेध की जो नीति हमारी सरकार व्यवहार में ला रही है उसमें एकता नहीं है। अच्छा साहब, यह कौन सी तुक है कि गंगा के इस पार पियें तो दिखाई पड़ें जेल के अन्दर और उस पार पिये, तो पिया करें; कोई आप की ओर नज़र उठाकर देखेगा भी नहीं ! इसको व्यवस्था कहेंगे या नवाबी सनक ? लखनऊ को आपने बना लिया

राजधानी, इसलिए वहाँ सब उचित है, चाहे जो पीजिये। और कानपुर तो सौत का लड़का है ! उसको इतनी स्वाधीनता कैसे मिल सकती है ! एक बात मैं आप को और बतलाऊँ कि उद्योगधंधों के क्षेत्र में कानपुर चाहे जितनी उन्नति करता जाय, मगर राजकीय महत्त्व हमारी सरकार कानपुर को कभी नहीं देगी और विश्वविद्यालय वहाँ कभी स्थापित नहीं होगा ! हाँ, एक बात जरूर है कि उद्घाटन और प्रीति-भोज हमारे इन महामान्य कुर्सीधारियों का सतत चलता रहेगा और उसमें मौखिक शिष्टाचार के रूप में उद्योगपतियों की प्रशंसा भी—फ़रमायशी तौर पर—होती रहेगी !"

तुलसीराम बोला—"देखो, थान पर रहो थान पर। इधर-उधर बहको मत ! ऐसा कुछ करो कि गोली तो हमको बिना किसी डर-भय के मिल जाया करे। रह गयी शराब की बात, सो अपनें लोगों के यहाँ यों भी नहीं चलती है, छठे-छमाहे की बात दूसरी है।"

प्रदीप मुस्कराता हुआ बोला—"बात यह है कि जिन लोगों को व्यवस्था करनी पड़ती है उनका कलेजा ही जानता है कि क्या उन पर बीतती है। इसलिए नशापानी के बिना—क्या बताऊँ, साफ़ कहते हुए मुझे ख़ुद शर्म आ रही है—हमारे कई एम० एल० ए० मित्रों का काम ही नहीं चल सकता ! रह गयी बात अधिकारियों की। सो भई तुम जानते ही हो कि धोती के भीतर सब एकसे हैं। दवा के तौर पर हो या 'मूड' ही न आता हो, तो फिर क्या किया जाय ! इसलिए लखनऊ की बात तो जाने ही दीजिये। तुम कहते हो गोली बिना किसी भय के मिल जाया करे। मगर मैं उन स्वप्नद्रष्टाओं में से हूँ, जो यह सोचा करते कि मादक-द्रव्य केवल औषधियों की उपयोगिता के लिए इस धरती पर उत्पन्न होते हैं। कहीं भी और किसी भी नगर के लिए उनकी छूट कर देना व्यवस्था के नाम पर मक्कारी है !—प्रपञ्च है ! वैषम्य का अत्यन्त घृणित रूप !"

तुलसीराम का चेहरा पहले श्रद्धा से खिल गया। फिर भरे हुए आँसुओं और भीगे पलकों से उसने प्रदीप के चरणों पर अपना सिर रख दिया !

प्रदीप ने तुरन्त उसका सिर उठाते हुए कहदिया—"अरे क्या करते हो तुलसीराम ! यह क्या सूझा है तुमको ?"

तुलसीराम ने उत्तर दिया—"दादा, आपको सरस्वती सिद्ध है। आपकी एक-एक बात पेंसलीन के इन्जेक्शन से भी अधिक प्रभाव रखती है। मगर दादा, मुझसे भी एक ग़लती हो गयी है। आशा है, आप जरूर क्षमा कर देंगे !" और तब इतना कहकर जेब में हाथ डालते हुए उसने कहा—"घड़ी मैंन ही चुराई थी। यह लीजिये !"

और इतना कहकर हाथ जोड़ते हुए वह बोला—"मेरी लाज बस आपके हाथ में है। मुझे विश्वास है कि आप किसी से कहेंगे नहीं। और दादा अपनी ओर से मैं आपको यह विश्वास दिला देना चाहता हूँ कि अब यह काम मैं सदा के लिए छोड़ दूँगा।"

प्रदीप इस दृश्य को देखकर स्तब्ध हो उठा। बोला—"तुलसीराम, आजकल तुम काम क्या करते हो ?"

तुलसीराम अबकी बार खुलकर रो पड़ा। बोला—"दादा, तीन साल से बेकार हूँ ! मेरी एक लड़की भी इसी बेकारी में मर चुकी है! अब मुझसे कुछ पूछिये मत, आप सब समझते हैं !"

प्रदीप तुलसीराम की इस बात को सुनकर और भी मर्माहत हो उठा। उसने कह दिया—"तुमने बहुत भूल की तुलसीराम, तुमको बहुत पहले मेरे पास आना चाहिये था। हमारे देश में काम की कमी नहीं है। कमी है ऐसे लोगों की, जो भूले-भटके और बहके हुए लोगों को ठीक मार्ग सुझा सकें !"

इतने में कालूराम ठंढाई लेकर आ पहुँचा। तुलसीराम की ओर

गिलास बढ़ाते हुए बोला—"तु तु तु तुम्हारी आँख में ये अँ अँ अँ अँ आँसू कैसे तुलसी ?"

तुलसीराम उत्तर में मुस्कराते हुए बोला—"आँसू ये दुख के नहीं, पीड़ा के नहीं, आनन्द के, श्रद्धा के हैं !" पर तुलसीराम के इतना कहनें पर तुरन्त उसकी दृष्टि सामने रक्खी घड़ी पर जा पहुँची। और इसका फल यह हुआ कि जब तुलसीराम गट्ट-गट्टकर ठंढाई के मीठे घूँट कंठगत कर रहा था तभी कालूराम चिल्ला उठा—"च च च चोर पकड़ गया ! चोर पकड़ गया !"

कालूराम ने जब यह रहस्य सब पर प्रकट कर दिया, तो प्रदीप फिर विचारों की दुनियाँ में खो गया। वह मन-ही-मन सोचने लगा कि 'अभी क्षण भर पहले तुलसीराम ने मुझसे कहा था—इस बात को अपने तक ही रखना; किन्तु उसके तुरन्त बाद ही कालूराम ने इस रहस्य का उद्घाटन कर दिया ! क्या इसका यह तात्पर्य नहीं कि संसार में होने वाली प्रत्येक घटना पर नियन्त्रण कोई और करता है और परिस्थितियों के जाल में पड़ा हुआ मानव बेचारा कुछ नहीं कर पाता !'

: ८ :

सिविल-लाइन्स का सबसे बड़ा केन्द्रबिन्दु वह स्थान है, जहाँ दो राजपथ एक साथ आपस में मिलते हैं और दो अकेले-अकेले। एक वह जो फूलबाग से आकर नवाबगंज को जाता है, दूसरा मेस्टन रोड, जो सरसैया-घाट पर स्नान-ध्यान करने लगता है। एक परमट को जाता है, दूसरा छोटानन्हा-मुन्ना-सा प्रयागनारायण और कैलाश-मन्दिर के

बीच में प्रवेशकर नारी लोक के शृंगार-प्रसाधन का हाट बन जाता है। इस केन्द्र पर एक ओर बड़ा डाकखाना है; दूसरी ओर कोतवाली का विशाल भवन।

जब इस स्थान से नम्बर दो की बस नवाबगंज की ओर बढ़ने लगी, तब उसमें बैठे हुए प्रदीप की दृष्टि सहसा निकट बैठी अरुणा की ओर जा पड़ी जिसके साथ रंजना भी थी। यद्यपि प्रदीप से उसका कोई परिचय न था। अरुणा कुछ लम्बी थी—तत्वंगी और मृदुहासिनी! उसका बी० ए० का यह अन्तिम वर्ष था। रंजना गेहुएँ वर्ण की थी और उसकी मुखश्री गोल और गम्भीर थी। अरूणा की नाक पर सोने की जो कील थी, उस पर हीरे की तीन कनी एक साथ जुड़ी हुई थीं। उसके कानों में मुकुटाकार टाप्स थे। साड़ी वह बहुत हल्के हरित वर्ण की धारण किये हुए थी। इसी से मिलता-जुलता उसका ब्लाउज़ था, जिस पर पीतवर्ण की बूँदनियाँ मुद्रित थीं। उसके बाएँ हाथ की अनामिका में एक अंगूठी थी, जो नीलम से विजड़ित थी। यह नीलम भी कुछ हल्के नीलवर्ण का था। उसके पैरों में जा जूतियाँ थीं वे भी हरे रंग की थीं, जिन पर सुनहला बार्डर था।

तो अरुणा पर दृष्टि जाते ही प्रदीप बोल उठा—"ओः अरुणा!"

उत्तर में अरुणा थोड़ी मुस्कराई और बोली—"जी, मैं।"

इतने में रंजना ने अरुणा के कान में कह दिया—"मेरा परिचय देने की आवश्यकता नहीं है।"

अरुणा उसके इस उत्तर में मुस्कराती-मुस्कराती रुक गयी।

इसी समय प्रदीप बोल उठा—"आप लोगों का कॉलेज तो अब कुछ दिनों के लिए बन्द हो रहा होगा?"

अरुणा ने उत्तर दिया—"हाँ, दो से अठारह तक!"

प्रदीप बोला—"मैं तो इन दिनों बाहर रहूँगा।"

अरुणा के मुख पर आश्चर्य झलक उठा। उसके हाथ में एक

पेन्सिल थी—रेडिश ! उसे उलटाकर अपनी पुस्तक के आवरण पर निराकार कुछ अंकित करती-सी बोली—"मैं तो कहीं जा न सकूँगी। यद्यपि मेरी बड़ी इच्छा थी कि इस बार कलकत्ते की दुर्गा-पूजा देखती।"

रंजना जो अब तक चुप थी, बोल उठी—"तुम कहीं जा ही कैसे सकती हो ! तुमको यहाँ दमयन्ती का पार्ट जो करना है !"

प्रदीप के मुँह पर पुलक हास झलक उठा। बोला—"दमयन्ती का ?—अच्छा !"

यह 'अच्छा' आश्चर्य का प्रतीक था। तभी यकायक उसके मुँह से निकल गया—"मगर दमयन्ती की मर्मवेदना तुम्हारे अभिनय में साकार हो भी पायेगी ?"

तभी सहास अरुणा ने पूछ दिया—"आपको विस्मय हो रहा है ?"

प्रदीप बोला—"विस्मय का कारण है। जिसके जीवन में उतार-चढ़ाव का कोई अवसर नहीं आया, विरह और दैन्य की वेदना अनुभव करने का दुस्संयोग जिसके जीवन में नहीं उतरा, वह दमयन्ती जैसी सती और पतिप्राणा नारी का उत्पीड़न कैसे व्यक्त करेगा ?"

प्रदीप के इस कथन पर रञ्जना कुछ विचार में पड़ गयी। अरुणा कुछ कहने ही जा रही थी कि रञ्जना के मुँह से निकल गया—"क्यों, क्या आपके विचार में पीड़ा और वेदना की अभिव्यक्ति केवल आन्तरिक अनुभूति से ही सम्भव है ?"

प्रदीप बोल उठा—"निश्चित रूप से।"

इतने में वी० एन० एस० डी० कालेज का विराम-स्थल आ गया। कई सहयात्री उतरे और ऊपर आये। एक पाञ्चाल महिला का बिस्किट का डब्बा अपनी सीट पर ही छूट गया और जब बस चल पड़ी, तो वह

महिला चिल्ला उठी—"खड़ा कीजिये, खड़ा कीजिये, मेरा डब्बा रह गया, मेरा डब्बा···!"

बस यद्यपि दो-चार गज आगे बढ़ गयी थी, किन्तु कन्डक्टर ने विसिल देकर बस खड़ी करा दी।

रञ्जना ने डब्बा उस महिला को देते हुए कहा—"मैंने ही बस खड़ी करवाई है। इसलिए इसके अन्दर की चीज़ कम-से-कम आधी तो मेरी हो ही गयी!"

महिला हँस पड़ी और उसके मुँह से निकल गया—"मगर आधी क्यों, आप बस खड़ी न करवातीं तो पूरा-का-पूरा डब्बा आप ही का होता!"

रञ्जना बोली—"ख़ैर, खाते समय अगर मुझे याद कर लीजिएगा, तो मैं समझूँगी कि अपने काम का मेहनताना···।"

और अरुणा बोली—"और शुकराना भी एक साथ वसूल हो जायगा!"

प्रदीप को कुछ चुहल सूझ पड़ी तो वह बोल उठा—"मगर आपने यह तो बतलाया ही नहीं कि नल का पार्ट कौन करेगा!"

अरुणा हँस पड़ी और बोली—"यह!"

तव प्रदीप ने पूछा—"आपका परिचय?"

अरुणा ने उत्तर दिया—"परिचय देने का अधिकार इसने अपने पास रख लिया है। मगर एक बात बतला देने का अधिकार मुझको प्राप्त है, जो इसको नहीं प्राप्त है। वह यह कि आप भले ही इसको न जानते हो, मगर यह आपको जानती है। पर इन बातों में कहीं मैं अपनी बात कहना भूल न जाऊँ। आपने अभी कहा था—निजी अनुभूति के बिना वेदना का अभिनय नहीं हो सकता। किन्तु आप यहाँ यह भूल रहे हैं कि वेदना हो या आह्लाद, वे ऐसे चिरन्तन मनोभाव हैं जिनका

अनुभव मनुष्य को जन्म के साथ ही होना प्रारम्भ हो जाता है। जैसे आनन्द सब को मिलता है; वैसे ही कष्ट और पीड़ा भी सबको मिलती है।"

प्रदीप कुछ विचार में पड़ गया। उसके मन में आया कि वह कह दे—'मैं अभिनय की बात तो नहीं करता, लेकिन वास्तविक जीवन में यदि कभी दुःख और निराशा का अवसर आये, तो नल को आप सदा दूर और दूरातिदूर ही न पाकर अपनें निकट और अपने अन्दर ही पायेंगी !'

किन्तु उसने उत्तर यह दिया—"हो सकता है कि आप ही का कथन सत्य हो। किन्तु कुछ दु.ख ऐसे भी होते हैं, जिन्हें हम भावुकता से तोता-मैंना समझकर पाल लेते हैं। ऐसे लोग दुःख और वेदना का शब्द-ज्ञान भर रखते हैं ! परसों मेरे सामने एक ऐसे वृद्धजन आ पड़े, जिनके सात बेटे थे, पर अब केवल एक है ! और सब से अधिक कमाऊ और उन्नतिशील, वीर और मनस्वी, उदार और बात का धनी जो था वह अभी महीनाभर पूर्व स्वर्ग सिधार गया ! जब कि उनकी अवस्था अब अस्सी वर्ष की है ! आजकल उनसे चला नहीं जाता। खाँसी तो सदा बनी ही रहती है और आँखों की ज्योति क्षीण हो गयी है ! लेकिन यह दुःख हुआ दैविक। कुछ दुःख ऐसे भी होते हैं, जिन्हें मनुष्य अपने अवांछनीय गर्व और अहंकार से उत्पन्न कर लेता है। जब कभी वह सम्बन्धित लोगों की उपेक्षा करता, उनकी मान-प्रतिष्ठा को ठुकराता है, तो फिर उसकी प्रतिक्रिया भी उसे सहन करनी पड़ती है। जब अभी आप लोगों ने जीवन का वास्तविक रूप ही नहीं देखा, तो आप यह जान ही कैसे सकती हैं कि दुःख और वेदना चीज क्या होती है !"

प्रदीप की बात सुनकर अरुणा गम्भीर हो उठी। वह कुछ विचार में पड़ गयी। तब रंजना बोल उठी—"अब तो ऐसा जान पड़ता है कि

आप ही सत्य कह रहे हैं। पर क्या इसका अर्थ यह हुआ कि हम इस नाटकोत्सव में भाग ही न लें !"

अब अगला स्टाप बिलकुल नजदीक आ गया था। क्षण भर में बस खड़ी हो गयी और प्रदीप ने उत्तर दिया—"यह मैं कैसे कह सकता हूँ !"

और इन्हीं शब्दों के साथ वह बस से उतर पड़ा।

इस 'स्टाप' पर केवल एक व्यक्ति खड़ा था, जो तत्काल ऊपर आ गया। उसके हाथ में एक फ़ायल थी। बैठते ही वह लालफीता खोलकर उसे देखने लगा।

अब रंजना अरुणा को देख रही थी और अरुणा का यह हाल था कि काटो तो बदन में लोहू नहीं ! बारम्बार उसके मन में आ रहा था—'यह उत्तर मुझे दिया गया है।' तभी एक निःश्वास उसके अन्दर से उभरता-उभरता रह गया।

इतने में पास बैठी एक महिला ने अरुणा से पूछा—"यह कौन साहब थे, जो अभी आपसे बातें कर रहे थे ?" तब अरुणा तो कुछ नहीं बोली; पर रंजना ने उत्तर दिया—"ये यहाँ के एक बहुपठित नागरिक और नवयुवक नेता हैं। राजनीति-विज्ञान में इन्होंने इस वर्ष एम० ए० किया है।

अब अरुणा रंजना को देखने लगी और रंजना अरुणा को।

बस आगे बढ़ गयी और प्रदीप एक मिनट तक चुपचाप उस जाती हुई बस को इकटक देखता रहा, देखता रहा, फिर एक ओर चल दिया।

: ६ :

बड़ेसाहब कह रहे थे—"बाबू, तो फिर रंजना की शादी के बारे में क्या तय हुआ ?"

नाक से चश्मा उतारते हुए लालाजी बोले—"तय क्या हुआ? तय कैसे होता है ? आदमी तय करता है कि मूसर ? राम-राम शिव-शिव पढ़े-लिखे हो, अपनी ज़िम्मेदारी पहचानते हो। तुमको सब तय करना चाहिये। मेरे भरोसे मत रहो राम-राम शिव-शिव ! मैंने घर बता दिया, लड़के को यहाँ बुला दिया। घरवालों ने उसको देख लिया और तुम सब लोगों ने उसे पसन्द भी कर लिया। और तुम्हीं अब मुझसे पूछते हो, क्या तय हुआ ! अरे मैं कहता हूँ, कुछ तय न हुआ होता, तो लड़का मेरे घर आता कैसे ! राम-राम शिव-शिव जाओ, पूजा कर लेने दो, तब मुझसे बात करना।"

पर बड़े साहब चलने लगे, तो लालाजी बोले—"ए बड़े, ठहरो। अच्छी याद आयी ! आज शाम को ज़रा पण्डितजी को बुला लेना। मुहूर्त पूछना है। शुभ मुहूर्त से ही सब काम होना चाहिये राम-राम शिव-शिव। तुम्हारे बाबा कहा करते थे, मैंने उसका ऐसी लड़की से ब्याह किया है, जिसके पाँच लड़के ही लड़के होंगे। और लड़की जो होगी भी, तो सिर्फ़ एक—सो भी आखिर में ! सो मेरा ख्याल ऐसा है कीऽ ये जो रंजनाबीच में पैदा हो गयी, वह मेरा ख्याल है कि गणित करने में थोड़ा कहीं फेर-फार हो गया होगा। वरना ज्योतिष का हिसाब बड़ा सच्चा उतरता है। राम-राम शिव-शिव पाँच हज़ार रुपये पेशगी भेजने पड़ेंगे और दस हज़ार हम ब्याह में खर्च करेंगे। मगर राम-राम शिव-शिव, उसमें भी पाँच हज़ार रंजना के नाम बैंक में जमा कर देंगे। फिर सब काम सुविधा से निपट जायगा ... जाओ, अपना काम देखो राम-राम शिव-शिव !"

गुसलख़ाने में बाल्टी खटक रही थी। शायद दुलारी बर्तन मल रही थी और नल का पानी बाल्टी में गिर रहा था।

इतने में मझले साहब कान खुजलाते हुए आये। बोले—"बाबू जी मेरा पायजामा नहीं मिलता है। कल रात से मैं उसे बराबर ढूंढ़ रहा हूँ।"

लालाजी माला फेरते हुए बोले—"तुम्हारा पायजामा यहाँ कैसे आ गया! पायजामा के भी पैर होते हैं, जो अपने आप यहाँ चला आता है! सब उल्लू के पट्ठे हैं···राम-राम शिव-शिव! जाओ-जाओ, अपनी अम्मा से कहो जाके। वही तुम्हारा पायजामा ख़ोजेगी। जिसके बच्चे बेवकूफ़ पैदा होते हैं, मैं कहता हूँ वह लाख अक़लमन्द हो, पर दुनियाँ विश्वास करेगी राम-राम शिव-शिव!"

दरवाज़े पर बैठा साधु भिक्षुक कह रहा था—"सवा सेर आटा और तीन छटाँक घी का सवाल है और बड़े आदमियों के लिए ज़रा सी बात है। सोना नहीं माँगता, चाँदी नहीं मागता; माँगता हूँ देह धारण करने का धर्म! दे उसका भला, न दे उसका और भी ज्यादा भला! मैं सिर्फ़ एक बार पुकार लगाकर चला आता हूँ; और इस घर से तो मैं कभी विमुख नहीं लौटा!"

आवाज़ लालाजी के कान में आ रही थी और वह सोच रहे थे—राम-राम शिव-शिव इन भिखमंगों के मारे तो नाक में दम है! बहुत छोटा-सा सवाल है। मगर सवाल क्या है हाथी का पैर है! सवा सेर आटा, तीन छटाँक घी! डेढ रुपये का नुस्खा बन गया राम-राम शिव-शिव। ये भिखमंगे भी हमारी ही छाती छरने को हैं!"

साधू भिखारी ने फिर पुकार लगायी—"सेठानी माता, भिक्षुक को कुछ मिल जाय!"

इतने में सँझले कापियाँ और किताबें लेकर पूजा-गृह के दरवाज़े

तक बूट खटकाते हुए आ पहुँचे और बोले—"बाबूजी बाबूजी, चार रुपये दीजिये।"

लालाजी बोले—"राम-राम शिव-शिव ! कैसे चार रुपये ?"

सँभले शर्ट में खुसे रुमाल से मुँह पोछते और फिर उसे पैन्ट के जेब में डालते हुए बोले—"फ़ीस तो आधी ही माफ़ हुई है न बाबू जी और दो रुपये मिलेंगे 'पुअर ब्वायज़ फन्ड' से। इस तरह एक ही रुपया तो बाकी बचा देने को और तीन रुपये फ़ाइन-फी गेम्स-फ़ी, साइंस-रूम-फी और मैगज़ीन फ़ी। इस तरह पूरे चार रुपये हुए।

लालाजी माला के एक गुरिया पर अँगुली टिकाते हुए बोले—"और राम-राम शिव-शिव मास्टर साहब की टिफ़िन-फ़ी इसमें शामिल नहीं है ! स्कूल क्या चलाते हैं, कबूतरख़ाने की फैक्टरी खोल दी है ! ले-ले आओ, धर-धर जाओ राम-राम शिव-शिव ! अगर एक स्कूल मैं भी खोल देता, तो आमदनी और चन्दे का एक अच्छा ख़ासा धंधा निकल आता ! परमार्थ और पुरुषार्थ दोनों की पूर्ति राम-राम शिव-शिव एक साथ हो जाती। जाओ-जाओ, रुपये घर से ले लो। पूजा करने बैठा हूँ; मगर एक सिलसिले से आकर मुझे ही नोच रहे हैं ! जाओ, अब खड़े क्यों हो ? कह तो दिया, माँ से माँग लो। राम-राम शिव-शिव वंश चाहे न चले, मगर बेवकूफ़ सन्तान पैदा न हो !

अभी लालाजी यहीं तक पहुँच पाये थे कि दुलारी आ खड़ी हुई। मग़र जो देखा कि लालाजी माला जप रहे हैं, तो चुपचाप लौट गयी।

दरवाज़े से आवाज़ आ रही थी, मगर अब धीरे-धीरे मन्द पड़ती जाती थी—"सोना नहीं माँगता, चाँदी नहीं माँगता। सवा सेर आटा और तीन छटाँक घी का सवाल करता हूँ। जो दे उसका भला, न दे उसका और भी भला !"

इतने में छोटे ने आकर कहा—"बाबूजी बाबूजी, आज लौकी और चने एक साथ बन रहे हैं। बाबूजी, तरकारी की तरकारी और दाल की दाल ! और बाबूजी बाबूजी, अम्मा कहती हैं—तुम्हारे बाबू जी को यह चीज़ बहुत पसन्द है।"

लालाजी बोले—"राम-राम शिव-शिव देखो छोटे, हम पूजा करने बैठे हैं। सो इस तरह हमारा ध्यान बट जाता है जब राम-राम शिव-शिव तुम सब लोग मुझे तंग करने आ पहुँचते हो ! जाओ, बाहर जाकर खेलो" और मन-ही-मन कहने लगे—'जब बच्चों से घर भरा रहता है, तब मुझे ऐसा जान पड़ता है—और बोल उठे—जाओ-जाओ खेलो जाकर—और फिर सोचने लगे—राम-राम शिव-शिव मेरे आँगन में खेलने आते हैं !···गोविन्द गोविन्द...सब तुम्हारी लीला है ! बड़े आये, मँझले आये, सँझले आये और फिर छोटे भी आ पहुँचे ! ख़ैर कोई बात नहीं। मगर तमाशा तो देखो, बेचारी दुलारी आयी और चुपचाप लौट गयी। इन सब से तो वही ज़्यादा समझदार है राम-राम शिव-शिव।"

इतने में कोचवान आ पहुँचा और दुलारी ठीक उसी समय लौकी के छिलके डलिया से फेंकने ही जा रही थी कि सामने पड़ गया कोचवान, तो बोल उठी—"माफ़ करना कोचवान चाचा।"

कोचवान बोला—"जीती रहो बिटिया कोई बात नहीं। हमने इस घर का बहुत नमक खाया है।"

उधर लालाजी मन-ही-मन कह रहे थे—"राम-राम शिव-शिव जब नमक, तेल और लकड़ी के मारे ही छुट्टी न मिले तो फिर पूजा कैसे पूरी हो !"

इतनें में रंजना अपनें कॉलेज को जाने के लिए तैयार होकर सामने से निकलने लगी। लालाजी बोले—"ए रंजना, तू जा बेटी। गाड़ी

फाटक पर आ गयी होगी। कोचवान से कहना—मेरी पूजा अभी पूरी नहीं हुई। राम-राम शिव-शिव···जब वह तुझे भेजकर लौटेगा अब तभी मैं बाहर निकलूँगा आज···जा।" फिर मन में कहने लगे—'आज मुझे प्रदीप के चाचा से मिलना ही पड़ेगा। मगर अभी कैसे जाऊँगा? शाम को मुहूर्त के लिए पण्डितजी को जो बुलाया है राम-राम शिव-शिव। "लगन मुहूरत जोग बल, तुलसी गनत न काहि; राम भये जेहिं दाहिने, सबै दाहिने ताहि।' गोविन्द गोविन्द···सब तुम्हारी ही लीला है!"

अन्दर से उनकी देवी जी की चिल्लाहट सुनाई पड़ रही थी—"अरे तेरी नानी मरे दुलारी, मैं कितनी देर से पुकार रही हूँ कि हल्दी दे जा, हल्दी दे जा। मिर्च-मसाला सब दे गयी और हल्दी का पता नहीं!"

दुलारी पास आकर बोली—"माँ जी आप ख़फ़ा न हों। जो कुछ कहना हो, भले ही कह लें। मगर चिल्लाएँ नहीं! बाबूजी पूजा कर रहे हैं। सुनेंगे तो उनको कितना बुरा लगेगा! दो घड़ी को राम-राम करने बैठते हैं तो दमभर में सारी पंचायत उनके सिर पर आ जाती है!"

उसी तेज़ी के साथ श्रीमतीजी बोलीं—"मगर पंचायत की बच्ची, मैं पूछती हूँ, हल्दी कहाँ गयी?"

दुलारी ने सख़्त हो रही पैर की झाँझ को झुककर सँभालते हुए उत्तर दिया—"माँ जी, कल मिर्च-मसाले के साथ ही हल्दी भी मैंने छोड़ दी थी। आप देखिये भी तो, हल्दी उसमें मौजूद है।"

लालाजी उधर अपनी धोती की तरफ़ देखते हुए मन-ही-मन कह रहे थे—'राम-राम शिव-शिव हल्दी भी क्या चीज़ है! मुझे अपना बचपन याद आता है, तरुणाई याद आती है, हल्दी के सारे दाग़ याद आते हैं। हल्दी की एक-एक गाँठ जो मकान में मण्डप के साथ धरती के

नीचे रख दी जाती है, अब तक याद है। मगर रामराम शिव शिव अब तो सब सपना नज़र आता है! भगवान करे, वह दिन निकट आये, जब रञ्जना के हाथ हल्दी से एक बार अच्छी तरह से रँग दूँ और हँसी-खुशी के साथ उसका सौभाग्य जगा दूँ। बस, बेड़ा पार हो जाय राम-राम शिव-शिव ! गोविन्द-गोविन्द सब तुम्हारी ही लीला है !"

इतने में बड़े साहब फिर आ पहुँचे और बोले—"मैं तो अब जा रहा हूँ दूकान पर, क्योंकि दस बज गये। आप अब बारह, एक, दो, तीन तक इतमीनान से पूजा करते रहिये। मैं तो अब रात को ही लौटूँगा ! आज हमको कई हुण्डियाँ भुगतान करनी हैं। मगर आपको क्या ! आपके राम-राम शिव-शिव बरक़रार रहें, हमारी चाहे जो दुर्गति होजाय !"

लालाजी बोले—"यह सब तुम क्या बक रहे हो राम-राम शिव-शिव ! आखिर तुम मुझसे चाहते क्या हो ?"

बड़े साहब ने पनडब्बे से दो पान निकालकर मुंह में खोंसते हुए उत्तर दिया—"मैं सोचता हूँ कि आप फिक्स डिपाजिट वाला रुपया अगर करेण्ट-एकाउण्ट में डाल देते, तो मेरी सारी चिन्ता दूर हो जाती।"

अब लालाजी ने अपनी माला का एक गुरिया पीछे खिसकाते हुए उत्तर दिया—"राम राम शिव-शिव जब मैं मर जाऊंगा, वह रुपया अब तभी तुम्हारे हाथ लगेगा बड़े ! मैं तुम्हारी सब चालाकी समझता हूँ। राम-राम शिव-शिव तुम मुझे बेवकूफ़ समझते हो। एँ··· ! सारा रुपया मैं अभी तुम्हारे हवाले कर दूँ और तुम्हारे जो छोटे और चार भाई हैं, उनको तुम्हारी मर्ज़ी पर छोड़ दूँ। और तुम जिसको चाहो, उसके आगे टुकड़े डालकर टरका दो और जिसको चाहो लात मारकर घर से बाहर निकाल दो। राम-राम शिव-शिव ! ऐसा कभी नहीं होगा, ऐसा कभी नहीं होगा !"

तब बड़े साहब कोई उत्तर दिये बिना चल दिये !

: १० :

कुञ्जबिहारी स्थानीय श्रमविभाग में प्रचार कार्य करता था। वह देशी पोशाक में रहता और खादी पहनता था। अपने कार्यालय के उच्च अधिकारियों से मिल-जुलकर काम निकालने में वह बड़ा ही निपुण था। उसका कहना था कि यह युग प्रतिभा और योग्यता की उतनी माँग नहीं रखता, जितनी व्यहार-कुशलता की। इसलिए वह प्राय: ऐसे कार्यों में हाथ टाल देता, जो अत्यन्त दुष्कर होते। किन्तु अपनी वाक्पटुता और मौखिक प्रशंसा के बल पर अपना दुष्कर कार्य भी वह सहज ही सिद्ध कर लेता था।

कुञ्जबिहारी का बदन इकहरा था और स्फूर्ति भी उसमें यथेष्ट थी। उसकी आँखें बड़ी-बड़ी थीं और केश बढ़े हुए। ढीला पायजामा, कुरता और सदरी तो वह पहनता ही था, लेकिन कलफ़दार, नुकीली गांधी-टोपी सिर पर ज़रा तिरछी करके रखता था, जो उसकी सम्पूर्ण रूप-सज्जा में एक अनोखा बाँकपन पैदा कर देती थी। वह आफ़िस से जब वेतन पाता, तो आधा रुपया तो माँ को दे देता और शेष आधा सेविंग-बैंक में डाल देता—चुपचाप! अपने पास नक़द वह टका भी न रखता था; यद्यपि उसका दैनिक जेब-ख़र्च रुपया-डेढ़-रुपया से कम न था।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह रुपया-डेढ़-रुपया दैनिक वह कहाँ से जुटाता था!

यह एक ऐसा रहस्य था, जिसका ज्ञान एक-ही-आध व्यक्ति को, सो भी कभी-कभी, हो पाता था। इस रहस्य में मुख्य हाथ उसके उस चातुर्य का था जिसको वह कभी किसी को बतलाता न था। बढ़िया-से-बढ़िया शैली, ढंग और डिज़ाइन की परख में वह बड़ा प्रवीण था। कभी आवश्यकता पड़े, तो कोई भी मित्र या आत्मीय उससे अच्छी वस्तु मँगा

लेता। उसके ले आये हुए कपड़े अपनी सुन्दरता के कारण सर्वत्र प्रशंसा प्राप्त करते थे। वह अगर मिठाइयाँ खरीदकर लाता, तो खाते समय लोग यह कहे बिना न रहते—"वाह ! क्या बात है ! किस दूकान से मँगवाई हैं ?" दरी, क़ालीन, ऊनी कपड़े, छाता, घड़ी, रेन-कोट आदि कोई भी चीज़, जो वह खरीदता, मार्केट में श्रेष्ठतम होती। और बस, इसी कारण सभी जगह उसको दो-चार रुपये ऐंठ लेने में थोड़ी भी कठिनाई न होती।

मान लीजिये कि वह किसी अधिकारी के घर बैठा है और उसके यहाँ कुछ अतिथि, मित्र या रिश्तेदार आने वाले हैं। ऐसे अवसर पर कुञ्जबिहारी ही वह व्यक्ति होता, जिसको मिठाइयाँ ले आने का काम सहज ही सौंप दिया जाता। रुचि में परिष्कार होने के कारण वह इतनी प्रसिद्धि पा चुका था कि किसी को उस पर यह सन्देह भी न होता कि कुञ्जबिहारी का यह कार्य सेवा का नहीं, व्यवसाय का ही भीतर-ही-भीतर एक रूप रखता है। क़ीमती चीज़ों अथवा सोने-चाँदी के आभूषणों और विशेष अवसरों के अनुकूल वैभव तथा प्रदर्शन की वस्तुओं की ख़रीद मे तो वह दस-पन्द्रह रुपये तक मार देता था ! धीरे-धीरे अपनी इस कला में वह इतना पारंगत और आचार्य बन गया था कि लोग अवसर आने पर बुला-बुलाकार काम सौंप देते और फिर तो रुपये का हिसाब माँगने में भी उन्हें संकोच होता था !

कुञ्जबिहारी का यह कहना था कि काम बढ़िया होना चाहिये, दुनियाँ बस यही देखती, चाहती और माँगती हैं। इस सफलता के बीच में आनेवाली छोटी-छोटी बातों की चिन्ता वह कभी नहीं करती। उद्देश्य हमारा महान होने चाहिये, साधन भले ही कुछ किन्तु-परन्तु संयुक्त हो जायँ !

कुञ्जबिहारी पढ़ा-लिखा कुछ विशेष न था। सच पूछिये तो इण्टर भी वह पास न कर पाया था। लोग तो वार्तालाप में बड़ों-बड़ों के कान

काटते हैं ! पर वह कान तो छूता न था; हाँ, नाक ज़रूर साफ़ कर देता था ! उसको अँगरेज़ी की ऐंसी-ऐंसी लोकोक्तियाँ, ऐंसे-ऐंसे मुहावरे और अर्थगाम्भीर्य-सम्पन्न ऐंसे-ऐंसे लच्छेदार वाक्य कंठाग्र थे कि अवसर आने पर वह उन लोगों को, जिनसे उसके स्वार्थ का सीधा सम्बन्ध होता, आचार्य महापण्डित सिद्ध करने में कभी न चूकता। सीधी सड़क से जाना तो उसकी शान के खिलाफ़ था। इसलिए तंग रास्तों से गुज़रने उसे मज़ा आता। वह साइकल पर सदा उछलकर बैठता। किसी के साथ कार में बैठना होता, तो जान-बूझकर, पीछे की ओर, सो भी एकदम बीच में बैठता; यद्यपि अपने आन्तरिक जीवन में वह कपड़े नित्य अपने हाथ से धोता और लोहा भी अपने हाथ से ही कर लेता। उसके कपड़ों पर जैसे कभी शिकन न दिखाई देती, वैसी ही उसके चेहरे पर भी वह कभी नज़र न आती। उसका कहना था—"सादा जीवन और उच्च विचार' वाला सिद्धान्त बहुत घिसा-पिटा हो चुका। अब तो 'उच्च जीवन और उच्च प्रभाववाला' युग आ गया है। बढ़िया खाना मिले, बढ़िया कपड़े मिलें, रहने को बढ़िया मकान और साफ़-सुथरा शानदार अपना कमरा हो, आँखों में ही नहीं तबीयत में भी रंगनियाँ बसी रहें। जीवन का सबसे बड़ा आदर्श बस यही है कि शान से जियो और शान से मरो। अतीत का चर्चा छोड़ो और भविष्य की चिन्ता मत करो; वर्तमान से नाता जोड़ो और झंझट से हमेशा मुँह मोड़ो। वर्तमान ही सत्य है और सब मिथ्या है। वर्तमान ही स्वर्ग है और सब नरक !"

प्रदीप से ही एक दिन उसने कहा था—"जो लोग सचाई के पीछे हानि उठाते और अपमान सहते हैं, मैं उनको बेवकूफ़ नहीं बेवकूफ का बच्चा समझता हूँ ! अरे मियाँ, सचाई तो एक मजबूरी है। मगर मिथ्या एक हुनर है, एक कला। मानता हूँ कि सचाई हृदय है, लेकिन फिर जनाब मिथ्या भी एक मस्तिष्क है। सचाई तो वह अतीत है, जिसकी मृत्यु हो चुकी है। मिथ्या वह वर्तमान है जो जीवित

है। सचाई पंगु है, अपाहिज; मिथ्या के पर लगे हुए हैं ! वह उड़ना जानती है। सचाई एक पीड़ा है, एक दुःख है, एक रुदन। लेकिन मिथ्या एक श्रृंगार है, एक उल्लास, क्रीड़ा और कलहास है। सत्य का रूप विद्रूप है; उसमें बुढ़ापा और उसका क्रन्दन है। किन्तु मिथ्या एक सौंदर्य है, एक तारुण्य है; एक मुस्कराहट और एक अट्टहास। क्या समझे ?"

यह कुञ्जबिहारी अरुणा का बड़ा भाई था।

अब विजयादशमी की छुट्टियाँ समाप्त हो चुकी थीं। अक्तूबर का महीना अपने अन्तिम सप्ताह की बाँह थाम रहा था और 'डिवीज़न' का आदर्श रखनेवाले छात्र अब अपने अध्ययन में पहले की अपेक्षा कहीं अधिक लीन, निमग्न और गम्भीर हो गये थे।

उस दिन कुञ्जबिहारी खाना खाकर जब अपने कमरे की ओर जाने लगा तो उसकी दृष्टि यकायक अरुणा पर जा पड़ी। बोला—"आज तू कुछ उदास-उदास सी क्यों जान पड़ती है ? पान नहीं खिलायेगी ?"

अरुणा ने पनडब्बा खोलते हुए कहा—"अभी लाती हूँ।"

दो मिनट बाद जब अरुणा पान लेकर उसके पास जा पहुँची तो कुञ्जबिहारी ने पूछा—"तुम्हारा पढ़ना कैसा चल रहा है अरुणा ?"

अरुणा कुछ संकोच में पड़ गयी और किवाड़ पर नाखून से यों ही कुछ लिखने सी लगी; पर क्षणभर बाद संकोच त्यागकर बोली—"पढ़ना तो ठीक चल रहा है दद्द, मगर तुम्हें मालूम ही है कि आजकल 'डिवीज़न' योग्यता से नहीं, प्रयत्न से मिलता है।"

कुञ्जबिहारी बोला—"कहती तो तुम ठीक हो अरुणा।"

अरुणा बोली—"प्रदीप जी तो तुम्हें जानते ही होंगे ?"

कुञ्जबिहारी ने तकिये को दोहरा करके सिरके नीचे रखते हुए कहा—"अच्छी तरह। वह तो मेरा सहपाठी था।"

अरुणा ने कह दिया—"उनके चाचा अलीगढ़-यूनिवर्सिटी में हेड-अफ़ दी इंगलिश डिपार्टमेण्ट हैं ! सुनती हूँ इंगलिश का परचा उन्हीं का होगा। अगर तुम प्रदीप जी को साथ लेजाकर कुछ 'हिन्ट्स' ला सको,... लेकिन यह काम दद्दा है बड़ा कठिन। तुमसे होगा ?"

अब कुञ्जबिहारी उठ बैठा और उसने तत्काल कह दिया—"क्या बात करती हो अरुणा ! बहुत मामूली-सी चीज़ है ! मैं कल ही प्रदीप से मिलूँगा।"

अरुणा ने कहा—"अभी इतनी जल्दी तो नहीं है। लेकिन दिसम्बर की छुट्टियों में अगर यह मसला हल जायगा, तो ठीक रहेगा। वैसे कोई बात न थी। मगर रञ्जना से कुछ ऐसी बात हो गई है कि 'फ़र्स्ट-डिवीज़न' लाना मेरे लिये अनिवार्य सा हो गया है। इसी लिये मैंने सोचा—बात तुम्हारे कान में डाल दूँ।"

"ठीक है, मैं ख्याल रक्खूँगा।" कुञ्जबिहारी बोला।

अरुणा चली गयी।

कुञ्जबिहारी के पलँग के पास जो अलमारी थी, उसमें कपड़े तो नीचे के खानों में थे, किताबें और मासिक-पत्रों की फाइलें ऊपर के खाने में। अब उसने तत्काल उठकर अलमारी खोली और पुस्तकों की ओर जो दृष्टि डाली, तो उसे एक ऐसी पुस्तक मिली जो उसने एक मित्र के यहाँ से उभाड़ दी थी; यद्यपि थी वह एक लायब्रेरी की। उस समय उसने इस पुस्तक को इधर-उधर थोड़ा उलट-पलटकर रख दिया था; किन्तु आज उसके मन में आया कि अब तो उसको पढ़ ही डालना है। यह पुस्तक एक काफ़ी मोटी और जिल्ददार थी और इसका नाम था—'सीक्रेट्सअफ़ सक्सेज़'।

: ११ :

"राम-राम शिव-शिव ! आप भी क्या बात करते हैं कुलदीप बाबू ! मैं तो कभी-कभी यहाँ तक सोचने लगता हूँ कि आप साधारण पुरुष नहीं, बिल्कुल राजा भर्तृहरि हैं। एक-एक बात आप की वेदमंत्र की तरह जान पड़ती है। आप भाष्य नहीं, बिलकुल सूत्र बोलते हैं। अफ़-सोस बस इतना है कि दुनियाँ आपको पहचान न सकी। रात-दिन भगवान की पूजा और दान-धर्म में आपका समय बीतता है। मेरा ख्याल है, दुकान तो आप नाम-मात्र को जाते होंगे; मगर राम-राम शिव-शिव चेहरे का तेज और उपासना का प्रताप भला कहीं छिपाये छिपता है ! राहघाट जो कहीं नौकर-चाकर तक मिल जाता है तो आपके इन चरणों की क़सम खाके कहता हूँ कुलदीप बाबू, इतनी तारीफ़ करता है, इतनी तारीफ़ करता है कि मुझको तो ईर्ष्या हो आती है आपसे। और सच्ची बात कह दूँ, जलन होती है जलन; रोआँ-रोआँ मेरा सुलग उठता है राम-राम शिव-शिव ! पर सब भाग्य से मिलता है और ये भाग्य भी क्या है मजाक है ! जो दे आये हो, उसी का पावना—केवल कर्म का फल राम-राम शिव-शिव।"

इतने में कलुआ तश्तरी में पान, सिगरेट और सुरती लेकर आ पहुँचा। तश्तरी कुलदीप बाबू ने ले ली और लालाजी के सामने कर दी। बोले—"लीजिये, पहले पान तो खाइये। बातें तो ये चलती ही रहेंगी।"

लालाजी ने पान ले लिये। बोले—"गाड़ी तो अब पुरानी पड़ गयी होगी ! मतलब यह है कि दुकान, कचहरी, बाग-बगीचा, गंगा नहाना, बच्चों का स्कूल-कालेज जाना-आना। रात-दिन जुती ही रहती होगी। राम-राम शिव-शिव जिसको मानते हैं, सब तरह से मानते हैं। वहीं तो, कई बार मुझको शक हुआ कि यह गाड़ी तो कुलदीप बाबू की

होनी चाहिये। क्योंकि आपका पुराना शोफ़र ऐसा कभी हो सकता है कि मुझको न पहचाने ! वैसे तबीयत तो अच्छी रहती है ?...क्यों न हो, खर्च तो होता ही है ! दूसरा आदमी हो, तो फ़ीस देने में किचकिच करे। आपका तो फ़ैमिली-डाक्टर है। कितना देते हैं ? सौ या डेढ़ सौ ? लीजिये आप दो सौ बता रहे हैं ! दस घरों से सम्बन्ध हो गया, तो हज़ार रुपये महीने की प्रैक्टिस हो गयी। मगर राम-राम शिव-शिव बहुत खर्चा है आपका ! मगर कोई बात नहीं, इन्हीं हाथों से आपने दस लाख रुपया पैदा किया होगा। कहाँ तक खर्चा होगा ? दो हज़ार भी अगर महीने में खर्च करेंगे, तो साल में चौबीस ही हज़ार तो हुआ, जो आपके लिये बाएँ हाथ का खेल है राम-राम शिव-शिव।"

इतने में कुलदीप बाबू की दृष्टि खिड़की पर जा पड़ी, जहाँ से ढलती हुई धूप की एक पतली धार ऊपर आ रही थी। लालाजी ने हाथ में लिये हुए पानों का बीड़ा इसी समय चुपचाप तश्तरी में रख दिया। अब कुलदीप बाबू उठे। उन्होंने वह खिड़की बन्द कर दी और दूसरी खोल दी। फिर इतमीनान से बैठते हुए वे बोले—"आपको ठंढाई बनवायें।"

लालाजी तपाक से बोल उठे—"राम-राम शिव-शिव ! आप कैसी बात करते हैं ? ठंढाई और भाँग वग़ैरह छोड़े हुए तो एक ज़माना गुज़र गया। अबतो राम-राम शिव-शिव भजन का ही एक शौक़ रह गया है। और आपसे सच्ची बात कह दूँ, नशा कह लीजिये तो और शौक़ कह लीजिये तो, बस एक यही रह गया है। अपनी तो सदा चैन से कटती है कुलदीप बाबू और आपके पुण्य प्रताप से कटी जा रही है। इसीलिए राम-राम शिव-शिव मैंने बाकी सारी चीज़ों से नाता तोड़ दिया है।"

तब कुलदीप बाबू मुसक ये। बोले—"अब एक बात वताओ गोपी बाबू कि आज भूल कैसे पड़े इधर ?"

अब लालाजी मुसकराते हुए बोले—"राम-राम शिव-शिव, आप यह कह क्या रहे हैं ! इसमें भूल पड़ने की क्या बात है ? बहुत दिनों से आप से भेंट नहीं हुई थी। इसलिये मैंने सोचा—आपसे मिलते चलें। मैं ज़रा इधर एक असामी से बात करने आया था कि झट आपका ख़्याल आ गया।...सो तो है ही। हूँ...हूँ...गुसाईंजी मनुष्य-स्वभाव के सच्चे पारखी थे। आचार्य थे, महात्मा। वे हमारे और आपके ही नहीं, सारे संसार के ज्ञाता थे। क्या बात कही है ! "जाकर जेहिपर सत्य सनेहू, तो तेहि मिलै न कछु सन्देहू।"

तब इतने में पूर्व के द्वार से पंख फड़ फड़ाता हुआ एक कबूतरकमरे में आ पहुँचा। लालाजी ने उसका लाभ भी बिना चूके हुए सहज ही उठाते हुए कह दिया—"देखा आपने ? इसको कहते हैं कवि ! आप चर्चा भर कर दीजिये और झट उसका नमूना परख लीजिये। राम-राम शिव-शिवं, आपके चरणों की क़सम खाके कहता हूँ कुलदीप बाबू, यह कबूतर भी गुसाईंजी की बानी को सिद्ध करने के लिए ही यहाँ आ पहुँचा है।"

लालाजी की इस बात का सुनकर कुलदीप बाबू ठट्ठा मारकर हँस पड़े। बोले—"और जो कुछ है, सो तो है ही। मगर आपकी बात में रस बहुत रहता है गोपी बाबू ! जहाँ बैठते हो, वहाँ चारों तरफ़ छाकर रह जाते हो ! यही तबीयत होती है कि तुम बोलते रहो, मैं सुनता रहूँ। मगर मुश्किल यह है कि लालाजी, आप के दर्शन महीनों बाद होते हैं !"

"राम-राम शिव-शिव ! आप तो मुझे लज्जित कर रहे हैं !" कहते-कहते लालाजी इस विचार में पड़ गये कि बस इसी मौके पर मतलब की बात तीर की तरह चला दूँ, या अभी थोड़ी देर और टहलाऊँ !

संयोग से इतने में मुनीमजी आकर बोले—"डिब्रूगढ़ से भैया का कुशलक्षेम का तार आ गया। वे लिखते हैं—"चिन्ता मत कीजिये। मै बहुत अच्छी तरह से हूँ।" और इतना कहकर तार का फ़ार्म लिफ़ाफ़े के साथ उन्होंने कुलदीप बाबू के समक्ष रख दिया।

अब कुलदीप बाबू आँखों पर चश्मा लगाते हुए तार की शब्दावली देखने लगे।

इसी क्षण लालाजी बोल उठे—"कुलदीप बाबू यह तार···?"

तब कुलदीप बाबू ने चश्मा उतारकर केस में रख लिया और उत्तर में कह दिया—"प्रदीप का है। रात-दिन देश, समाज, हितू- स्नेही, वंश, पास-पड़ोस, इधर-उधर की सेवा और उपकार के ही काम में लगा रहता है। न दिन को छुट्टी है, न रात को चैन है। यहाँ रहता है तो महीने में दस दिन भी समय पर खाना नहीं खाता। बाहर क्या गुज़रती होगी, सो भगवान् जाने। दुख तो किसी का देख ही नहीं सकता। चींटी का भी दम तोड़ना उसे सहन नहीं होता! अभी उस दिन गाँव के नाई की लड़की का आपरेशन था कारबंकिल का। नाई के पास डाक्टर का फ़ीस देने के लिए कोई प्रबन्ध नहीं था। मगर मुझसे पूछा भी नहीं और डाक्टर से जाकर कह आया कि इस आपरेशन का बिल चाचा के नाम बनेगा। शाम को जब खाना खाने बैठा, तो दो पराठा खाकर उठ गया। शीला की माँ कहती थीं कि दिनभर में सब मिलाकर चार-छै मरतबे उस ने उस लड़की के आपरेशन का ज़िक्र किया और एक बार तो उसने कह दिया—"इस लड़की का आपरेशन तो सफल हो गया और वह भगवान् चाहेगा, तो बच भी जायेगी; मगर हमारे इस ग़रीब देश में न जाने ऐसे कितने बच्चे और लोग बिना किसी अवलम्ब और सहारे के नित्य दम तोड़ देते हैं! कोई उन पर दया नहीं करता, कोई उनकी बात नहीं सुनता, कोई उन्हें सहारा नहीं देता। और मैं तुम से क्या बताऊँ,

गोपी बाबू···" इतना कहते-कहते उनकी आँखों से टप-टप आँसू टपकने लगे। फिर कुछ स्थिर होकर वे बोले—"आप तो जानते हैं, वह हमारे वंश का दीपक है। उसी के कारण आज हमारा घर इस नगर में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। बीसों आदमी रोज़ हमसे पूछने आते हैं—'भैया कब तक लौटेंगे ?' सब को एक उसी का सहारा है। सब उससे कोई-न-कोई आशा रखते हैं। जब से चला गया है, मेरा तो किसी काम में जी ही नहीं लगता है। देह धारण करने का धर्म है इसलिये खाना तो मजबूरन खाना ही पड़ता है। लेकिन भगवान् जानता है कि जब तक वह नहीं आयेगा, तब तक मैं खाने को नहीं, खाना मुझको खाता रहेगा!"

कुलदीप बाबू तो अपनी बात कहते चले गये, पर गोपी लाला सिसकियाँ भर-भरकर रो उठे। बोले—"राम-राम शिव-शिव यह लड़का नहीं, भगवान् का अंश है, भगवान् का ! परमात्मा की उस पर छाया है। उसके सिर पर एक उसी का हाथ है। आप चिन्ता मत कीजिये, कुलदीप बाबू। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि उसका बाल भी कभी बाँका न होगा···राम-राम शिव-शिव !"

गोपीलाला बात कहते जाते और आँसू गिराते जाते। कभी धोती और कभी क़मीज़ से आँसू पोंछते और फिर एक वाक्य कह देते। वाक्य पूरा न होने पाता, तो फिर आँसू पोंछने लगते।

इस दृश्य को देखकर कुलदीप बाबू बोल उठे—"लालाजी, आप अख़बार तो रोज़ पढ़ते ही होंगे। हम यहाँ बैठे-बैठे यह सुन लेते और पढ़ लेते हैं कि डिब्रूगढ़ ब्रह्मपुत्र नदी के पेट में समा गया है ! पर ऐसे कितने आदमी हैं, जो अपना काम-धाम, माता-पिता, भाई-बहन घर-द्वार छोड़कर उस नरसंहार को देखने और डूबते, बहते और जीवन की अन्तिम साँसें गिनते हुए लोगों के प्राण बचाने के लिये घर से तुरन्त भाग खड़े होते हों ! कई दिन तक उसका प्राण यहाँ छटपटाता

रहा। जब वह कभी बात करता, तो उसके आँसू बोलने लगते, उसकी ओर देखकर मेरा हृदय हिल उठता। एकबार तो वह सोते-सोते उठ बैठा और बोला—"चाचा जी, मुझे जाना ही होगा। अगर मैं यहाँ रहूँगा, तो मेरा प्राण छटपटाता रहेगा ! आप जानते हैं, एक दिन तो सभी को मरना है; एक दिन सभी को उस पार जाना है; लेकिन इस पार यह जो क्रन्दन है, नित्य का हाहाकार है, इसमें कोई योग-दान न करूँ, व्यक्तिगत और सामूहिक, और केवल समाचार पढ़कर रह जाऊँ, केवल मृत्युओं की संख्या ही सोचता रहूँ, आर्थिक अवलम्ब न देकर अपना ही स्वार्थ देखता रहूँ, तो चाचा जी मैं आपकी सन्तान होने का गौरव कैसे प्राप्त करूँगा ? जीवन धारण करते हुए भी मर जाऊंगा चाचाजी, मैं मर जाऊंगा।" और इतना कहते-कहते वह बोला—"मैं अभी जाऊंगा !"

"आखिर अपना बच्चा ही है। उतनी रात को वैसे घोर अन्धकार और बरसते पानी में, अकेला कैसे विदा करता ! मैंने उसे ज़िद करके रोक लिया। मेरे कहने से वह मान तो गया; लेकिन जब मैं सबेरे उठा और मैंने कलुवा से पूछा—"प्रदीप नहीं दिखाई पड़ता ?" तो उसने जवाब दिया—"सरकार वह तो चले गये न ?—साढ़े छैः की गाड़ी से। बल्कि यहाँ से तो वह साढ़े पाँच बजे ही चले गये थे !"

सुनकर मैं कुछ घबरा उठा। मैंने पूछा—"शोफर गाड़ी निकालकर पहुँचाने गया था ?"

"तब उसने उत्तर दिया—"नहीं बाबूजी, मैंने जब उनसे कहा—आप ठहर जाइये, मैं डिराइवर को अभी ले आता हूँ; तो सरकार उन्होंने यही जवाब दिया—"नहीं अपने आराम के लिये मैं नौकर के आराम की हत्या नहीं करूंगा ! मुझे जाने दो, देर मत करो।" तब बाबूजी उनका ट्रंक और बिस्तर मैं खुद सर पर लादकर सड़क तक चला गया। वहीं फ़ौरन वह एक रिक्शे पर बैठकर चले गये। मैंने कहा भी कि

मैं साथ चलूँ, तो बोले—"नहीं, अब तुम जाओ।' और देखो, चाचा जी से सब हाल बता देना और मेरी तरफ़ से कह देना—चिन्ता न करें। अच्छा...।" तब सरकार मैं लौट आया।"

इतना कहकर कुलदीप बाबू बोले—"माता-पिता को बच्चों की प्रशंसा कभी करनी न चाहिये, इसलिये मैं कभी कुछ कहता नहीं हूँ। आज तुमने बात छेड़ दी, तो इतना बतलाये बिना मुझसे रहा नहीं गया।"

अब लालाजी तो आँसू पोछ ही रहे थे, कुलदीप बाबू भी आँसू पोछने लगे।

इतने में कालू एक ट्रे में चाय और गरम समोसे लेकर आ पहुँचा।

: १२ :

"तुम्हारे पिता अब नहीं हैं। तीन वर्ष पूर्व ही वे दूसरे जगत में जा पहुँचे! वह जगत जो हमारे अज्ञान का था। जिसमें हमारे पिता, माता, चाचा बुआ-फूफा, दादा-दादी, नाना-नानी आदि थे ज़रूर, मगर अब उन्होंने वेशभूषा ही नहीं बदली थी, अवस्था ही नहीं कम करली थी, वरन् मुखाकृति भी उनकी सर्वथा बदल चुकी थी। हमारे लिये अब उनके मन में शील न था, प्रेम न था; लाड़ और प्यार भी न था। वे अब हमको पहचानते भी न थे। किसी-किसी नें तो दो-दो तीन-तीन बार अपने आपको बदल डाला था। आदमी सब वही थे और नाता भी उनके साथ हमारा अब तक वही था, लेकिन अपनी ओर से वे सम्पूर्ण नाता तोड़ चुके थे। वे दूसरे शहरों में थे, दूसरे देशों में थे, दूसरे

मुहल्लों मे थे, यहाँ तक कि पास-पड़ोस के दूसरे मकानों में भी थे। लेकिन न वे हमको पहचानते थे और न हम उनको। सब कुछ बदल गया था। लेकिन असल में बदला कुछ नहीं था; वे इसी जगत में थे। हम ही बदल गये थे और इसीलिये हम उनको देख न पाते थे। कभी उनका हँसना हमको अच्छा न लगता, उनकी उन्नति से हमको द्वेष होने लगता। कभी उनके रूप पर हम मुग्ध हो उठते! उनके आकर्षण पर हमारा मन नाच-नाच उठता! उनको प्राप्त करने के लिये हम अपनी सम्पत्ति लुटाते, अपना समय नष्ट करके उनकी खुशामद करते, मगर फिर भी वे हमारी ओर देखते भी न थे! जब कि वे हमारे भाई-बहन थे हमारे माता-पिता थे!

"आज हम कितने अन्धे हो गये हैं! हमें इस बात का बोध ही नहीं होता कि जिसको हम प्रेयसी बनाने जा रहे हैं; वेश्या के रूप में, अपने घर के अन्दर या समाज में, रंगमंच या रजतपट पर, जिसका कामुकता-पूर्ण नृत्य देखकर तालियाँ पीट रहे हैं, ललचा रहे हैं, फन्दा फेंकते और डोरे डाल रहे हैं, यह भी हो सकता है कि वह मेरी दादी या माँ रही हो! चाची रही या बुआ···! इस अन्धता की सीमा कहाँ है? हम सब अन्धे हैं और इस पर तुर्रा यह है कि इस अन्धता के लिए हमने एक बहुत बढ़िया शब्द गढ़ डाला है, जिसका नाम है सभ्यता, जिसको हम तहजीब और कल्चर कहते हैं।···हा···हा···हा···हा!"

ए० बी० रोड का जो चौराहा कानपुर कोतवाली के नये भवन की ओर देख-देख कर मन-ही-मन मुसकराया करता है, उस पर एक काषाय वस्त्र धारी बड़बड़ा रहा था, उसको घेरकर लोग खड़े हुए थे। कोई कहता—"फिलासफ़र है।" कोई रिक्शे पर बैठा सिगरेट फूँकता हुआ चला जाता और बार-बार अपने नये पैण्ट की क्रीज़ की तरफ़ देख-देख कर खुश होता और मुक़दमें की फ़ाइल का दूसरा पन्ना ध्यान से देखने

लगता। एक उचटी-सी दृष्टि डालकर अपने बगल में बैठे मुवक्किल से कह देता—"पागल है।" कोई चुपचाप खड़ा सोचने लगता—"कवि है।" कोई खद्दर की वेशभूषा में चुपचाप खड़ा जेब से एक फोटोग्राफ़ निकालकर उसके चेहरे को पढ़ने लगता और सोचता—'यह डाकू रामखेलावन तो नहीं है!—जो बहुत इतमीनान से हम सबको बेवकूफ़ बनाने आ पहुँचा है और हमारी आँखों में धूल झोंक रहा है! इसकी नाक पर यह जो तिल है, यह तो इस फ़ोटोग्राफ़ से कुछ मिलता-जुलता है। क्यों न इसको पकड़कर कोतवालीमें बन्द कर दूँ! मगर फिर उसकी बातों पर ध्यान देकर एक भय से आतंकित हो उठता। अगर यह सचमुच कोई पहुँचा हुआ साधु हुआ और इसके शाप से मेरी पत्नी को कुछ हो गया, तो!' और तब वह भी भय-कातर होकर धीरे-धीरे आगे बढ़ जाता।

यह व्यक्ति कुछ ढली हुई अवस्था का था। उसके केश श्वेत हो गये थे और उसकी दाढ़ी भा श्वेत हो चली थी। हाथों की नसें उभर आई थीं और मुख पर झुर्रियाँ स्पष्ट जान पड़ती थीं। उसके सिर पर चोटी न थी। उसके पैर में जूता न था। वह बदन पर एक गेरुए रंग की कुछ-कुछ मैली लुंगी, सो भी केवल पौने दो गज़ की, पहने हुए था। उसके नाखून बढ़े हुए थे आर नासिका-रंध्रों के अन्दर उगे हुए केश होठों के ऊपर तक झलक रहे थे! उसके दाहने पैर में कोई घाव था और उस पर एक मैली पट्टी बँधी हुई थी। वह अपने बाएँ ओर की बग़ल के नीचे एक पुस्तक दाबे हुए था और उसके कन्धे पर एक गमछा पड़ा हुआ था। उसकी भृकुटियाँ जुड़ी हुई थीं और उनके रोएँ बढ़े हुए थे। कोई सतर थे, कोई तिरछे। उसके सिर का चँदोवा साफ़ हो गया और केशों के स्थान पर छोटे-छोटे राएँ मात्र रह गये थे।

क्षणभर बाद धीरे-धीरे फिर वह मेस्टनरोड की ओर चल पड़ा। घेरकर खडे हुए लोग भी अब तितर-वितर हो गये।

इन्हीं लोगों में एक युवक था—वीरेन्द्र।

वीरेन्द्र का मन आज बहुत दुःखी और अशान्त था। उसको कुछ ऐसा जान पड़ता था, जैसे उसका पैर आग के ऊपर पड़ गया है और अब उसमें जलन फूट पड़ी है। वह प्रयागनारायण के मन्दिर की ओर मुड़ गया। उसकी जेब में एक रुपया और तीन आने पैसे मात्र रह गये थे। उसे भूख सता रही थी और वह एक मुसलिम होटल में चपाती और मान्स खाने की धुन में था। किन्तु इस 'पागल' का कथन रह-रहकर उसके मानस को कम्पित कर देता। वह सोचने लगता—'इसने जो बातें कहीं, वे क्या सच हैं? उसके कथन में जो विचार थे, वे क्या सत्य है?'

वीरेन्द्र ने अब तक यही समझ रक्खा था कि जब नित्य झूठ बोल-बोलकर ग्राहक से पैसे ठगने का नाम व्यापार है; जब घूस ले-लेकर मुक़दमे का फ़ैसला लिखदेना न्याय है और चाचा या भतीजे की सम्पत्ति हड़प जाने का नाम गार्हस्थ्य धर्म; तब इस संसार में सत्य और धर्म, न्याय और कर्तव्य-निष्ठा केवल एक आडम्बर ही तो है! जब एक साधारण शिक्षक से लेकर आचार्य बननेवाले प्रिंसिपल तक शिक्षा के नाम पर व्यवसाय करते हैं, जब हत्या करनेवाले पिशाचों से हज़ारों रुपये हँसी-खुशी से लेकर गुलछर्रे उड़ानेवाले लोग पहले प्रतिष्ठित वकील और फिर न्यायाधीश बनकर समाज और उसकी व्यवस्था के सूत्रधार नेता और उच्च राज्याधिकारी बन सकते हैं, तब मेरे जैसे व्यक्ति का अपने मित्रों और परिचितों से दस-पाँच रुपये ले लेना पाप है घोर अपराध है! जिसके भरण-पोषण का कोई निश्चित साधन नहीं, रहने के लिये जिसके पास अपना मकान नहीं, कमरा नहीं; भले आदमी की

तरह जीवन विताने का जिसके पास कोई उपाय नहीं !'

इसी क्रम से वीरेन्द्र सोचता है और सोचता चला जाता है—"किन्तु इस पागल का कथन ?"

और वीरेन्द्र का विचार यहीं पर एक मोड़ लेता है। सच्ची बात कहनेवाले खरे आलोचक पागल कभी नहीं हो सकते। जीवन ने जो उनको सिखलाया है, वही तो वे कहते हैं। जो उस शिक्षा पर ध्यान नहीं देते, वे अन्धे हैं। और तभी वीरेन्द्र अपने आपसे पूछ बैठता है—'तो क्या मैं भी उन अन्धों में से हूँ ?'

अब उसकी आत्मा काँप उठी और उसे कुछ ऐसा जान पड़ने लगा, जैसे उसके पैर डगमगा रहे हैं। कल रात को उसने नाव पर गंगापार जाकर शराब पी थी। और वहीं पर एक दूकान में बैठकर उसने दालदा से बने पराँठे और अरवी का साग खाया था। नशे में झूम-झूमकर मस्ती के साथ वह खाता ही चला गया था। बीच में उसने सिगरेट ली थी और ठर्रे का कुल्हड़ तो उसने तब समाप्त किया था, जब उसका पेट बुरी तरह तन गया था। फिर वहीं जब रात के दस बज रहे थे, उसने एक तख्त पर लेटे-लेटे करवट बदलते हुए वमन किया था, जिस पर उसने एक घाटवाले पण्डे और दो-तीन मल्लाहों की गालियाँ और लात खायी थी ! और तब वहाँ से भागकर उसी झोपड़ी में जाकर उसने शरण ली थी, जहाँ उसे शराब मिली थी !

अब सारी बातें क्रम-क्रम से वीरेन्द्र को स्मरण आ रही थीं। इतने में चेतना की लहर फिर उससे मानस में दौड़ गयी। वह कह रहा था—'जिसके नृत्य पर मुग्ध हो-होकर हम करतल-ध्वनि करते रहते हैं, जिसके उभरे हुए मान्सल अंगों को आँखें फाड़-फाड़कर देखते और ललचाई दृष्टि से उन्हें प्राप्त करने को लालायित हो उठते हैं, वह हमारी माँ और दादी भी तो हो सकती है !'

वीरेन्द्र को कुछ ऐसा जान पड़ा, जैसे उसे साँप ने डस लिया है और विष का पूरा प्रभाव उसकी नस-नस में घुल गया है। अब केवल इतना ही और बाक़ी रह गया है कि वह यहीं गिर पड़े और दम तोड़ दे !

उसको ऐसा जान पड़ने लगा जैसे वह लड़की, जिसको प्राप्त करके उसने अपने को कृतार्थ करना चाहा था, वह···वह···! और इसके बाद वीरेन्द्र सचमुच लड़खड़ाकर गिरनेवाला ही था कि दूकान के सामने बाल्टी में पानी लेने को जाते हुए एक छोकरे ने यह कहकर झट उसका कन्धा पकड़ लिया—"होश में !" और फिर तेज़ी के साथ वह बोला—"बदमाश ! गुण्डा ! दिखाई नहीं पड़ता ? अन्धा है ?"

वीरेन्द्र को ऐसा मालूम हुआ कि यह छोकरा भी उसका दादा या ताऊ हो सकता है ! तब वह आँखें फाड़-फाड़कर उसको देखता-देखता कुछ हाँफता, रुद्ध कण्ठ और शिथिल मन से बोल उठा—" दादा, कुछ ऐसी ही बात है ! आँखें तो हैं, पर वे आगे पीछे की दुनियाँ को देख रही हैं। अन्धा नहीं हूँ !"

और तब वीरेन्द्र सम्हल-सम्हलकर कुछ और आगे बढ़ गया।

यह एक और तीव्र झटका था। अब सामने वही होटल था, जहाँ वह कभी-कभी खाना खाया करता था। सहसा उसकी दृष्टि एक मुर्गी पर जा पड़ी, जिसके गले पर छुरी चल रही थी ! रक्त नीचे टप-टप टपक रहा था ! एक झोंका और लगा—'यह मुर्गी भी तो मेरी दादी हो सकती है !' जब यह सारा जगत एकमात्र कर्मफल पर ही खड़ा हो, जब कोई भी प्राणी अगर पशु-पक्षी या जल-जन्तु से बढ़कर—ऊँचा उठकर—फिर मनुष्य का जन्म प्राप्त कर सकता हो, तो पतन के मार्ग से गुज़रते-गुज़रते क्या कोई मनुष्य मुर्गी नहीं बन सकता ! तो हम मान्स के जिन टुकड़ों को खा-खाकर आनन्दित होते और पुलकित हो-होकर नाच उठते

हैं, वे टुकड़े और लोथड़े, अस्थियाँ हमारे दादा-दादी की भी तो हो सकती हैं !

अब वीरेन्द्र की पथराई हुई आँखें खुल गयी और वहीं खड़े-खड़े उसी दूकान पर एक मोड़ लेकर उसने थूक दिया !

: १३ :

कुञ्जबिहारी सोचते-सोचते एकदम से उठकर बैठ गया। उसने अपनी नोटबुक निकाल ली और देखा कि आज उसे क्या-क्या कार्य करना है। शेव वह कर ही चुका था और उड़द का हलुवा जो उसकी देवीजी ने आज उसके लिए विशेष रूप से तैयार किया था वह बहुत चाव के साथ खा चुका था। पान उसके मुँह में रस उत्पन्न कर रहा था। अतएव उसने झट से एक क़मीज़, चूड़ीदार पायजामा और अचकन अलमारी में से निकाल ली। अलमारी का एक कपाट बन्दकर उसके लम्बे और कुछ कम चौड़े दर्पण के सामने खड़ा रहकर वह जब कपड़े पहन रहा था, तब बार-बार यही सोचने लगता था कि आज तक तो मैंने ऐसा कोई काम हाथ में लिया नहीं जिसको सफलता की अन्तिम सीमा तक न पहुँचाया हो। यह मेरा रेकार्ड है। इसमें मुझे सदा अपने ऊपर, अपनी शक्ति के ऊपर, अपनीगति और उन्नति के ऊपर विश्वास मिला है, दृढ़ता और स्वावलम्बन मिला है। आजभी मुझे अपने उद्देश्य को सिद्ध करना है और मैं उसे सिद्ध करके ही मानूँगा।

अचकन पहन लेने के बाद जब कुञ्जबिहारी ने अपना जूता पहन लिया तो सिर पर गांधीटोपी तिरछी धारण करते हुए वह एक बार कुछ ठिठका और झट से उसने उस टोपी की नोक को सीधा और कुछ ऊँचा

कर लिया। उस समय वह यही सोचने लगा कि मेरी गति के मार्ग सदा एक से नहीं रहते। मेरे सिद्धान्त सदा कुछ शब्दों में बन्द रहकर पोषण और रक्षण नहीं प्राप्त करते। मैं अपनी निश्चित रीतियों और नीतियों के हाथ बिका हुआ नहीं हूँ। जीवन के हर नये क़दम और हर नये मोड़पर मेरे विचार भी नया-नया रूप धारण करते चलते हैं मैं तरुण हूँ, मैं मनुज हूँ। मैं सतत समर्थ सशक्त नवीन हूँ।

इन्हीं विचारों के साथ कुञ्जबिहारी ने साइकिल उठाई और चौराहे पर आकर एक प्रसिद्ध दूकान के नीचे खड़ा होकर वह पान लेने लगा।

पानवाले ने पूछा—"क़िवाम तो न लीजियेगा ?"

तब उसके होंठ कुछ खिल उठे; उसके दो बड़े-बड़े दाँत झलक पड़े और वह बोल उठा—"ज़रूर।" पान खाकर उसने इकन्नी फेंकी और अपनी प्रकृति के अनुसार वह उछलकर साइकिल पर जा बैठा।

मार्ग जनरव और कोलाहल से ओतप्रोत था। इधर-उधर सामने और पीछे गाड़ियाँ, ट्रक, ताँगे और रिक्शे आ-जा रहे थे। एक वान के ऊपर बिजली-कम्पनी की लम्बी सीढ़ी लदी हुई थी। उस पर कई कर्मचारी बैठे हुए सड़कपर चलनेवालों की ओर कुछ दया की-सी दृष्टि से देख रहे थे ! बीड़ी के विज्ञापनवाली गाड़ी रेकार्ड बजाती चली जा रही थी। मानो बीड़ी पीना आज के युग में मस्त रहने की पहली निशानी है। मिल में काम करो तो बीड़ी जरूर पियो। आफ़िस के बाबू बनो तो फ़ायलों के ढेरवाले कमरे और फर्श पर बिछी नारियल की मैटिंग पर बीड़ी की चिनगारियाँ ज़रूर फेंको! काटन-मिल में काम करो तो मिल मालिकों को बीमा-कम्पनियों से लाभ पहुँचाने की चेष्टा में थोड़ा-बहुत हाथ ज़रूर बटाओ। और इसके लिए जहाँ अवसर पाओ अधजली बीड़ी इतमी-नान के साथ फेंकते जाओ! मानो राष्ट्र के नव-निर्माण में मादकद्रव्यों के

प्रयोग को ऊँचे-से-ऊँचे स्तर पर पहुँचाने की बहुत बड़ी उपयोगिता है !

प्रदीप अभी कल ही डिब्रूगढ़ से लौटा था। नर-संहार, भुखमरी, महामारी आदि मृत्यु की सगी और चचेरी, ममेरी और फुफेरी बहनों के क्रूर, कुटिल और काले कारनामों से उत्पन्न क्रन्दन, चीत्कार, हाहाकार और श्मशान-शांति का साकार और जाग्रत वातावरण उसके मानस-पट पर उड़ने और गिरनेवाली सहस्रों लाखों चिड़ियों के वृन्द के रूप में दृष्टिगत हो रहा था। सेवा-सत्कार, शील और सौजन्य के भीतर अवलम्ब और पोषण पानेवाली नैतिकहीनता और क्षुद्रता-पूर्ण घटनाएँ, दृश्यावलियाँ और उन पर होनेवाली अधिकारियों की लीपापोती की नाना प्रतिक्रियाएँ उसके स्मृति-लोक पर छाई हुई थीं। अपने चाचा से वह मिल चुका था और अपने महीने-डेढ़-महीने के कार्य का एक संक्षिप्त विवरण भी उन्हें सुना चुका था। चाची के पास बैठकर उसने अभी-अभी सोहनहलुवा का एक टुकड़ा, आधी छटाँक दालमोठ और एक प्याला चाय भी ले ली थी। शीला उसके पास बैठी-बैठी कह रही थी—"ऊँ हुँ। इन दो साड़ियों से मेरा काम नहीं चलेगा। बंगाली शैली की इन दो के सिवा मेरे पास और एक भी साड़ी नहीं है। मुझे इसी तरह की तीन साड़ियाँ और चाहिये।" और इसके उत्तर में चाची ने कह दिया था—"इसकी बातों में न आना बेटा। इस को तो 'और-और' कहने की आदत पड़ गयी है। कोई बढ़िया चीज़ घर में आती है तो यह सब-की-सब हड़प जाना चाहती है। यहाँ तक कि यह स्वप्न में जब बड़बड़ाती है, तब भी इसके मुँह से यही निकलता है—"मैं इतना नहीं लूंगी।" इसका बस चले तो यह सोते समय भी खीर, हलुवा, मेवा और मिठाइयाँ खाने से न चूके !"

प्रदीप इन सब बातों को धैर्यपूर्वक सुनता रहा। फिर ज्योंही उसने चाय का अन्तिम घूँट कंठ के नीचे उतारा त्योंही कलुआ ने आकर कहा दिया—"एक बाबूजी बैठक में आपकी याद कर रहे हैं।"

तब प्रदीप शीला से इतना ही कहकर बैठक को चल दिया कि मैं देखूँगा, ठंढी सड़क पर अगर किसी दूकान में इस तरह की साड़ियाँ होंगी तो तुझे ज़रूर ला दूँगा।

उत्तर में शीला कहने लगी—"लेकिन भैया फिर आज ही। हाँ, देखिये कहीं भूल न जाइयेगा। आप बड़े भुलक्कड़ हैं। और मैंने आपके लिये तकिये का गिलाफ जो काढ़ा है उसे तो दिखाया ही नहीं। ज़रा ठहरिये; अभी देखे जाइये।"

अब प्रदीप हँस पड़ा। बोला—"मैं अभी आकर देखता हूँ।"

तब—"मगर पान तो खाते जाइये।" कहते हुए शीला ने तुरन्त दौड़कर पनडब्बे में से चार पान निकालकर प्रदीप को दे दिये। और साथ ही तकिया-गिलाफ़ भी उसके सामने पेश कर दिया। तब हँसकर प्रदीप बोला—"वाह ! बहुत अच्छा है। पर अभी इनाम के योग्य नहीं है।"

इस पर शीला खिलखिलाकर हँस पड़ी। बोली—"इनाम तो हमारा अब ओवरड्यू हो गया।"

बैठक में प्रदीप पहुँचते ही कुञ्जबिहारी जो तख़्त पर बैठा हुआ था उठकर खड़ा हो गया। बोला—"प्रणाम दादा।"

प्रदीप को हँसी आ गयी और दो पान कुञ्जबिहारी को देते हुए उसने उत्तर दिया—"यह 'दादा' मैं तुम्हारा कब से हो गया ? मेरा ख़्याल है कि अवस्था में तुम मुझसे कुछ बड़े ही होगे !"

कुञ्जबिहारी उत्तर में बोला—"भला ऐसा कहीं हो सकता है कि मैं इतना भी भूल जाऊँ कि आप मुझसे तीन महीना, उन्नीस दिन और तीन घंटे बड़े हैं ! फिर आप मुझसे मान-पान, प्रभाव-प्रतिष्ठा और मस्तक

की इस ऊँचाई में कितने बड़े हैं ! एक आफ़िस का छोटा-मोटा साधारण क्लर्क मैं तपस्या और साधना में आपके चरणों की धूल के बराबर भी नहीं हूँ ! बीस जन्म अगर तपस्या करूँ और करूँ शुकदेव मुनि की भाँति; फिर भी आपकी इन जूतियों का तलवा नहीं बन सकता !"

प्रदीप मुसकरा उठा और बोला—"तुम मुझे शर्मिन्दा कर रहे हो कुञ्जबिहारी। मुँह पर अत्यधिक प्रशंसा करना उस पहाड़े के समान है जिसको सोलह दूनी आठ कहते हैं !"

कुञ्जबिहारी प्रदीप के इस उत्तर को सुनकर सहम गया। भीतर-ही-भीतर उसका उत्साह कम्पित हो उठा; किन्तु वह निराश नहीं हुआ और उसने वाणी की ध्वनि बदलकर कुछ मन्द स्वर में उत्तर दिया—"दादा ! मैं आपकी प्रशंसा कर ही क्या सकता हूँ ! जल के देवता वरुण होते हैं, फिर भी आप जानते ही हैं कि श्रद्धा व्यक्त करते समय हम उनको भी कुछ जलाञ्जलियाँ भेंट कर ही देते हैं। सूर्य भगवान् प्रकाश और उजाले के अवतार माने जाते हैं; फिर भी पूजा में हम उनको दीपक दिखाते ही हैं। यह हमारी संस्कृति की एक ऐसी परम्परा है जिसका ध्यान अनुकूल अवसर पर हम को रखना ही पड़ता है।"

प्रदीप कुञ्जबिहारी के इस उत्तर से कुछ संकोच का अनुभव करने लगा। अतएव उसने कह दिया—"कई महीने बाद तुम मिल रहे हो और मैं आज तुममें एक परिवर्तन पा रहा हूँ। मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि तुम्हारे बिचार अब बहुत सुधर गये हैं। उनके भीतर एक मानसिक स्वास्थ्य बोलता है। और कहो, योंही चले आये या कुछ काम भी है ?"

कुञ्जबिहारी ने अब बाणी पर एक लोच और सो भी विनय की उत्पन्न करते हुए उत्तर दिया—"दादा, काम सच पूछिये तो कोई नहीं है। मगर आप डिब्रूगढ़ की यात्रा से लौटे हैं और बहुत थके—और और क्षमा कीजियेगा—कुछ दुबले भी होकर आये हैं। इसलिये मेरी

बड़ी इच्छा है कि कल प्रातःकाल आप मेरे यहाँ भोजन करें। वहाँ नगर के और भी कुछ सम्भ्रांत एवं गण्यमान्य मित्र और नागरिक होंगे। मैंने कार्यक्रम कुछ इस ढंग का रखा है कि प्रारम्भ में आपका एक भाषण हो और इसके बाद प्रीति-भोज।"

घड़ी की ओर देखता हुआ प्रदीप बोल उठा—"मगर मेरी राय तो यह है कि बहुत थोड़े आदमियों को बुलाओ। क्योंकि भाषण सुननेवाले जब अधिक हो जाते हैं तब भोज-दाता की मर्यादा पर आँच आने का भय हो ही जाता है। और मैं यह नहीं चाहता कि तुमको मेरे लिये—इस झंझट में—किसी प्रकार की असुविधा का सामना करना पड़े। भाषण तो कल हमारा यों भी एक कालेज में होगा ही। इसलिये अच्छा तो यही होता कि तुम अपने ख़ास-ख़ास दो-एक मित्रों और साथ में कांग्रेस के मन्त्री और सभापति—बस इन्हीं दो आदमियों को और बुला लेते। क्यों? ठीक है न? और भाषण का प्रोग्राम अब अपने यहाँ मत रखो। कई नेताओं की तरह एक ही बात को शब्द बदलकर बीस जगह गाना मैं अपनी मौलिक सूझ-बूझ के नाम पर कलंक समझता हूँ!"

कुञ्जबिहारी ने पैरों की ओर हाथ बढ़ाते और फिर उसे मत्थे से लगाते हुए कह दिया—"वाह दादा! मान गया मैं आपको। इतनी बौद्धिकता तो—अब मैं आपसे क्या बताऊँ—हमारे शहर के किसी नेता में नहीं है। छोटे मुँह बड़ी बात समझी जायगी। मगर सच्ची है इसलिये कहनी पड़ती है।...हाँ दादा, तो फिर समय कौन-सा ठीक रहेगा?"

प्रदीप ने कुर्सी से उठते हुए उत्तर दिया—"समय मेरे ख़्याल से बारह बजे का ठीक रहेगा। क्यों?"

"हाँ बस ठीक है दादा, बिलकुल ठीक है। अच्छा तो कल फिर मैं आपको लेने...?"

"अरे नहीं कुञ्जू बाबू, ऐसी क्या बात है! मैं स्वयं चला आऊँगा?"

और कुञ्जबिहारी सायकिल निकालकर जब बाहर आया तो सोचने लगा—'नींव तो मैंने बहुत पक्की डाली है। अब देखना है, सफलता कैसी मिलती है; क्योंकि मामला जैसा मैं सरल समझता था, वैसा नहीं है। प्रदीप बाबू उड़ती हुई चिड़िया परखते हैं। जब उन्होंने कह दिया—'यह दादा मैं तुम्हारा कब से हो गया. तब तो मुझे ऐसा मालूम पड़ा, जैसे मेरे नीचे की धरती ही खिसकी जा रही है!'

: १४ :

अरुणा कहते तो कह गयी, पर फिर वह सोचने लगी कि यह अच्छा नहीं हुआ। क्या कहेंगे वे अपने मनमें! लेकिन नित्य सुनती हूँ कि सब का काम वे कर देते हैं। कभी बहाना नहीं बनाते और कभी टालते भी नहीं। एक दिन था, जब जितना कहते थे उसका एक चौथाई भी करना उनके लिए दुष्कर होता था। मिलने का जो समय देते, उसपर घर पर कभी न मिलते। लखनऊ जाना होता तो लोगों को बतलाते यही कि इलाहाबाद जा रहा हूँ। चन्दे की सूची सामने आती तो या तो चाचा पर ही टाल देते, या फिर पचास लिखने की जरूरत होती तो पाँच ही लिखते! लेकिन अब हालत यह है कि पढ़े-लिखे समाज में जिधर देखिये, उन्हीं की चर्चा है। डिब्रूगढ़ से लौटते देर नहीं हुई कि पार्टियों पर पार्टियाँ मिल रहीं हैं!

अरुणा कल से यही सोच रही थी कि आयेंगे तो उनसे बात कैसे करूँगी। दर्पण के सामने पहुँची तो पहले ध्यान नासिका की कील पर जा पहुँचा। खैर यह, तो ठीक है। हीरे की कनी की चमक मुझको भी अच्छी लग रही है। फिर अलमारी खोलकर एक, दो, तीन—पाँच

प्रकार की बॉडिस और पन्द्रह प्रकार के ब्लाउज़ निकाले। फिर उनमें से एक बॉडिस धारण करके तीन ब्लाउज़ पहन-पहनकर अपने को रुचि की कसौटी पर कसकर देखा। कभी गंभीर होगयी, कभी मुसकराने लगी। वर्षा समाप्त हो चुकी है; हरी पृष्ठभूमि का ब्लाउज जँचेगा नहीं। पीली भूमि पर हरे और नारंगी रंग के छीटेवाला वह ठीक रहेगा। पर फिर इसी से मैच करती हुई साड़ी चाहिये। और वैसी ही साड़ी निकालकर उसने ब्लाउज़ के नीचे लगा ली। 'बस, यह ठीक रहेगा। 'फिर बॉडिस जो धारण कर ली थी, वह भी उतारने लगी। परन्तु उसी क्षण उसे ध्यान आ गया कि इसके संधि-स्थल पर बैंजनी रंग का एक रूमाल भी पड़ा रहे तो कैसा ? तब बॉडिस फिर पहन ली। फिर वैसे रूमाल को यथावत् स्थापित करते हुए उसने अनुभव किया कि क्या मुझे कुछ हो गया है ! नहीं तो शृंगार-प्रसाधन की ओर इतने लोभ-मोह की आवश्यकता ? फिर आजकल तो उनकी रुचियाँ भी गांधीवादी हो रही हैं।

विचारों की स्वतन्त्रता ने करवट ली। किसीने कह दिया—'अगर अपनी मौलिकता इतनी सस्ती है कि वह दूसरे की रूचि पर त्याग दी जा सकती है तो वह निष्प्रभ है, जीर्ण-जर्जर !'

तब उसके मन में एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक एक लहर-सी दौड़ गयी। पतंग की डोर जब नीचे की ओर से ज़ोर से खिचती और तनती है तब वायु उसको अपना अंचल पकड़ा देती है। पतंग उड़ानेवाला कुशल खिलाड़ी हुआ तो इसीक्षण वह पतंग के मंझे को ढील दे देता है। परिणाम यह होता है कि पतंग और भी ऊँचे उठ जाती है !

अरुणा ने दृढ़ता के साथ स्थिर कर लिया कि मेरी रुचि, मेरी अपनी रुचि है और उसके साथ मेरे जीवन का, जीवन की हरेक साँस का, साँसों के आवागमन पर अधिकार रखनेवाले क्षणों की शृंखला तक का।

अत्यन्त गहरा और अटूट सम्बन्ध है। इसलिए मेरे रुचियाँ अपनी जगह पर सदा स्थिर रहेंगी। किसी को वे अच्छी लगती हैं या नहीं इसका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होगा।

और यह सोचकर उसने वही बॉडिस और वही ब्लाउज़ निकाल कर अलग रख दिया। वह अभी अलमारी बन्द कर ही रही थी कि फिर एक विचार उसके मन में उत्पन्न हुआ।—'एकाध बूँद सेण्ट अगर इस पर छोड़ लिया जाय, तो बेजा है ?'

विचार जैसे उसके केशों पर कंघा कर रहा हो। उसके मन में आया—'आज के दिन कुछ भी बेजा नहीं है।' तब उसका लोम-लोम लहराने लगा !

तंरग-मार्दव से लिप्त अरुणा अब एक कविता की पुस्तक देखने लगी। पन्ना उसने जो खोला, तो उसमें एक गीत सामने आ गया। उसकी प्रारम्भिक शब्दावली इस प्रकार थी —"सुमन सा मन दो, मैंने तो नहीं कहा।" कविता लम्बी थी। पढ़ चुकी तो उसने अपना एक ट्रंक खोला। जब-जब उसने अपना फोटो खिचवाया था, कहीं भी और किसी भी आयोजन के सिलसिले में, तब-तब उसकी एक कापी भी लेकर उसने अपने पास रख छोड़ी थी। अभी जब वह उन फोटोग्राफ़स को उलटने लगी, तो उसकी चेतना पर फिर एक झटका-सा लगा।—'यह सब विचारधारा जो चल रही है, वह उच्छृङ्खलता, दुर्बलता और प्रतिक्रिया मूलक सस्ती भावुकता है। और तब झट-पट सब कुछ ज्यों का त्यों छोड़, अलमारी के कपाट बन्द कर वह परदे के उस पार पलँग पर जाकर लपेटे हुए बिस्तरे के ऊपर औंधी गिर पड़ी और सिसकियाँ भरने लगी। उसे ऐसा जान पड़ता था कि कोई भीतर से मुझे डाँट रहा है। कुछ तेज़ी के साथ, कुछ भातृत्व और पितृत्व लाड़ के साथ उससे कह रहा है कि आज तुझे यह हो क्या गया है !

अरुणा तब फूट-फूटकर रो पड़ी। बार-बार कोई उससे पूछ रहा था और जैसे नोच रहा था कि एक दिन तूने ही उनकी उपेक्षा की थी और आज तूही उनकी दयादृष्टि की भिखारिन बनी जा रही है !

तब सघन अन्धकार में बिजली की चकाचौंध जैसा एक प्रश्न उसके अन्तःकरण में कौंध उठा।—'अगर उन्होंने तुझे पसन्द न किया तो क्या तू उनको प्यार करना छोड़ देगी ?'

तब विवश अरुणा उठ बैठी और मन-ही-मन कहने लगी—"ऐसा नहीं होगा। मैं शर्तनामे के अनुसार प्रेम को व्यापार समझती हूँ।' अब अरुणा को ध्यान आया कि मैंने तो दद्दा से कहा था कि अगर वे चाहें, तो मुझे 'फ़र्स्ट डिवीज़न' प्राप्त करने में कोई कठिनाई न होगी।—'अच्छा, तो यह सब तैयारी इसी स्वार्थसिद्धि के लिए हो रही है ! छि!' और तब उसे ऐसा जान पड़ा जैसे उसने अपने हीं हाथ से अपना गला काट डाला है ! तो क्या वह सोचती थी कि अब इसके बिना कोई गति नहीं है ? क्योंकि आत्मघात के प्रयत्न से वह समाज में अवाच्छनीय चर्चा का विषय बन जायगी और मर भी न पायेगी ! मृत्यु से बचकर अपकीर्ति की सारी कालिमा उसके मुख पर पुत जायगी और अपनी इन्हीं आँखों से उसे अपनी वह काली रूपरेखा देखनी पड़ेगी !

अरुणा बहुत डर गयी थी। अभी थोड़ी देर पहले वह रो उठी थी। किन्तु अब वह कम्पित हो उठी और उसे ऐसा जान पड़ा कि वह कुछ रुग्ण हो उठी है। उसका चेहरा बहुत उदास है। रूप की आभा, सौन्दर्य की सारी गरिमा और आकर्षण का सारा आवेदन-संवेदन जैसे समाप्त हो गया है !

इतने में कुञ्जबिहारी ने आकर पूछा—"क्या बात है ?"

कुञ्जबिहारी की शब्दावली में कुछ तीव्रता थी और उसकी भृकुटियाँ

तनाव के तल पर थीं। तब अरुणा ने उचटी हुई दृष्टि से कह दिया—"कुछ नहीं दद्दा।"

कुञ्जबिहारी के हाथ में इस समय एक पर्स था। वह अपने नोट्स गिनने लगा। तब अरुणा के मुँह से निकल गया—"बहुत रुपये लिये हो।"

कुञ्जबिहारी ने नोट्स गिनकर पर्स को कमीज़ की जेब में रख लिया और उसके साथ यह भी कह दिया—"आज अगर प्रदीप बाबू के मुँह से खाने के नाना पदार्थों की प्रशंसा न करवा ली, तो मेरा नाम कुञ्जबिहारी नहीं। पर एक बात का ख़याल रखना अरुणा। मैं अभी से बतलाये देता हूँ कि मुँह से एक शब्द भी कहे बिना प्रदीप पर प्रभाव कुछ ऐसा पड़ना चाहिये, जिससे उनको पक्का विश्वास हो जाय कि अरुणा केवल पढ़ी-लिखी लड़की ही नहीं, वरन् आधुनिक समाज के संस्कारों में पली हुई एक बहुत सुसंस्कृत लड़की है।"

तब अरुणा ने अपनी वेणी का एक ढीला 'हेयरक्लिप' सम्हालते हुए उत्तर दिया—"यह सब व्यर्थ की बाते हैं दद्दा! किसी भी बात में बनावट मुझे प्रिय नहीं है। मुझे तो उनको घर पर बुलाकर इस तरह खिलाना-पिलाना भी कुछ बहुत अच्छा नहीं लगा।"

कुञ्जबिहारी बोला—"तुम बेवक़ूफ़ हो अरुणा! तुमको मालूम नहीं है कि आज संसार में नित्य जो असाधारण उत्सव और आयोजन होते रहते हैं और पत्रों में जिनकी प्रशंसा पढ़-पढ़कर हम पुलकित हो उठते हैं, वे सब भी अपने मूल रूप में इसी प्रकार पूर्व आयोजित और निहित स्वार्थों के प्रतीक हुआ करते हैं! प्रदीप के ऊपर तुमको यह प्रभाव स्थापित करना है कि छात्राओं की सम्पूर्ण मण्डली में 'फर्स्टडिवीज़न' पाने की अधिकारिणी मैं हूँ; केवल मैं!"

अब अरुणा के मुख पर स्वाभाविक प्रसन्नता का स्थायी सौंदर्य

खेलने लगा। अनायास उसके मुँह से निकल गया—"हाँ, यह तो तुम ठीक कहते हो दद्दा !" और इस कथन के साथ जब उसका सिर हिलने लगा तो उसके साथ-ही-साथ उच्छृंखल केशों की एक बंकिम लट भी बीच से हिल पड़ी।

मकान के बगल में जो रेडियो लगा हुआ था, उससे एक पुराने सिनेमा-गीत की स्वर-लहरियाँ निःस्सृत होने लगीं—

"डोले हृदय की नैया।

पग धरत, डरत है खेवैया डरत है खेवैया।

डोले हृदय की नैया !"

: १५ :

गोपी लाला जितने व्यवहारकुशल थे, उनकी गृहदेवी कल्याणी उतनी ही अभिमानिनी और तीखी थीं। सीधी बात करने में उनको मजा न आता, इसलिये उनकी बात तो कुछ तिरछी होती ही, उनके मन्तव्य और ढंग भी तिरछे होते थे। और यह बात नहीं थी कि इस व्यवहार में वे किसी का लिहाज़ करती हों। छोटा हो कि बड़ा, उनकी त्योरी और तुर्शी उसे बर्दाश्त करना ही पड़ती थी। खाना खाने के समय अगर लालाजी तुरन्त चौके में न आजाते तो फिर उनको चौके में बिठलाकर थाली परोसकर कोई न देता। इतमीनान से वे पलँग पर पैर पसारे लेटी हुई जवाब देतीं—"सब सामान चौके में रखा है। परसकर खा लो। मुझे नींद आ रही है।"

और लालाजी यदि उत्तर देते—"राम-राम शिव-शिव एक

मिनट की तो बात है। परस दो न चलके ! फिर खूब अच्छी तरह सो लेना।"

तो लालाजी की इस बात को सुनकर वे बरस पड़तीं—"चुपचाप खाना खा लो जाकर ! ऐसे जाड़े-पाले में अब मैं नहीं उठूँगी। हुँः मैं स्त्री हूँ, वक्त पर काम करूँगी। दासी नहीं हूँ कि हमेशा हाथ बाँधे हुकुम के के लिए आँखें और कान लगाये रहूँ। जाओ, अब खड़े क्यों हो यहाँ ?··· और देखो, बत्ती बन्द कर दो।···बैठक में और कोई यारदोस्त नहीं रह गया है और गप्प लड़ा लेते !"

भीतर-ही-भीतर कुढ़ते रहने की उनकी यह प्रकृति अब इतनी आगे बढ़ चुकी थी कि यदि लालाजी इन बातों के उत्तर में कहीं एक शब्द भी कह देते, तो कल्याणी उस घर को परेड का मछलीबाज़ार बना देती; बच्चे जग उठते और बड़ेसाहब आँखें मलते हुए आकर कुछ घबराहट के साथ पूछने लगते—"क्या हुआ अम्मा, क्या हुआ ?" बहू बाहर तो न निकलती, किन्तु नाक के ऊपर तक अवगुण्ठन लटकाये थोड़ा किवाड़ खोलकर दरवाज़े पर ही खड़ी रहती। सास की चिल्लाहट का महत्व उसके लिए सिनेमा के एक दृश्य से बढ़कर न होता। प्रत्येक दिशा में जब बड़ेसाहब कमरे के अन्दर लौटकर आते तो बहू यही कह देती—"इनके मारे तो वक्त पर सोना भी हराम हो गया है। तुम कुछ कहते ही नहीं हो ! नहीं तो, सभी घरों में माता-पिता नीचे के खण्ड में रहते हैं। क्या ये लोग नीचे नहीं रह सकते ? हम लोगों के बीच इन लोगों के रहने की ऐसी क्या ज़रूरत है ? पड़ोस में पन्ना और उनकी बहू भी तो रहती हैं। नीचे बुढ़िया और बुढ़ऊ चाहे जितना गुलगपाड़ा मचायें, लेकिन मजाल है कि ऊपर क़दम मार लें !"

बड़ेसाहब का हुलिया कुछ विचित्र था। श्रीमतीजी की बात तो उनकी समझ में आती थी; मगर इस सम्बन्ध में वे जो प्रवचन झाड़ने

लगती थीं, बस तसवीर का यही रुख उनको पसन्द नहीं था।

इसका एक कारण था। बड़े साहब कुछ यह समझ बैठे थे कि जिसकी पत्नी घर के अन्दर व्याख्यान देने में अधिक कुशल होती है, वह स्वयं स्त्रैण होता है। और व्यवहाररूप में उनको स्त्रैण बनने में वास्तव में कोई आपत्ति न थी; पर एक आशंका-सी उनके मन में उत्पन्न होने लगती कि कोई सुने तो क्या कहे! बस, इसी बात का भय उनको खाये जाता था! इसलिए जब कभी ऐसा अवसर उपस्थित होता; तब बड़े साहब कुछ मुँह बनाकर नाक-भौं एक साथ सिकोड़ लेते और हाथ उठाकर, रोकते हुए बोल उठते—"बस बस, बहुत हो चुका। सुन लिया। जब अपने पिता के घर जाना, तो उनके यहाँ ऐसा ही करना!"

इन सब लोगों के बीच में सबसे अधिक दयनीय स्थिति थी रञ्जना की। माँ का प्यार कैसा होता है, इसका अनुभव करने का अवसर उसे बहुत कम मिलता था। अगर कभी वह बढ़िया साड़ी ले देने का अनुरोध करती, तो कल्याणी बोल उठती—"यह शौक़ अपने ससुरे में जाकर पूरा करना। इतने बड़े परिवार में ख़र्चा ही मुश्किल से चलता है और इसको साड़ियों का चस्का लगा है! ख़बरदार जो कभी साड़ी का नाम लिया। पढ़ना छुड़वा दूँगी, तो तबीयत झक्क हो जायगी! किसी करोड़-पती के घर जाकर मरती। इतनी सयानी हो गयी। सामने आती है, तो मेरी आँखों में ख़ून उतर आता है!"

तब रञ्जना बेचारी चुप रह जाती। वह कुछ बोल न सकती।

जैसे साँप काट लेने पर आदमी को मैर चढ़ आता है, तब उसका बदन एक शक्तिका पुञ्ज बनकर ऊपर को उठता है। वह अनुभव करता है कि मैं डूब रहा हूँ, मैं बराबर डूबता जा रहा हूँ। मुझे ऊपर उठना चाहिये। मुझे तैरकर किनारे लगना चाहिये—मुझे तट पर भाग जाना चाहिये। और तब वह सचमुच भाग जाने की चेष्टा करता है। किन्तु

रंजना हालत तो यह है कि न वह उठकर बोल सकती है, न किसी से कुछ कह सकती है, न भाग सकती है !

कभी-कभी वह अपना दुःख भाभी को सुनाने लगती। वह सोचती कि अन्ततोगत्वा अपनी सगी भाभी ठहरीं, कुछ-न-कुछ सान्त्वना तो इनसे मिलेगी ही। पर अब भाभी के बच्चे होने लगे थे। इसके सिवा उनके व्यक्तिगत शौक़ भी कम न थे।

बड़ेसाहब जब दफ़्तर से लौटकर आते, तब उनका बैग कोई देख न सकता था। वह बैग चुपचाप कमरे में टाँग दिया जाता, जिसको उनकी श्रीमतीजी वहुत लालच और अकल्पित आकर्षण के साथ पहले टटोलतीं फिर हाथ डालकर उसकी सामग्री निकाल लेतीं। उनका फ्रूट्स सलाद और आइसक्रीम खाने का शौक़ था और जब तक घोर जाड़ा न पड़ने लगता, तब तक वे उसका पिण्ड न छोड़तीं जाड़ों में हलुवासोहन उनका खास 'फ़ेवरि' रहता। बड़ेसाहब इस थैले में दो अण्डे भी एक कागज़ में लपेटकर ले आते। पर यह भेद कोई जान नहीं पाता था। क्योंकि जिस तरह बड़ेसाहब अण्डे छिपाकर लाते थे, उसी तरह उसके छिलके भी छिपाकर लेते जाते !

बड़ेसाहब को जब कभी अपनी इन श्रीमतीजी के लिये साड़ियाँ और ब्लाउज़ के कपड़े लाने की आवश्यकता पड़ती, तब लाते वे अपने पैसे से; मगर घर के भीतर प्रवेश करते समय माँ से यह प्रकट किये बिना न मानते कि तुम्हारी समधिन ने अपनी बिटिया को यह सामान भेजा है। माँ अगर कभी कहती भी—"साड़ी तो अच्छी भेजी है।' तो बड़ेसाहब उत्तर देते—"क्या अच्छी भेजी है ! दस रुपये की होगी !!"

एक बार कुछ ऐसा हुआ कि माँ ने कह दिया—"अगर दस रुपये में मिलती है, तो एक मुझको भी ला दो।"

तब बड़ेसाहब ने झट से जबाब दिया—"हाँ, हाँ, कल ही ला दूँगा।"

मगर दूसरे दिन जब माँ ने दस का नोट भी दे दिया, तब शाम को जब वे लौटे, तो सिर खुजलाते हुए बोले—"अम्मा, वो बात यह है कि साड़ी जान पड़ता है यह उनकी कुछ पहले की ख़रीदी होगी। क्योंकि अब तो यह सत्रह में मिलती है !" और इतना कहकर उन्होंने एक-एक रुपये वाले नौ नोट तो माँ को लौटा दिये और कह दिया—"एक रुपया मुझसे खर्च हो गया है। फिर ले लेना।"

माँ जानती थी कि यह रुपया अपने-आप तो मिलने से रहा। इस लिये दूसरे दिन जब बड़ेसाहब दूकान जाने लगे, तो माँ बोल उठीं—"वो कलवाला रुपया दिये जाओ बड़े। खर्च लग गया था, तो उसके लिये भुनाने को हमारा ही एक नोट था तुम्हारे पास ! अजब हाल है तुम्हारा ! अच्छा इस वक्त अभी तुम्हारे जेब में रुपया नहीं है कोई ? लाओ, दिये जाओ; नहीं तो दिखलाओ जेब !"

बड़ेसाहब को माँ का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। नोट तो जेब से निकालकर उन्होंने वहीं फेक दिया, पर बिना जबाब दिये जी न माना। बोले—"अब इसी नोट की होकर रहना। जीवन भर मुझसे एक पाई की भी आशा न करना !"

बड़ेसाहब इतना कहकर अभी जा ही रहे थे कि कल्याणी ने नोट उठाते हुए कह दिया—"ए बड़े, जबाब लिये जाओ। लानत है तुम्हारी उसपाई पर ! दूकान में पिछली साल जो तेरह हज़ार रुपया बचा है, उसमें आट हिस्से होंगे : पाँच भाई, एक बहन और एक-एक माँ-बाप का। समझते हो कि नहीं! अपना रुपया रख लो, बाक़ी आज ही मैं ले लूंगी। तब देखूँगी, दस रुपये में ऐसी साड़ियाँ कैसे आती हैं ! नहीं तो आज ही मैं उनको भेजती हूँ और पूछती हूँ कि यह साड़ी किसने हमारे घर भेजी है !"

बड़ेसाहब के नीचे की धरती जैसे खिसक गयी। दरवाज़े पर खड़े-खड़े

सुनते सब रहे, मगर जबाब दिया उनके पैरों ने, जो सीढ़ियाँ उतर रहे थे !

ऐसे भाई और भाभी से रंजना को भला मानवीय समवेदना कैसे मिलती ! उसने जब उस दिन डबडबाई हुई आँखों से भाभी से कहा—"भाभी, मेरे पास कालेज जाने के लिए सिर्फ़ तीन साड़ियाँ हैं, जिनमें से दो तो मैं बदल-बदल कर पहनती हूँ और एक साड़ी नित्य दुलारी को धोने को देनी पड़ती है। और तुम तो जानतीही हो कि इन रेशम या जार्जेट की साड़ियों की उम्र रोज़ धोने और लोहा करने से कितनी जल्दी घट जाती हैं। बल्कि एक साड़ी तो मेरी फट भी गयी है। मैंने सी ज़रूर लिया है महीन-महीन, लेकिन उस स्थल को तरकीब से छिपाकर रखना पड़ता है। तुम्हीं ज़रा सोचो भाभी, माता-पिता के सिवा जिसके पाँच-पाँच भाई हों, उसके पास पहनने-ओढ़ने के लिए, उचित और उचित मात्रा में कपड़े भी न हों, यह कितने दुर्भाग्य की बात है !"

भाभी ने ज़रा मन्द स्वर में उत्तर दिया—"बीबी, इसमें दुर्भाग्य की तो कोई बात है नहीं। हाँ, मौक़े की बात ज़रूर है। जब तुम किसी बड़े घर में व्याह कर जाओगी, तब तुमको इसकी शिकायत न रहेगी। व्याह के अवसर पर लड़की को काफ़ी साड़ियाँ मिलती हैं। सो तुमको भी मिलेंगी। मगर जो कहो कि आज मिल जायँ, सो भला कैसे मिल सकती हैं ! हाँ, बाबूजी चाहें तो फ़ौरन मँगवा सकते हैं। मगर अभी तो वे व्याह के खर्चे के मारे ही तंग होंगे। कहकर देखो, मुझे तो भरोसा नहीं है। वैसे कहने में कोई हर्ज़ भी नहीं है। रह गयी हम लोगों की बात, सो तुम देख ही रही हो कि उन का मिजाज कैसा है ! अगर यही हालत रही तो इस घर में हमारा कैसे निबाह होगा !"

रञ्जना इस प्रकार के उत्तर, व्यवहार और उद्गार सुनकर एक ठंडी साँस भरकर रह जाती। उस दिन जब प्रदीप इस घर में आया

था, तब उसका मन रत्नाकर की वह तरंग बन गया था, जो कभी समाप्त नहीं होती और अन्त में थोड़े-थोड़े अन्तर से एक महातरंग में जाकर विलीन हो जाती है। रंजना अपने भतीजे को पलन में झुला रही थी; उसी समय प्रदीप वहाँ से निकल गया था। उसका मन उनमें खो गया था।···उसे कुछ ऐसा मालूम हुआ कि एक गुलाब का फूल है और कहीं से भूला-भटका कोई भ्रमर उस रास्ते से उड़ता हुआ आगे बढ़ गया है। गुलाब के उस पुष्प की ओर उसकी दृष्टि तक नहीं गयी है। यहाँ तक कि उड़ते-उड़ते उसका कोई गुंजन भी नहीं सुनाई पड़ रहा है। उसे कुछ ऐसा बोध हुआ कि गुलाब के उस फूल में थोड़ी-सी सुगन्ध अवश्य उत्पन्न हो गई है। तभी तो भ्रमर उधर ही से अपना रास्ता बनाता है। पर अभी तो उसने इस पथ से निकलना मात्र प्रारम्भ किया है, इसके बाद उनका गुंजन प्रारम्भ होगा। फिर वह उस पुष्प के इधर-उधर उड़ेगा, चक्कर लगायेगा और जब गुलाब की पँखुरियों का मन पा जायगा, तब कहीं उस पर आ-आकर चुपचाप बैठने का अवसर पायेगा।

तो यह पथ अभी कितना लम्बा है! कितनी दूर तक चला गया है! और इसके तय होने में विलम्ब कितना है! अवलम्ब इतना भर है कि भ्रमर ने जब इधर से निकलना प्रारम्भ किया है, तब कभी तो वह उस गुलाब के पास आकर रुकेगा! हो सकता है कि वह दिन, वह पल, वह क्षण कुछ महीनों में आ जाय और यह भी हो सकता है कि कुछ वर्षों में आ पाये!

इतना सोचते-सोचते रञ्जना के पलक झपक जाते हैं और घण्टे, दो घण्टे, चार घण्टे के बाद कभी-न-कभी, कोई उसके कान पर आकर बैठ जाता और कहने लगता है—'राजा नल को तुम उस समय अपने निकट ही पाओगी दमयन्ती; वह तुमको अन्दर से ही झाँकता मिलेगा!' इसके बाद यह स्वर चुपचाप अंतरिक्ष म विलीन हो जाता।

सोती-सोती रञ्जना उठकर बैठ जाती और अपने आपको समझाने लगती—'ओः ! तो यह स्वप्न था···स्वप्न !' और इसके बाद वह चुप-चाप खिड़की के निकट जाकर शून्य गगन की ओर देखने लगती। देखती-देखती वह क्या देखती कि चन्द्रदेव कभी बादलों के भीतर छिप जाते हैं और कभी मुसकराते हुए बाहर निकल आते हैं। तारागण में से कोई दीप्तमान है, कोई-कोई टिमटिमा रहे हैं और कोई-कोई तो टूट भी पड़ते हैं ! संसार है, इसमें सब तरह के प्राणी हैं रञ्जना। दमयन्ती, इसमें सब तरह के जीव हैं ! तुम्हारा नल, तुम्हारे अन्दर ही झाँक रहा है। इसमें निराश होने की, दुखी होने की, क्या बात है ! जाओ, जाओ रञ्जना ! जाओ सो जाओ दमयन्ती···!!

रञ्जना तब ठगी-सी रह जाती। उसका कण्ठ भर आता, उसकी आँखें डबडबाने लगतीं। उसके आँसू वक्ष के अंचल पर ही ढुलक पड़ते। यहाँ तक कि उनकी अपनी वाणी, उसके अपने शाब्दिक रूप भी, उसी अंचल में समा जाते—टप···टप !

: १६ :

वीरेन्द्र के अन्दर एक भट्ठी थी जो कभी बुझती न थी। वह अनाश्रित थी, अवलम्बहीन था। परिस्थितियाँ उसका बिलकुल साथ न देती थी। यह सब कुछ था; लेकिन वह प्रतिकूल परिस्थितियों की परवा भी नहीं करता था।

इसका एक कारण था। वह प्रथम श्रेणी का महत्वाकाँक्षी व्यक्ति था। वह सोचा करता था, संसार का सारा वैभव और ऐश्वर्य केवल

मेरे भोग के लिए बना है। लोग जब अपमानित होते हैं, तो उनका उत्साह मर जाता है। इसके विपरीत वीरेन्द्र जब अपमानित होता, उपेक्षित होता, दुरदुराया जाता, फटकार उस पर पड़ती, लोग उसको अपदस्थ करते और उपेक्षा-पर-उपेक्षा के बाद ज्यों-ज्यों सारी उपेक्षाएँ एक साथ उसका दम घोटने लगतीं, त्यों-त्यों सारे अपमान, समस्त तिरस्कार उसके अन्दर धधकनेवाली भठ्ठी में ईंधन का काम करते और तब उसकी अग्नि और भी अधिक प्रज्वलित हो उठती।

नगर में वीरेन्द्र के कई रिश्तेदार रहते थे। वह क्रम-क्रम से सब के पास गया और एक-आध दिन रहा भी। लोगों ने पूछा—"तुम यहाँ आये किस लिये हो?" तब वह मुसकराया, लेकिन बहुत थोड़ा सा। उसने मुँह खोला, लेकिन केवल एक छोटा-सा वाक्य कहने के लिए। जब प्रश्न उसके मस्तक से टकराया था, तब वह चारपाई पर लेटा हुआ था। अब वह चट से उठकर बैठ गया और उसने उत्तर दिया—"जीने के लिए।"

लोग हँसे। लोगों ने फबतियाँ भी कसीं उस पर! बोले—"ए फिलासफ़र साहब! पहेलियाँ बुझाने के लिए मेरा घर नहीं है। समझते हैं कि नहीं! जिस काम से आये हों, चुपचाप कीजिये और बिना कहे-सुने, नाक-पूँछ हिलाये, यहाँ से रास्ता नापिये!" और फिर हाथ उठाकर बोले—"यह देखिए, इस दरवाज़े से आपको जाना होगा।"

उत्तर में वीरेन्द्र ने उनका इतिहास नहीं बतलाया। उनको उन दिनों का स्मरण नहीं दिलाया, जब कभी वे भी उसके यहाँ आये थे, चार-चार और छै-छै दिन ठहरे थे और घी-दूध, दही और रबड़ी पर बहुत इतमीनान से हाथ साफ़ करते रहे थे! वह उठकर खड़ा हो गया और उसने तनकर उत्तर दिया—"बहुत अच्छा, जाता हूँ!"

और इतना कहकर वह चला गया।

थोड़े-बहुत अन्तर से यही दृश्य लगभग सभी जगह उपस्थित हुआ और थोड़े-बहुत अन्तर से लगभग सभी जगह उसने यही उत्तर दिया और इसी तरह वह चला भी आया।

कहते हैं, संयोग और मृत्यु में बहुत आत्मीय सम्बन्ध है। वास्तव में है भी; किन्तु संयोग के साथ जीवन का भी बहुत अधिक आत्मीय सम्बन्ध है।' लोग यह क्यों भूल जाते हैं ?

तो संयोग की बात, एक दिन उसको एक ऐसा आदमी मिल गया, जो एक मैले से रूमाल में एक छोटा-सा डब्बा बाँधे हुए चला जा रहा था। वह पैरों में चप्पल, आठ दिन पहना हुआ पायजामा और क़रीब-क़रीब इतने ही दिन का कुछ-कुछ मैला कुरता और उसके ऊपर सदरी पहने हुए था। उसकी दाढ़ी तीन-चार दिन की बढ़ी हुई थी। उसके सिर के केश उलझे हुए थे। किन्तु ऐसा जान पड़ता था कि खुशबूदार तेल के अभाव में थोड़े-से कडुए तेल का प्रयोग उसने अपने सिर के इन केशों के साथ किया अवश्य है। उसका सीना तना हुआ न था, कुछ थोड़ा झुका हुआ था; लेकिन पसीना उसकी देह पर छलछला आया था। सामने से जाते हुए वीरेन्द्र ने जो उसको देखा तो उसके मुँह से निकल गया—"अरे गयादीन, तुम कहाँ ?"

कुछ आश्चर्य्य से गयादीन ने उत्तर दिया—"मैं ?···मैं यहाँ एक मिल में काम करता हूँ। मगर वीरेन्द्रबाबू, आप यहाँ कैसे ? और आपकी ये हालत !···माफ़ कीजियेगा, क्या आ···प···बी···मार हैं ?"

उत्तर में वीरेन्द्र फिर मुसकराया, मगर थोड़ा-सा और बोला—"बीमार मैं तो नहीं हूँ, लेकिन जिस समाज का हूँ, वह ज़रूर बीमार है। बहुत सख़्त बीमार है। शायद उसीका थोड़ा-बहुत असर मेरे ऊपर आपको दिखलाई पड़ रहा है!"

गयादीन वीरेन्द्र के इस उत्तर को पूरी तरह समझ नहीं सका और तब उसने पूछ दिया—"कहाँ ठहरे हैं आप ?"

वीरेन्द्र ने उत्तर दिया—"क्या मेरे ठहरने के लिए तुम्हारे अन्दर जगह है ?"

वाक्य का भाव यथार्थ रूप से न ग्रहणकर गयादीन ने उत्तर दिया—"हम तो एक क्वार्टर में रहते हैं। उसमें जगह तो नहीं है, मगर आप ठहरना चाहें, तो ठहर भी सकते हैं। लेकिन आपको वहाँ तकलीफ़ बहुत होगी।"

उत्तर न देकर वीरेन्द्र उसके आगे-आगे चल दिया और बोला—"थोड़ी-बहुत तकलीफ़ भी अगर होगी, तो वह भी मेरे जीवन में मज़ा ही पैदा करेगी !"

वीरेन्द्र के इस उत्तर को सुनकर गयादीन उसकी ओर देखने लगा। अब वह मन-ही-मन सोच रहा था कि इन बाबूसाहब को मैं ठहराऊँगा कहाँ ! और रास्ते में चलता हुआ वह जैसे अपने क्वार्टर के सामने पहुँच गया।—'सिर्फ़ एक यही कोठरी है। आगे यह टीन पड़ी हुई है, जहाँ वह खाना बैठकर खाता हे। टीन के आगे एक चार हाथ का लम्बा और इतना ही चौड़ा आँगन है। वह है और उसकी पत्नी है, जिसके पेट में बच्चा है। एक समय भोजन बनता है; सो भी तीन-साढ़े-तीन बजे, जब वह मिल से छुट्टी पाकर आता है; तब आते-आते सब से पहले वह भोजन करता है। सबेरे के जलपान के लिए तेल के पराठें और सीताफल या आलू का साग डब्बे में रखकर साथ ले जाता है। जब पानी बरसता है, तब टीन के नीचे भी वह लेट नहीं सकता। इतनी अधिक बौछार आती है कि वहाँ रक्खी हुई सारी सामग्री भीग जाती है। तब कोटरी के अन्दर ही उसे चला जाना पड़ता है। नल बाहर लगा हुआ है जहाँ लोग बाल्टियों में पानी भरते हैं। पास ही थोड़ी

सी जगह में कपड़े भी साफ़ करते हैं। वहाँ कोई-न-कोई नहाता ही रहता है और कई लोग बाल्टी हाथ में लिये हुए पानी मिलने का इन्तजार करते रहते हैं। ऐसी गन्दी, सील से भरी, इधर-उधर कीचड़ और नालियों से घिरी, बदबूदार जगह में ये बाबूसाहब कैसे रहेंगे ?

लेकिन बात जो मुँह से निकल गयी, सो निकल गयी। अब वह लौट तो सकती न थी।'

इसी सोच-विचार में कई रिक्शेवाले इधर-से-उधर आते-जाते मिले। एक जगह ठेलेवाला भी सामने पड़ गया और तब वीरेन्द्र ने कह दिया—"देखो गयादीन, मैं बहुत भोग चुका हूँ और बहुत कुछ सीख भी चुका हूँ। इसलिये तुम यह मत समझना कि मेरे रहने से तुमको कभी कोई तकलीफ़ होगी ! मैं तुम्हारी आज़ादी में भी कभी कोई विघ्न न पड़ने दूंगा। और जैसे ही मुझे कहीं कोई काम मिल गया, वैसे ही कोई कमरा भी मैं ले लूँगा।"

अब रास्ता साफ़ हो गया था और गयादीन आगे-आगे चलने लगा था। वीरेन्द्र की इस बात के उत्तर में जेब से दो बीड़ी निकालकर उसने एक तो उस को दे दी, दूसरी अपने होठों में दबा ली।

आज वीरेन्द्र ने बीड़ी पीने से इनकार नहीं किया। गोल्डफ्लेक सिगरेट से उतरकर अब वह बीड़ी पर आ गया था !

गयादीन ने दियासलाई जलाकर पहले वीरेन्द्र की बीड़ी सुलगा दी, फिर अपने मुँह की। दोनों बीड़ी फूंकते हुए जब आगे बढ़े, तो वीरेन्द्रने देखा कि ताँगे पर एक साहब बैठे हुए माइक्रोफ़ोन हाथ में लिये बोल रहे हैं—"जो आदमी दाँत नहीं साफ़ रख सकता, मौत उसको बहुत जल्दी ज़िन्दगी से ही साफ़ कर देती है ! पर मेरा यह दावा है कि मेरा बनाया हुआ पाउडर दाँतों की सफ़ाई के सिए दवा ही नहीं

एक जादू है ! और जादू उस शय का नाम है जो सिर पर चढ़कर बोलता है।—आज इस शहर में मेरे इस पाउडर का इस्तेमाल करनेवाले लोगों की संख्या एक लाख तिहत्तर हज़ार नौसै तिरपन है। जिस भाई को शक हो, वह मेरा रजिस्टर देख सकता है।"

ताँगे के पास दस-पाँच आदमी खड़े थे और दाँतों के वे डाक्टर साहब दो आने से लेकर आठ आने तक के पैकट बेच रहे थे। उनकी आवाज़ आधे मील से सुनाई पड़ती थी !

वीरेन्द्र जब आगे बढ़ गया, तो वह यह सोचने लगा कि ज़माना अब ऐसे ही लोगों का है, जो एक पैसे की चीज़ को चार आने में बेच सकें। रुपये में पन्द्रह आने झूठ और एक आने अधकचरे सत्य का नुस्ख़ा आज कितना लाभदायक हो गया है ! अगर कभी मौक़ा आया, तो इन लोगों के व्याख्यान एक विद्यार्थी की तरह अध्ययन करके मैं भी एक दिन इसी तरह अपने पैरों पर खड़ा हो जाऊँगा। ग़रीबी, दरिद्रता, भुखमरी, चोरी, धोखेबाज़ी, विश्वासघात और बेईमानी—इन सबको मैं भी इसी तरह ललकारूँगा, इसी तरह लात मारूँगा और इसी तरह दुनियाँ की आँखों में धूल झोंककर एक मेहनती, सच्चा और ईमानदार—अपनी दिशा और अपने कार्य-क्षेत्र में—वीरेन्द्र बनकर ही आनन्द, सुख और सन्तोष की साँस लूँगा !

थोड़ी देर बाद जब वीरेन्द्र गयादीन के साथ उसके क्वार्टर में पहुँचा तो बोल उठा—"मुझे ज़रा बालटी दे दीजिये; तो मैं नल से पानी भर लाऊँ।"

वीरेन्द्र की इस बात को सुनकर गयादीन को कुछ आश्चर्य हुआ। उसनें कहा—"नहीं बाबू साहब, आप इस चारपाई पर बैठ जाइये। पानी मैं अभी लिये आता हूँ।"

वीरेन्द्र ने कुछ उत्साह और दृढ़ता के साथ उत्तर दिया—"नहीं

भैया गयादीन, तुमको मालूम नहीं है कि मैं अब वीरेन्द्रबाबू नहीं हूँ। मैं अब वीरेन्द्र नामका गयादीन का एक छोटा भाई हूँ; और यह जो तुम्हारी पत्नी अन्दर सिकुड़ी बैठी है, इसके साथ मेरा बहन-भाई का नाता रहेगा।"

इस बार गयादीन को और भी अधिक आश्चर्य हुआ और उसके मुँह से निकल गया—"फिर भी, फिर भी पानी मैं ही ले आऊँगा। आप बैठिये तो।" किन्तु उसीक्षण उसके इस कथन के उत्तर में वीरेन्द्र ने गयादीन के हाथ में लटकती हुई बाल्टी छीन ली और झट वह क्वार्टर के बाहर आ गया।

अब गयादीन हक्का-बक्का-सा उसको देखता रह गया! क्षणभर बाद उसनें अपनी पत्नी से कहा—"हमारे गाँव में एक बड़े आदमी रहते थे। उनका नाम था सुरेन्द्र। वे नहर के साहब थे। बहुत पैसा कमाया, लेकिन अपनी ज़िन्दगी में ही फूंकतापकर सब बराबर कर दिया। उन्हीं के ये अकेले लड़के हैं। जान पड़ता है, बहुत मुसीबत में हैं। हमने इनका वह जमाना भी देखा है जब ये महलों में रहते थे और अब एक यह भी देख रहा हूँ कि एक मेरे इस क्वार्टर को छोड़कर इनको और कहीं ठहरने की गुंजायश नहीं है! इसलिये इनसे ज़रा बचकर रहना। वैसे आदमी बुरा नहीं है।"

पत्नी अब सिटपिटाकर बोली—"मगर यहाँ रहेंगे कहाँ?"

गयादीन ने जवाब दिया—"ज़्यादा दिन नहीं रहेंगे और अगर रहना भी चाहेंगे तो रहने न पायेंगे। तुम चिन्ता मत करो। रंग-ढग देखकर मैं सब इन्तज़ाम कर दूंगा। म आदमी बहुत भला हूँ। मगर इतना भला नहीं हूँ कि कोई मुझे बेवकूफ़ बना ले! ...आज खाना क्या बनाया है?"

कुछ सोचती-सी पत्नी ने उत्तर दिया—"वही गेहूँ और चने की

रोटी हैं और उरद की दाल। प्याज़ की गाँठ है और मूली का टुकड़ा!"

गयादीन ने पूछा—"और साग कोई नहीं बनाया?"

पत्नी ने उत्तर दिया—"चार आलू, दाल के साथ ही उबाल लिये थे। वही अलग रक्खे हुए हैं। छीलकर खूँथ लो और नमक और तेल मिला लो। हरी मिर्च भी वह रक्खी है।"

गयादीन बोल उठा—"वाह! तुमने तो तबीयत हरी कर दी मैडम!...आज रास्ते में ये बाबूसाहब मिल गये थे। नहीं तो, मैं तुमको पट्टी कड़ाकेदार ज़रूर ले आता!"

पत्नी स्वामी की इस बात पर मुसकराई और बोली—"तुम पट्टी पढ़ाना खूब जानते हो!" और फिर थाली परोसने लगी।

इतने में वीरेन्द्र अन्दर आ गया। कपड़े उतारकर उसने खड़ी हुई चारपाई के ऊपर रख दिये और पलथी मारकर जब वह खाना खाने बैठा, तो पहला कौर तोड़ते हुए कह उठा—"आज जिन्दगी के नये मोड़ का पहला दिन है। आज की इस रोटी के लिये हे प्रभु, मैं तुझे हज़ार-हज़ार कण्ठ से धन्यवाद देता हूँ!"

: १७ :

प्रदीप पलँग पर लेटा हुआ था। सामने का दरवाज़ा आकाश की ओर खुला हुआ था। उसके सिर की ओर दोनों खिड़कियाँ भी खुली हुई थीं। कमरे के आगे छज्जा था, जिस पर लोहे के लट्ठे ऊपरवाली छत से जुड़े हुए खड़े थे। छज्जे की रेलिंग भी लोहे की थी। साढ़े पाँच बज

गये थे और गगन कहीं नीला, कहीं श्वेत उज्जवल रूई के फाहों जैसा लेकिन बीच-बीच में नीला और थोड़ा-थोड़ा लाल भी, कहीं नीला-नीला भाग कुछ हल्का और काला मिश्रित, कहीं काला और नीला मिला हुआ। कमरे के नीचे, बहुत नीचे, मुसलमानों की बस्ती, खपरैल के मकान, बीच में नीम के पेड़। बच्चे किशोर वय के, विद्यालयों के, मकतबों के छात्र, थोड़े अन्तर से बड़ी-छोटी उनकी बहनें—सब मिलकर छतों पर आकर पतंग उड़ा रहे थे। मसजिदों की मीनारें खड़ी थीं और मिलों की ऊँची-ऊँची चिमनियों को ईर्षा से देख रही थीं। कभी पतंगों के बीच से कोई चिड़िया उड़ने लगती, तो दूर से ऐसा भ्रम होने लगता, जैसे चिड़िया पतंग है और पतंग चिड़िया।

प्रदीप पलँग पर लेटा हुआ, इस सारे दृश्य को अपने कल्पनापट पर सँवार रहा था, सजा रहा था। नील गगन के ये दृश्य दो ही चार मिनट में बदलते जाते। ऊँचे मकानों की छतों और खिड़कियों पर ढलती और डूबती धूप आ जाती और सामने के जिन मकानों पर घनी छाया आ गयी थी और उत्तरोत्तर सघन होती जाती जा रही थी, उन्हें देखने लगती। छाया धूप को देखती और धूप छाया को। दोनों एक दूसरे पर आँखें डाल देतीं। थोड़ी ही देर में धूप छाया से घिर जाती और छाया उस धूप को अपनी छाती में, गोद में, भर लेती। चील्हें एक छोर से दूसरी छोर चली जातीं और प्रदीप उन्हें निहारता रह जाता—इकटक।

प्रदीप जिस पलँग पर लेटा हुआ था, उस पर दो गद्दे बिछे हुए थे। ऊपर खादी का एक चादर बिछा था। बहुत स्वच्छ और श्वेत। इस पलँग के पास कुछ कुर्सियाँ और एक एक छोटी गोल टेबिल थी जिस पर दवा की एक शीशी रक्खी थी। उसीके पास चीनी मिट्टी की कटोरी रक्खी थी, जिस पर मोटी, ब्राउन, चिकनी पॉलिश

थी। कुर्सी के ऊपर शीला बैठी हुई थी और थर्मामीटर उसके हाथ में था। शीला बोली—"टैम्परेचर अभी थोड़ा-सा है भैया।"

प्रदीप ने पूछा—"कितना ?"

शीला नीचे वाले होंठ पर दाँत मारती हुई-सी बोल उठी—"सौ के लगभग; मगर कुछ नहीं है। सौ भी कोई बुख़ार होता है!—दाल अगर ठीक न बनी हो, तो इतना तो मुझे यों भी चढ़ आता है!"

प्रदीप पहले हँस पड़ा। फिर उसके मुँह से निकल गया—"हूं··· आज तो तेरा परचा था न ?"

शीला ने थर्मामीटर को केस के अन्दर रखते हुए उत्तर दिया—"परचा तो ज़रूर था, मगर तुम उसकी चिन्ता मत करो भैया। क्लास में मेरा नम्बर हमेशा सेकण्ड रहता है, सो उसको कोई छीन नहीं सकता। और अबकी बार मैंने तय कर लिया है कि अगर मुझे पहला नम्बर न मिला, तो मैं मास्टर साहब से कह दूँगी कि कल से तशरीफ़ न लाइयेगा।"

प्रदीप के सिर में पीड़ा थी और थोड़ी-थोड़ी पीड़ा उसके शरीरभर में थी। उसने आँखें बन्द किये हुए धीमे स्वर में कह दिया—"देख शीला, अपने समाज में हो कि अपनी कक्षा में, जिसका नम्बर दूसरा रहता है उसको सदा यत्न करना चाहिये कि अब वह पहला हो जाय। जो व्यक्ति दूसरे नम्बर को पहला बनाने की चेष्टा नहीं करता, उसका दूसरा नम्बर भी तीसरा हो जाता है!"

तब शीला गम्भीर हो गयी। सिर से कन्धे पर खिसकती हुई साड़ी को ऊपर ले आती हुई वह बोली—"भैया, बात तो तुम बिलकुल सही कह रहे हो। लेकिन हमारे क्लास में जो लड़की पहला नम्बर पाती है, वह मुझसे अवस्था में भी एक वर्ष बड़ी है और उसका भाई एक कॉलेज में अध्यापक है। और यह जो अध्यापक नाम का जीव होता है भैया, सो अपने समाज में कुछ इस ढंगसे मिल-जुलकर रहता है कि अपनी

बहनों और लड़कियों को हमेशा प्रोत्साहन देता रहता है। इसमें वह न्याय-अन्याय, सत्य-मिथ्या आदि कोरे आदर्शों को नहीं देखता ! देखता है केवल अपनी उन्नति ! और भैया, बस यही काम मुझसे नहीं हो सकता। मैं भूखी रह सकती हूँ मगर किसी के मुँह पर उसकी झूठी प्रशंसा नहीं कर सकती। किसी तरह नहीं कर सकती।"

शीला की इस बात को सुनकर प्रदीप के होठों पर मुसकान खेल उठी और तब उसने कह दिया—"तू बड़ी वाचाल हो गयी है शीला। पहले नम्बर पर जो लड़की है, उसका भाई प्राध्यापक है। इसलिए तू कहना चाहती है कि वह पहला नम्बर पाती है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि उसको पहले नम्बर पर ले जानेवाला उसका अपना निजी प्रयत्न और उद्योग नहीं, उसका भाईमात्र है। और इस विचार का अर्थ यह हुआ कि तुझको दूसरे नम्बर पर पड़ा रखने का उत्तरदायी भी तू स्वयं नहीं, तेरा भाई मैं हूँ।—क्यों ?"

शीला हँसने लगी। बोली—"नहीं भैया, मेरा यह मतलब नहीं।"

प्रदीप ने उत्तर दिया—"बिलकुल यही मतलब है और मैं मानता हूँ कि यह सही है। मैं व्यस्त बहुत रहता हूँ। इसलिए तेरी पढ़ाई के निरीक्षण का अवकाश ही नहीं पाता।"

इतने में शीला बोल उठी—"चाय बनवाऊँ भैया ?"

तकिये को दोहराकर सिरके नीचे रखते हुए प्रदीप ने उत्तर दिया—"नहीं, ज़ुकाम में यह काढ़ा मैं नहीं पीता।"

"मगर तुलसी-अदरक डालकर पी लेने में तो कोई हर्ज़ है नहीं ! मैं बनवाती हूँ जाकर।"

और इतना कहकर वह कमरे से बाहर जा ही रही थी कि कुञ्जविहारी आ पहुँचा और बोला—"दादा, प्रणाम ! कैसी तबीयत है ?" और उसने झट प्रदीप का हाथ थाम लिया। बोला—"अरे !

आपको तो ज्वर है।" और ख़ाली कुर्सी पर बैठ गया। प्रदीप बोला—"उस दिन तुमने जो बहुत ज़्यादा खिला दिया था उसी का यह पुरस्कार है! मगर बहुत ख़र्च कर डाला तुमने उस दिन! और अरुणा की बातचीत ने भी मुझे प्रभावित किया। भगवान् चाहेगा, तो उसका भविष्य बहुत उज्ज्वल होगा। देखता हूँ उसकी रुचियाँ, उसके विचार, बहुत परिष्कृत हो चले हैं। ऐसी लड़कियाँ हमारे समाज में बहुत कम हैं।"

कुञ्जविहारी प्रदीप की इस बात को सुनकर मन-ही-मन उछल पड़ा और तब उसने कह दिया—"सब आपके चरणों का प्रताप है दादा। आपको तो वह बिलकुल देवता मानती है। उस दिन जब आप चले आये, तो बड़ी देर तक आपकी स्तुति करती रही। आजकल वह रात-दिन अध्ययन में लगी रहती है। सब मिलकर चौदह घण्टे पढ़ती है। मैंने भी सोचा है, सोचा क्या है, बल्कि तय कर लिया है कि जितना वह पढ़ेगी उतना मैं उसको पढ़ाऊँगा। और फ़र्स्ट डिवीज़न तो उसका कहीं गया नहीं। बस, आपके ज़रासे सहारे की आवश्यकता है।"

प्रदीप उठकर बैठ गया। बोला—"मेरे सहारे की आवश्यकता है!"

तब सम्हलते हुए कुञ्जबिहारी ने कहा—"अरे आपको आश्चर्य हो रहा है! क्या आपको नहीं मालूम कि नैतिकता का मान आज हमारे देश में किस सीमा तक गिर गया है? क्या आप नहीं जानते कि जातिवाद, सम्प्रदायवाद, मित्रवाद, शत्रुवाद, वर्गवाद, स्वार्थवाद ही नहीं, जनतावाद के नाम पर कितना अन्याय और अत्याचार नित्य होता रहता है? क्या आपको बतलाना पड़ेगा कि परीक्षा की उत्तर-पुस्तकें किस तरह जाँची जाती हैं? क्या आपसे यह बात छिपी है कि जो प्राध्यापक परीक्षक की पूँछ रखते हैं, उनके पीछे उनका कितना शिष्यवर्ग रहता है? अब मैं आपसे क्या बताऊँ! साफ़-साफ़ कहूँगा, तो डर है कि कहीं आप बिगड़ न उठें! यों ही आपकी तबीयत ख़राब है!

इसलिए मैं आपके मन को किसी प्रकार की अवाञ्छनीय उत्तेजना भी नहीं पहुँचाना चाहता हूँ !"

एक लम्बी साँस लेकर प्रदीप लेट गया और पलँग की पाटी पर हाथ रखकर बोला—"उत्तेजना की कोई बात नहीं कुञ्जबिहारी। तुम को जो कुछ कहना हो, सब निस्संकोच कह डालो। देश के नैतिक पतन के काले इतिहास को मैं तुमसे सुनना चाहता हूँ। यह मत सोचो कि बुरा लगने के भय से मैं सत्य पर परदा पड़ा रहने दूँगा। तुमको जो कुछ कहना हो, कहो। सत्य के कड़ुए घूँट कंण्ठस्थ करने में मुझे अब बड़ा मज़ा आता है, बड़ा रस मिलता है। एक ज्वाला है, जिसको मैं अपने अन्दर नित्य सुलगती रहने देना चाहता हूँ। देश के नव-निर्माण के साथ जहाँ तक वस्तुस्थिति के वास्तविक अध्ययन का सम्बन्ध है, मैं लीपा-पोती नहीं चाहता। मैं ऐसी शान्ति का पक्षपाती नहीं हूँ जो अन्दर-ही-अन्दर उस फल की तरह पकती रहती है, जिसमें कीड़े पड़ जाते हैं, जो बदबू करने लगते हैं; जिनकी दुर्गन्ध हमारी नई पीढ़ी के मानसिक स्वास्थ्य को नष्ट कर डालती है। बात जब तुम्हारे मुँह से उठी है, तो अब उसे सुने बिना मुझे चैन नहीं मिलेगी। तुम कहो न ?" और इसी समय उसको अपने दाएं ओर चिक के उस पार जो मानवीय छाया दिखाई पड़ी उसको लक्ष करके उसने पूछा—"कौन है ?"

उसके इतना कहते ही चिक का परदा उठा और रसोइयाँ महराज ने कह दिया—"चाय तैयार है सरकार।"

प्रदीप बोला—"ले आओ।"

महराज लौट गया। कुञ्जबिहारी बोला—"दादा, जो लोग बात बढ़ाकर कहते हैं, उलटा-सीधा, अतिरंजित चित्र खींचकर, जनता में उत्तेजना पहुँचाते हैं, मैं उनको देश का शत्रु समझता हूँ। यदि मेरा वश चले, तो मैं उनकी क़तार सामने खड़ी करके गोलियों से

भून डालूँ ! मैं ऐसी अहिंसा को विषाक्त समझता हूँ, जो अपराधों को पलने देती है, जो पाप को प्रश्रय देती है, जो न्याय और सत्य का गला घोटकर स्वार्थियों, धूर्तों और सिंह की खाल के अन्दर छिपे हुए नपुंसकों और शृगालों को उत्तरदायित्व से भरे महत्वपूर्ण अधिकारों के पद पर प्रतिष्ठित होने का अवसर देती है ! शिक्षा का क्षेत्र सरस्वती की उपासना का आराधना-मन्दिर होता है। संस्कृति जो देश की आत्मा है, उसकी वास्तविक उन्नति के मार्ग में सब-से अधिक बाधा उस वर्ग से पहुँचती है, जो कन्वेसिंग के बल पर परीक्षकों को 'मार्क्स' बढ़ाने के लिए विवश कर देता है। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि आज यह क्षेत्र भी पापाचारों से दूषित बन गया है। सगे सम्बन्धियों और आत्मीय स्वजनों के द्वारा ही यह कार्य न होकर अब बिलकुल सीधे व्यावसायिक तौर से होने लगा है। यहाँ तक कि परीक्षार्थियों को, सीधे परीक्षकों के पास पहुँचने में न लाज आती है, न संकोच होता है। हमारे ही नगर में, ऐसे-ऐसे ध्वजा-पताकाधारी परीक्षक हैं, जो परीक्षार्थियों से रुपये ऐंठते हुए ज़रा भी नहीं हिचकते। और कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि रुपये ऐंठ लिये जाते हैं और फिर भी परीक्षार्थी जब उत्तीर्ण नहीं होता, तो बेचारा समाज के सामने मुँह न दिखाकर, इधर-उधर, भागा-भागा फिरता है और आत्मघात तक कर बैठता है! उसका परिवार चीत्कार और क्रन्दन के हाहाकार से महीनों और वर्षों गूँजता रहता है ! मैं यह नहीं चाहता कि परीक्षार्थी अनुत्तीर्ण न किये जायँ, मैं क़तई नहीं चाहता कि परीक्षाओं का मान और उनके आदर्श का स्तर ऊँचा न किया जाय। किन्तु यह साले-भतीजे, चचेरे-ममेरे, मौसेरे और फुफेरे बन्धुओं को नौकरी, पद, इनाम, पुरस्कार और प्रोत्साहन के नाम पर व्यवसाय क्यों किया जाता है? आपको पता है कि शिक्षा-संस्थाओं का सञ्चालन आज बड़े-बड़े नगरों में संगठन और प्रयत्न के बल पर

एक धन्धा बन गया है ? आपको पता है कि हमारे नगर में ऐसे विद्यालयों की कमी नहीं है जिनके छात्रों का परीक्षा-शुल्क केवल इस आधारपर मुक्त होता है कि विद्यालय के सञ्चालकों के साथ उनका स्वजातीय नाता और सम्बन्ध रहता है ! मुझे क्षमा किया जाय कि पाप के इस पंक में बड़े-बड़े आचार्य और प्रिंसिपलों तक के हाथ बहुत बुरी तरह से सने हुए रहते हैं। बिल्डिंग-फण्ड के नाम पर ग़रीब, असहाय, निराश और दीन अध्यापक अगर यथार्थ में अस्सी रुपये मासिक वेतन पाते हैं, तो कार्यालय के रजिस्टरों में इकन्नी पर बने हुये हस्ताक्षर बोलते हैं कि उन्होंने १००) रुपये पाये हैं ! और वह 'बिल्डिंग-फण्ड' और उसका सारा हिसाब-किताब भी ऐसे आडीटर्स द्वारा निरीक्षण का प्रमाण सहज ही प्राप्त कर लेता है, जो इस षड्यन्त्र, जाल और तथाकथित संगठन के अंग होते हैं ! मैं जानना चाहता हूँ कि आपको क्या इन सब बातों का पता है ? और पता है तो हमारे नगर में ऐसे कितने दैनिक पत्र हैं, कितने उत्तरदायी पत्रकार हैं, जो इसके रहस्योद्घाटन को अपना पवित्र कर्तव्य मानते हों ? मुझे शर्म आती है यह कहते हुए कि आज जनता की वेदना और व्यथा का वास्तविक स्वर ऊँचा उठानेवाला व्यक्ति हमारे समाज में अपमान, उपेक्षा और तिरस्कार का भागी बनता है ! मैं स्पष्ट कहता हूँ कि जिस प्रकार पूँजीवादी बुर्जुवाक्लास हमारे देश की जनता का रक्त-शोषण करने में कोई बात नहीं उठा रखता, उसी प्रकार हमारे समाज का यह मध्यमवर्ग भी नैतिक पतन और व्यभिचार के इस कार्य में पूर्णरूप से संलग्न बना रहता है और समाज के पण्डों, ठेकेदारों, व्यवस्थापकों, और व्यवस्थादायकों के कानों में जूँ तक नहीं रेंगती ! मैं जानना चाहता हूँ कि आपके पास इन सब पैशाचिक करतूतों को सदा के लिए ध्वस्त कर डालनें का कौन-सा अस्त्र है ?"

कुञ्जबिहारी का यह कथन अभी समाप्त नहीं होने पाया था कि रसोइया महराज चाय की ट्रे लेकर आ पहुँचा।

अब प्रदीप एक ठंढी साँस लेकर बोला—"तुम ठीक कहते हो कुञ्जबिहारी। मैंने यह सब शिकायतें सुनी हैं। इसीलिए मैंने सार्वजनिक सेवा का व्रत लिया है। इसीलिए रात-दिन कार्य करते-करते मैं अस्वस्थ भी हो जाता हूँ। लेकिन याद रक्खो कुञ्जबिहारी···" और यह कहते-कहते प्रदीप का स्वर गुरुगम्भीर हो गया—"यह अवस्था अब बहुत दिनों तक नहीं बनी रह सकती। इसकी दवा हम लोगों को अपने जीवन की आहुति देकर करनी ही होगी। तुमने आचार्य बिनोवा की वाणी, तुमने जयप्रकाश बाबू के व्याख्यानों का आन्तरिक स्वर कभी सुना है? न सुना हो तो ज़रूर सुनो, और कुछ करो कुञ्जबिहारी। केवल मौखिक प्रवचन और व्याख्यानबाज़ी से अब देश का कल्याण नहीं होगा। क्षण-क्षण पर मृत्यु मुँह बाए, दाँत निकाले और पंजों के नाखून बढ़ाए हमारे सामने खड़ी है। जो व्यक्ति अपनी चेतन अवस्था में कुछ करके नहीं दिखलाता, वह अपने जीवन का कोई महत्व नहीं रखता। इस पवित्र भारतभूमि पर उसका जन्म लेना व्यर्थ है!"

जब कुञ्जबिहारी चाय पीने लगा तो वह मन-ही-मन अत्यधिक पुलकित था। वह सोच रहा था कि बस, अरुणा की परीक्षा के बाद केवल एक बार उनके कान में यह बात डाल देनी होगी कि यदि उसको 'फ़र्स्ट डिवीज़न' न मिला, तो मैं यही समझूँगा कि दादा का नाम ही केवल प्रदीप है, पर काम···! और इसके बाद वह चुप रहने पर भी मन-ही-मन जैसे अट्टहास कर उठा—एक भयानक अट्टहास!

: १८ :

विभाजन के समय जो परिवार छिन्न-भिन्न हो गये थे उनमें ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक थी जो रात को सोते न थे। आँखें झपक जाती थीं, लेकिन मन भागा-भागा फिरता था। माताएँ अपनी बेटियों की याद में, सासें अपनी बहुओं की स्मृतियों में सोते-सोते रात को चौंक-चौंक पड़तीं! मूक और नीरव रजनी का शान्त वातावरण मिनटों में एक हाहाकार से विक्षुब्ध हो उठता। चीत्कार और क्रन्दन कानों के परदों पर गूँजता रहता। अग्निकाण्ड, विध्वंस, खून की पिचकारियाँ आर-पार हो जानेवाली रायफलों की गोलियाँ, छूरी, करौली तथा तलवार की धारों की लपलपाती जिह्वाएँ, नदियों में बहते शव और धू-धूकर जलनेवाली चिताएँ इतनी भयानक हो-होकर मानस में पैठ गयी थीं, घुस गयी थीं, तितर-वितर होकर फैल गयी थीं, जमे हुए लहू की तरह शरीर भर में काले-काले धब्बे बन गयी थीं कि प्रत्येक आत्मीय और देह-रक्त से सम्बन्धित पिता-माता, भाई-भतीजा, चाचा, कोई भी ऐसा नहीं बचा था, जो दो घड़ी भी सुख की नींद सो सकता!

इन्हीं परिवारों से बिछड़ी हुई लड़की, एक हेमाङ्गिनी थी जिसकी अवस्था अभी केवल सोलह वर्ष की थी। भूलती भटकती समाज के पिशाचों की वासना का ग्रास बनती हुई वह हेमा भी कानपुर आ पहुँची थी। काल के दारुण प्रहार और दुर्भाग्य के दुर्दान्त आहार से बची-खुची संस्कार-भ्रष्ट, लज्जाहीन हेमा अब इस अवस्था को प्राप्त हो गयी थी कि भोजन और पैसे का, थोड़ा-सा भी प्रलोभन, उसके शरीर को खरीद लेने में समर्थ हो जाता! भूख अगर केवल मन की हो, तो मृत्यु को उसे ग्रहण करने में समय लगता है। भूख यदि केवल रुचियों और संस्कारों की हो, तो उसके निरन्तर अभाव से जीर्ण जर्जर होने में वर्ष-के-वर्ष बीत जाते हैं। आदमी अगर एक सीढ़ी अधिक

चढ़ने के प्रयत्न में कहीं गिर भी पड़ता है, तो रुककर, ठहरकर, सँभल-कर फिर दम मारकर शक्ति-संचय करके आगे बढ़ जाता है। किन्तु तन की भूख, उसकी निरन्तर अतृप्ति, वही सहन कर सकता है, जिसके जन्मजात संस्कारों में साधना और तपस्या का समुज्ज्वल आदर्श रहता हो। आदर्श से हीन मनुष्य और पशु में केवल शरीरगत जातिभेद रहता है। अन्यथा मनुष्य और पशु में कोई भेद नहीं, कोई अन्तर नहीं।

हेमा को कुछ ऐसा लगता था जैसे उसका बचपन एक स्वप्न था। वह दसवें दर्जे में पढ़ती थी। मातृ-भाषा उसकी पंजाबी थी, मगर पढ़ती वह हिन्दी थी। उर्दू तो वह दूसरी भाषा के रूप में थोड़ी-थोड़ी जानती थी। छोटे-छोटे बच्चों को पढ़ाने के लिए यदि वह कहीं किसी पाठशाला में नियुक्त कर दी जाती, तो एक अध्यापिका के रूप में सहज ही उसका निर्वाह हो सकता था। किसी भी टेलरिंग-शाप में सिलाई का काम उसे सहज ही मिल सकता था। किन्तु सब से बड़ा दोष हेमा में यह था कि वह लड़की थी और यौवन का 'क ख ग' वह पढ़ चुकी थी। रूप जो मनुष्य का सौभाग्य होता है, उसके लिए दुर्भाग्य की वह आँधी थी, जो मिट्टी, बालू और तिनकों के प्रबल वायुगत झकोरों से पथिकों की आँखों को एक मिनट में अन्धा बना देती है। रूप, जिसकी जुगनू-की-सी चमक भी राह चलते बच्चों को चंचल बना देती है, चाँद की तरह उसकी मुखाकृति पर छाया हुआ रहता। खिले हुए फूल की सब से अधिक दयनीय स्थिति तब होती है, जब उसके दल में अँगुली का एक स्पर्शमात्र भूमि की ओर पतनोन्मुख बना देता है।

हेमा भी बिलकुल इसी स्थिति में जा पहुँची थी। जिधर से वह निकल जाती, लोग भिक्षा में उसे एक पैसे के बजाय चार पैसा देकर उससे कोई ऐसी बात कहे बिना न मानते, जो उसकी लाज को सूजे की नोक

से छेदकर लहू-लुहान कर डालती। शरण देने और सहानुभूति प्रदर्शित करनेवाले दया, ममता और उदारता के शब्दों में पहले उसकी सहायता करते, किन्तु कुछ ही क्षणों में उनके भीतर का पिशाच अपने रक्त-पिपासु खूंख्वार दाँतों से उसकी देहयष्टि के कमनीय कलेवर को नोच-नोचकर खा जाने को व्याकुल, अधीर हो उठता था !

इन अमानुषी व्यवहारों का ही यह परिणाम था कि केवल जीवन के नाम पर वह अपना देह-दान तक स्वीकार कर लेती ! लाज नाम की वस्तु उसकी चेतना के अगाध गह्वर में सदा के लिए सो गयी थी, मर गयी थी। दया की भीख से अब उसे अपनी हीनता का बोध नहीं होता था। दया के रूप में उठा हुआ हाथ उसके लिए जब वासना का साँप बन जाता, तब भी वह यही समझती थी कि मनुष्यमात्र का यही रूप है। आदमी की शक्ल में जो लोग उसे बैठे मिलते, सड़क पर हों या मकानों के अन्दर, दरवाज़े पर हों, या बाज़ारों की भीड़भाड़ में, पचासों शकलों, पोशाकों और चेहरों में—छोटे-बड़े, युवक और प्रौढ़, सब-के-सब—उसके लिए अब ऐसे साँप बन गये थे, काटना ही जिनका धर्म रह गया था !

हेमा यह सब जानती थी; लेकिन वह लाचार थी। बाज़ार में टुकड़े-टुकड़े के लिये फिरनेवाली लड़की को कौन अपनी बहन की तरह रखना पसन्द करता ! कौन उसको विश्वसनीय मानकर अपनी जीवन-संगिनी बनाने को तैयार होता ? हेमा जब इन सभी लोगों के मनो-भाव बनावट से भरे हुए पाती तो सोचती कि पैसा तो हमें इन्हीं लोगों से मिलना है। तभी भूख की ज्वाला शान्त करने के लिए अपमानजनक प्रस्तावों पर भी मुसकरा उठना धीरे-धीरे उसका व्यावसायिक स्वभाव बन गया था। जो मुसकराहट उसके होठों पर फूटती, उसके अन्तर में क्रन्दन भरा रहता। लेकिन वासना के विष से बुझी हुई आँखें उस क्रन्दन

को देख न पाती थीं। उसके कथन में आश्रय तथा अवलम्ब की जो याचना रहती उसमें एक हाहाकार छिपा रहता; किन्तु राह चलते संस्कारहीन अपठित, अर्धपठित, शिक्षित और अशिक्षित लोगों के लिए वह चने की वह दाल बन गयी थी, जो दाढ़ों के नीचे पीस-पीसकर जिह्वा की लार के साथ निगल ली जाती है! दो-चार पैसों के नाम पर मिलनेवाला खिलौना भी कभी इतनी जल्दी खेलकर तोड़ नहीं डाला जाता, सड़क पर दरवाज़े के बाहर फेंक नहीं दिया जाता, जितनी जल्दी हेमा तिरस्कार, अपमान और घृणा की पात्र बन जाती !

इस प्रकार धीरे-धीरे इन सारी अवस्थाओं के प्रति हेमा का रुख सड़क के बहते हुए नाले का वह तिनका बन गया था, जो सदा बहता ही रहता है और रुकता भी है, तो थोड़ी देर के लिये। इन दशाओं में यदि घण्टाघर के पासवाले उस होटल में उसने वीरेन्द्र के पास जाकर पॉलिश करने का प्रस्ताव कर दिया, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

तो उस दिन हेमा रिक्शे में साथ बैठकर वीरेन्द्र की बन गयी थी और वह वीरेन्द्र भी तो उसी समाज का एक अङ्ग था जो भूख के समय यह नहीं देखता कि मान्स का जो टुकड़ा उसकी दाढ़ के नीचे आ रहा है, वह बकरे का है या गाय का ? वासना की घटनात्मक दृश्यकथा विस्तारपूर्वक लिख डालना यथार्थवाद का वास्तविक मन्तव्य नहीं, केवल उसका अर्थान्तिर है।

हेमा वीरेन्द्र को जब कभी रास्ते में मिल जाती, तो उसकी आँखों में एक लालसा जाग्रत हो उठती। वीरेन्द्र को कुछ ऐसा मालूम पड़ता, जैसे यह मुझसे कुछ कहना चाहती है। उसकी तबीयत होती कि थोड़ी देर वह उसके पास बैठे और अपने जीवन का वह कोना दिखलाये जिसमें दर्द है, एक ऐसी पीड़ा है, जो घटने के बजाय उत्तरोत्तर घनीभूत होती जा

रही है; किन्तु पास से निकल जाने पर भी वह उससे कुछ कह न सकता था।

इसका एक कारण और भी था। हेमा की दृष्टि उसके मन पर शरसन्धान का-सा प्रभाव डालती थी। तुरन्त वह सोचने लगता—"मैं इससे बात करूँ कैसे? मेरे जेब में तो कुछ है ही नहीं!"

परिणाम यह हुआ कि एक दिन वीरेन्द्र हेमा से बोले बिना आगे तो बढ़ गया, पर उसके जीवन में आज पहली बार यह प्रश्न भी उपस्थित हो उठा कि पैसा मुझे अपने लिए नहीं, इस हेमा के लिए प्राप्त करना है। माना कि वह अपनी कोई मर्यादा नहीं रखती; यह भी माना कि वह समाज की दृष्टि में बहुत पतित हो चुकी है; किन्तु उसको उसका यह कथन भूलता नहीं था—"पॉलिश नहीं कराओगे बाबू?"

वीरेन्द्र अब गयादीन के घर में रहने लगा था। आठ बजे सबेरे उसे कुछ खाने को मिल जाता और वह एक छापेखाने में काम पर चला जाता। सोनेलाल उसका एक पुराना साथी था, जो उसी प्रेस में मैशीनमैन था। उसने मैनेजर से कहसुनकर उसे कम्पोज़िंग का काम सिखलाने और सीख जाने पर साठ रुपए मासिक देने की शर्त पर रखवा दिया था। सोनेलाल ने कहा था कि जितनी जल्दी तुम काम सीख लोगे, उतनी ही जल्दी तुमको वेतन मिलने लगेगा। रह गयी बात साबुन, तेल और रोटी-दाल की, सो इकट्ठे तो नहीं, लेकिन दस-पाँच रुपये तुम हमसे हर हफ़्ते में ले लिया करना। मगर एक बात है, साफ़ कहना अच्छा होता है। हम कोई सेठ तो हैं नहीं, जो अपने पापों को छिपाने के लिए पुण्यदान बहुत ज़रूरी समझते हों। हमारे पास पैसा-टका अगर है भी, तो वह साथियों को संकट के समय उधार के रूप में सहायतार्थ देने के लिए है। इसलिये वेतन मिलने पर सबसे पहले तुमको हमारा यह रुपया वापस कर देना होगा।···इकट्ठा नहीं, धीरे-धीरे। और बस, इसी शर्त पर, वीरेन्द्र उस प्रेस में काम करने लगा था।

अब वीरेन्द्र के जीवन में सोचने के लिए केवल एक बात थी। वह भी एक सद्‌गृहस्थ का-सा जीवन व्यतीत करना चाहता है। इसलिये नहीं कि गृहस्थाश्रम को स्वीकार कर लेनेपर वह कोई बहुत बड़ा देवता बन जायगा। वरन् इसलिये कि उसे हेमा को उस जीवन से मुक्ति देनी है, जो सचमुच बहुत ही घृणित है। रात-दिन वह यही सोचा करता कि जल्दी-से-जल्दी उसे कम्पोज़िंग सीख लेनी है। वह सोचने लगता कि कहीं ऐसा न हो कि मुझे देर हो जाय और फिर हेमा मेरी सीमा से बाहर चली जाय ! आजकल हेमा जिस बदनाम मुहल्ले में रहने लगी है, वह जानता था कि वहाँ उसका जीवन सुरक्षित नहीं है। ऐसा भी तो हो सकता है कि ईर्ष्या-द्वेष और व्यावसायिक मन्दी की प्रतिक्रियाओं में पड़कर उसकी साथवालियाँ ही उसे मरवा डालें ! ऐसा भी हो सकता है कि शरबत के बहाने कोई उसे ज़हर पिला दे ! अक्षर पहचानने और जोड़-जोड़कर रखने के क्रियाकलाप में वह यही सोचा करता कि आज मैं हेमा के पास जाऊँगा और उससे कहूँगा कि तू किसी अच्छे मुहल्ले में अलग मकान ले ले, उसका किराया मैं भर दूँगा। रही पेट भरने की बात, सो हम लोग नमक के सत्तू खाकर, गुड़ की डली के साथ चने चबाकर कुछ दिन काट देंगे ! फिर अब दस दिन के बाद तो मुझे वेतन मिलना भी प्रारम्भ हो जायगा।

मगर प्रश्न तो यह था कि ये दस दिन कटेंगे कैसे ! इस बीच अगर किसी वाराङ्गना ने अपने यार को उसके पीछे लगा दिया, और उसने उसके पेट में छुरी भोंक दी, तो ?

वीरेन्द्र इस प्रकार की नाना कल्पनाओ के साथ काँप-काँप उठता !

एक दिन एक दैनिक पत्र में सबेरे कहीं उसने यह समाचार पढ़ा—

'एक जवान लड़की की हत्या।' 'एक लड़की कटी हुई पायी गयी।' इस समाचार का पढ़ना था कि वीरेन्द्र तुरन्त छुट्टी लेकर पाँच नम्बर

गुमटी भागा और जब तक उसने इस घटना का पूरा-पूरा वृत्तान्त जान नहीं लिया, तब तक उसे चैन न मिली। अन्त में वह हेमा से भी मिलने गया। बड़े प्रेम से हेमा ने उससे बातें कीं। उसने उसे मिठाई मँगाकर खिलाई, सिगरेट का पैकेट मँगवाकर ज़बरदस्ती उसके जेब में डाल दिया और कहा—"कल शाम को आजाना। हम तुम्हारे साथ सिनेमा देखने चलेंगे। अच्छा।"

वीरेन्द्र ने उसको पहले से अच्छी दशा में देखकर कोई प्रसन्नता नहीं प्रकट की। उसने यही कहा—"बहुत जल्दी मैं तुमको यहाँ से अलग कर दूँगा। तब हम लोग एक साथ रहेंगे।" उस समय हेमा उसको इकटक देखती रह गयी। उसने आँखों में आँसू भरकर कहा—"सच-सच बताओ बाबू, क्या ऐसा कभी होगा ? क्या मैं कभी भले घर की बहू की तरह एक मर्यादा का जीवन बिताऊँगी ? क्या हमारे दिन भी फिरेंगे ? तुम्हें हमारी क़सम बाबू, सच-सच बताओ, तुम मुझे धोखा तो नहीं दे रहे हो !"

तब वीरेन्द्र को कहना पड़ा था—"तुम विश्वास करो हेमा, ऐसा होकर रहेगा।"

उसने कहा था—"हमारे इस नगर में जितनी गन्दी नालियाँ हैं, सब का मल-मूत्र जब गंगा में जाकर मिल जाता है, तब आगे बढ़कर बक्सर तक पहुँचते-पहुँचते वह सब भी अन्त में गंगाजल ही कहलाता है। पतन के कीड़े जब उत्थान की तरफ़ बढ़ते हैं, तब मर-मराकर वे मिट्टी में मिल जाते और भूमि बन जाते हैं। तुम्हें मालूम नहीं हेमा, कमल जो ऊपर से इतना खिला रहता है कितना सुन्दर मालूम पड़ता है ! स्त्रियाँ उसे वेणी में खोंसकर जब अपना शृंगार करती हैं, तब उनकी छवि कितनी गौरवोन्मुख हो उठती है ! गृहदेवियाँ एकबार कमल की संगति पाकर उसी की तरह खिल उठती हैं। मगर उसी कमल की जड़ उस कीचड़ में फँसी रहती है, जो बहुत ही गन्दा और बदबूदार होता

है ! तुम्हें मालूम नहीं हेमा, साधना के पथ पर अग्रसर होनेवाला कोई भी व्यक्ति तीर्थयात्री ही कहलाता है। किसमें साहस है जो उन्हें हीन और पतित कहने की धृष्टता करे ?"

वीरेन्द्र की इन बातों को सुनकर हेमा की आँखें भर आयी थीं। उसने कहा था—"अगर ऐसी बात है, तो तुम मुझे आज यहाँ से ले चलो। मैं फटे कपड़े पहनकर, भूखी रहकर, धर्मशाले के दरवाज़े पर सोकर कुछ समय बिता दूंगी; मगर अब मुझसे यहाँ इस तरह रहा नहीं जाता—एक दिन नहीं, एक मिनट नहीं। कहो तो अभी मैं तुम्हारे संग चलूं !"

इस पर वीरेन्द्र ने उसे आश्वासन दिया था—"देखो, मैं कोशिश करूँगा। अगर सोनेलाल ने मुझे रुपये दे दिये, तो मैं बहुत जल्दी तुमको यहाँ से ले जाऊँगा।"

इस प्रकार वीरेन्द्र कम्पोज़िग सीख लेने में दत्तचित्त होकर लग गया था और इधर तो उसने अपना अभ्यास यहाँ तक बढ़ा लिया था कि वह समाचार-पत्र के पाँच कालम तक कम्पोज़ करने लगा था।

पर इसी अवस्था का एक दूसरा पहलू भी था। वह था—गयादीन के घर उसका बहुत गम्भीरतापूर्वक जीवन व्यतीत करना। वह उसकी स्त्री से तभी बोलता था, जब कोई चीज़ उसे माँगनी होती थी और घर के परिश्रमसाध्य कामों में तो वह तुरन्त आगे बढ़ जाता था। यहाँ तक कि कुछ ही दिनों में गयादीन यह समझने लगा था कि अगर वीरेन्द्र मेरे यहाँ बना भी रहे, तो मुझे कोई तकलीफ़ न होगी।

अब जाड़े के दिन आ गये थे। गयादीन सपत्नीक कोठरी के भीतर सोता और वीरेन्द्र टीन के नीचे। लेकिन वीरेन्द्र की गम्भीरता का यह हाल था कि वह जब लेट जाता, तो हेमा के सम्बन्ध में नाना कल्पनाओं और आयोजनों की बातें सोचने के अतिरिक्त कोई बात न करता। चुपचाप लेटा रहता। सुबह होती और कोठरी के किवाड़ खुलते, तो

गयादीन यह देखकर आश्चर्य में पड़ जाता कि वीरेन्द्र उठकर नहा-धो चुका है और उसके हाथ में इस समय या तो कोई समाचारपत्र है या पुस्तक !

जो क्रम अवनति का होता है, वह किसी का मुँह देखकर नहीं चलता। इसलिए कि उसकी गति को अवलम्ब की भीख की आवश्यकता नहीं पड़ती; किन्तु वह क्रम जो उन्नति का होता है, अपनी वेशभूषा, चाल-ढाल और बातचीत ही नहीं, मुद्राओं और भंगिमाओं से भी घोषणाएँ करता, नारे लगाता तथा विजय-दुंदुभी बजाता हुआ आगे बढ़ता है।

वह सोमवार का दिन था और सरदी यकायक बहुत बढ़ गयी थी। रातभर वर्षा हुई थी और उसके बाद आज भी दिनभर रिमझिम वर्षा होती ही रही। वीरेन्द्र एक रेस्तोराँ से उठकर एक मित्र के यहाँ जाने के लिए जो एक गली के अन्दर प्रवेश करने लगा, तो हेमा उसे देखकर रो पड़ी। वीरेन्द्र जो उसके पास गया, तो वह उससे लिपट गयी और बोली—"बाबू, तुम कहाँ थे अबतक ? हाय ! मैं तुमको खोजते-खोजते हार गयी !"

वीरेन्द्र ने पूछा—"मगर तुम रो क्यों रही हो हेमा ?"

हेमा इसके उत्तर में और भी अधिक ज़ोर से रो पड़ी और उसी क्रन्दन के स्वर में बोली—"यह मत पूछो बाबू। बस, मुझको किसी अस्पताल ले चलो।"

वीरेन्द्र बहुत घबरा गया। बोला—"आख़िर क्यों हेमा ?"

हेमा ने उत्तर दिया—"कहती तो हूँ—यह मत पूछो बाबू। बस मुझे अस्पताल ले चलो। अभी ले चलो बाबू।"

संयोग की बात कि उस दिन वीरेन्द्र के पास टका न था! क्या करे, क्या न करे, कुछ भी उसकी समझ में नहीं आ रहा था। अन्त में हेमा को साथ लेकर वह सोनेलाल के यहाँ जा पहुँचा।

संयोग चाहे अनुकूल हों या प्रतिकूल, उनमें परस्पर भाईचारे का नाता होता है। सोनेलाल भी उस समय घर पर न मिला। यों भी उस समय वह अकेला रहता था। पर आज उसके घर में ताला लगा हुआ था! उसने जो पड़ोस में पूछा, तो मालूम हुआ कि वह गाँव गया हुआ है और कल लौटेगा।

उस समय सन्ध्या के सात बजे थे और उस गली में सन्नाटा छाया हुआ था। वीरेन्द्र ने एक बार इधर देखा, एक बार उधर। यह गली लाइट-पोस्ट के ठीक सामने पड़ती थी। मगर संयोग की बात कि उसका बल्ब 'फ़्यूज़' हो गया था और गली में अँधेरा था। सड़क पर हेमा खड़ी थी। सोने के मकान से लौटकर जो वीरेन्द्र हेमा के पास पहुँचा, तो बोला—"सोनेलाल घर पर नहीं मिला हेमा। अब क्या करूँ ?"

तब एक बार फिर वह मन-ही-मन निराश और निरुपाय होकर बुझ गया। परन्तु उस समय हेमा जब खड़ी न रह सकी और वहीं बैठने लगी, तभी उसके फटे चप्पल के नीचे एक कील पड़ गयी। वह उस कील को जब वहाँ से हटाने लगी, तो वीरेन्द्र ने पूछा—"क्या है ?"

हेमा ने उत्तर दिया—"कुछ नहीं, एक कील थी।"

वीरेन्द्र झट बोल उठा—"कील ? लाओ दिखलाओ तो।"

और उसने वह कील झट हाथ में ले ली। देखा, बहुत पतली कील है और उसकी नोक तो और भी तेज़ है। तब उसके मुँह से निकल गया—"मैं अभी आया।" और वह झट सोनेलाल के उस खपरैलवाले मकान के दरवाज़े पर जा खड़ा हुआ। ताला बहुत क़ीमती न था। प्रयत्न करते-करते वीरेन्द्र ने उसी कील से दरवाज़े का ताला खोल लिया। कोठरी के आगे जो रसोईघर था, वहाँ पीतल का एक वज़नी कलसा रक्खा हुआ था। तब वह झट उसी कलसे को लेकर बाहिर आ गया।

सड़क पर अब भी कोई न था और पानी अब भी रिमझिम बरस रहा था। द्वार पर ताला ज्यों-का-त्यों लगाकर वीरेन्द्र झट सड़क पर आ

गया। उस कलसे को बेचकर उसने नौ रुपये प्राप्त किये और झट वह मूलगञ्ज में आकर एक खाली रिक्शे में हेमा के साथ बैठ गया।

तीसरे दिन जब वह हास्पिटल से हेमा को लेकर लौटा, तो एक रिक्शे में बैठते-बैठते हेमा बोली—"अब मैं किसी आदमी के यहाँ नहीं रहूँगी। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आज की दुनियाँ में हरेक आदमी साँप हो गया है। डस लेने की उसकी आदत पड़ गयी है। तुम जल्दी कोई इन्तजाम करो बाबू, नहीं तो मैं मर जाऊँगी!"

इसके बाद कई दिन तक हेमा एक धर्मशाले के आगे भिखमंगों के बीच में बनी रही।

अब वीरेन्द्र और भी तेजी के साथ कम्पोज़िंग सीखता और जब काम से छुट्टी पाकर गयादीन के यहाँ खाना खाकर निश्चिन्त होता, तो दस बीस मिनट के लिए रात को वह हेमा से ज़रूर मिल जाता। नित्य दोनों में बातें होतीं। नित्य वीरेन्द्र हेमा को धीरज दिलाता। अन्त में वह यही कहता—"घबराओ मत हेमा, संकट के दिन भी एक सीमा रखते हैं।"

और एक दिन अन्त में ऐसा आ ही गया ब वीरेन्द्र ने कह दिया—"भाई गयादीन, मैंने मकान ले लिया है और अब मैं वहीं जा रहा हूँ।"

गयादीन को यह सुनकर आश्चर्य तो हुआ ही; लेकिन कुछ थोड़ा दुःख भी हुआ। वह दुःख जो मैत्री, सान्निध्य, संगति और सहयोग से वंचित होने पर होता है; एक शब्द में सामाजिकता के वियोग का।

गयादीन ने कहा—"वीरेन्द्र बाबू, आपको इस घर में कोई आराम तो मिला नहीं, फिर भी मुझे खुशी है कि आपको काम मिल गया और आप इस योग्य हो गये कि अब आपको किसी के सहारे की जरूरत नहीं है।"

सामान तो वीरेन्द्र के पास कुछ विशेष था नहीं। एक फटी दरी, एक चद्दर, एक पुरानी तकिया और मामूली-सा ट्रंक था। वही उसने रिक्शे पर

रख लिया था। इसलिये इस समय अधिक कुछ न कहकर उसने यही उत्तर दिया—"उपकारों और एहसानों का कोई बदला नहीं होता भैया। लेकिन मानवता की परख का एक साधन तो वह होता ही है। उस दिन तुमने रास्ते चलते हुए मिलकर मेरा जो साथ दिया, मेरे जीवन में उसका एक ऐतिहासिक महत्व रहेगा। मैं सदा यही सोचता रहूँगा कि सहोदर न होने पर भी गयादीन मेरा सगा भाई है।"

इतना कहकर जब वीरेन्द्र रिक्शे पर बैठने लगा तो उसकी पत्नी घूँघट के भीतर आँसू गिरा रही थी और गयादीन अवसन्न बना हुआ कुछ ऐसा प्रतीत होता था, जैसे अभी-अभी एक यज्ञ करके उठा हो! उसने एक ऐसा काम किया है, जो कोई पुरुषार्थी और पुण्यात्मा राजा ही कर सकता है! वह सोच रहा था कि उसने जो कुछ किया वह उपकार समझकर नहीं किया। अपनी रुचि से किया है, अपनी तबीयत से किया है। लेकिन उसनें जो कुछ भी किया, उससे एक नवयुवक का जीवन तो बन गया। और यही सन्तोष उसके लिए बड़ी चीज़ है। क्योंकि भगवान सबको देखता है, सब कुछ देखता है।

उधर नाना कल्पनाओं में डूबा हुआ वीरेन्द्र रिक्शे पर दौड़ा चला जा रहा था। इधर गयादीन की पत्नी रुपये-रुपये के पचास नोटों की गड्डी को धीरे-धीरे दुबारा गिनती हुई मन ही-मन-सोच रही थी—'अब ये रुपये मैं इनको न दूँगी—ऐरन बनवाऊँगी 'ऐरन!'

महत्त्वाकांक्षाओं की सृष्टि प्राय: तब हाती है जब मनुष्य जीवन-संघर्ष से अलग खड़ा होकर एक बार तृप्ति का अवसर पाता है। तृप्ति आंशिक है कि पूर्ण—इसका विचार वह उस क्षण नहीं करता।

: १६ :

कई दिन के बाद आज प्रदीप की तबीयत ठीक थी। बीच में सिर का दर्द बढ गया था और ज्वर तो थोड़ा बना ही रहता था। खाना छूट गया था और वैद्यजी की व्यवस्था के अनुसार केवल दूध और अनार मात्र वह ले पाता था। दाढ़ी बढ़ गई थी और कहीं आना-जाना दूर रहा, घर के बाहर निकलना भी दुष्कर हो उठा था। लेकिन मिलने-जुलनेवाले और मित्र लोग अकस्मात् जब आ जाते तब उनको बैठालना, उनके सामान्य स्वागत का ध्यान रखना और उनसे बातें करते रहना तो आवश्यक हो जाता था।

उस दिन रविवार था और शीला की छुट्टी थी। इसलिए उसकी कई सखियाँ भी आयी हुई थी। बात यह थी कि आज उसके यहाँ एक साहित्य-गोष्ठी थी, जिसकी अध्यक्षता के लिए प्रदीप पहले से स्वीकृति दे चुका था। शीला ने पहले तो यह कहकर मना कर दिया था कि आजकल भैया अस्वस्थ है—वे ऐसे समय साथ बैठ न पायेंगे परन्तु जब यह मालूम हो गया कि अब उनका स्वास्थ्य ठीक है तो गोष्ठी के मन्त्री रामभजन द्विवेदी ने कहा—"ऐसा ही है तो गोष्ठी हम उन्ही के घर पर कर लेंगे।"

इस प्रकार प्रदीप को इस गोष्ठी के लिए समय निकालना ही पड़ा।

आठ बज गये थे और पय-परिषद की गाड़ी दरवाजे के पास खड़ी हुई दुग्ध-वितरण कर रही थी। अन्दर से शीला की आवाज आ रही थी—"अजीब हाल है। मै नहाने के लिए कब से प्रतीक्षा कर रही हूँ और अम्मा अभी तक नहाकर लौटी ही नहीं है।—अरे ओ, कालूराम एक कप चाय और ज्यादा बना लेना।" फिर मन-ही-मन कह लिया—'मगर एक कप क्यों, दो कप!' फिर जोर से कह दिया—"अरे एक नही दो कप!"

द्वार की सड़क पर दोनों तरफ़ झोलों में दैनिक और साप्ताहिक पत्रों को भरे हुए 'हाकर' चिल्लाता जा रहा था—"इण्डोनेशिया के प्रधानमन्त्री बोले—हमारा और हिन्दुस्तान का चोली-दामन का साथ है।"

चारपाई पर लेटा हुआ प्रदीप धूपबत्ती के उड़ते हुए धुएँ के सफ़ेद लच्छों पर फूंक मारता हुआ सोच रहा था—'वीरेन्द्र का कुछ हालचाल नहीं मिला। फिर उसे याद आ गयी उस कुंजबिहारी की, जो उस दिन शिक्षा-संस्थाओं की आलोचना करते-करते कुछ ताव में आ गया था। और इसी सिलसिले में उसे अरुणा की भी याद हो आयी। फिर उसको कुछ अपना भी ध्यान हो आया। वह सोचने लगा—'उस दिन मुझे जाने क्या हो गया था। आज वे सब बातें सोचता हूँ तो मुझे अपने आप पर हँसी आती है!'

इतने में शीला आकर बोली—"भैया, आप इनको पहचानते हैं?"

प्रदीप ने जो उसकी ओर देखा, तो वह यह देखकर दंग रह गया कि संकोच में डूबी अरुणा सामने खड़ी है। प्रदीप उसको देखकर अपना प्रकृत उल्लास दबा न सका।

अरुणा बोली—"हमारे नाटक में भी एक स्थल पर राजा नल बीमार पड़े थे।" और कुरसी पर बैठती-बैठती खिलखिलाकर हँस पड़ी।

हँसना किसको अच्छा नहीं लगता? फिर एक रूप-गर्विता नारी का हास!

प्रदीप उत्साह में आकर दायें पैर को बाँये पैर के घुटने पर टेकते-टेकते बोला—"क्या उस समय दमयन्ती ने राजा नल को हंस के द्वारा कोई सन्देश भी भेजा था?"

"अवश्य भेजा था।"

"उस सन्देश में दमयन्ती ने क्या कहा था ?"

इतने में शीला बोल उठी—"तू भी चला आ, चली आ तारिणी ! देख ले आकर, हमारे यहाँ नाटक शुरू हो गया।"

थोड़े साहस के साथ अरुणा ने उत्तर दिया—"दमयन्ती ने एक ऐसा काग़ज़ भेजा था जिसकी भूमि काली थी, किन्तु जिसमें पोस्ते के से सफ़ेद-सफ़ेद दाने अगणित संख्या में बिखरे हुए थे। और कागज़ उसका कई पर्तों को लेकर मुड़ा हुआ था। हंस ने वही काग़ज़ राजा नल को दे दिया था।"

और इतना कहकर अरुणा ने पूछा—"पर मेरी तो कुछ समझ में नहीं आया दद्दा कि इसका मतलब क्या हुआ।"

इतने में शीला धीरे से बोल उठी—"देख तारिणी अरुणा ने भैया को कैसा फाँस लिया ! मज़े की बात यह है कि अब भैया को उत्तर देना ही पड़ेगा। मैं कह जो रही थी कि अरुणा आयी नहीं कि मकड़ी का-सा जाल उसने फैलाया नहीं !···अरी चुप रह, चुप रह। भैया कुछ कह रहे हैं।"

प्रदीप ने मुसकराते हुए उत्तर दिया—"देखो अरुणा, तुम इस तरह के प्रश्न अपने प्रोफ़ेसर साहब से ही किया करो। मैं कोई तुम्हारा शिक्षक तो हूँ नहीं ?"

तब संकुचित अरुणा कुछ ढिठाई के साथ बोली—"इस तरह का उत्तर तुम भी दद्दा उन लोगों को दिया करो जो तुमको पहचानते न हों। बताओ बताओ, टालो नहीं !"

तब प्रदीप हँस पड़ा। बोला—"देखो अरुणा, मैं ठीक-ठीक तो कह नहीं सकता। लेकिन मेरे मन में जो कल्पना उठती है, वह यह है कि रात अँधेरी है, इसलिये इस काग़ज़ की पृष्ठभूमि भी बिलकुल काली है और इसमें सफ़ेद-सफ़ेद जो पोस्ते के-से दाने झलक रहे हैं वे सब

तारागण हैं। दमयन्ती रातभर तारे गिनती है। पृष्ठभूमि काली है, इसका तात्पर्य यह हुआ कि उसके सामने अंधकार है। और यह जो कागज़ मोड़कर दिया गया है, इसका अभिप्राय यह है कि वह पलँग पर पड़ी-पड़ी करवटें बदलती रहती है। तात्पर्य यह कि कागज़ के जो मोड़ हैं, वे दमयन्ती की करवटें हैं !"

प्रदीप के इस उत्तर पर शीला, अरुणा, तारिणी सब-की-सब हँस पड़ीं। तारिणी बोली—"वाह दद्दा वाह, आप तो कमाल करते हैं ! मैं अपने पण्डितजी से कहूँगी कि आपके चरणों के निकट बैठकर अभी कुछ दिन सीखें और तब हम लोगों को पढ़ाने के लिए कालेज की भूमि पर पदार्पण करें !"

और शीला अरुणा की ओर देखती हुई बोल उठी—"कहो दीदी, तबीयत हरी हो गयी कि अभी और कुछ बाक़ी है ? भैया आपने वो बाँका जवाब दिया है, वो बाँका जवाब दिया है कि अरुणा अब इसके आगे तो कोई प्रश्न करने का साहस कभी कर न पायेगी !" और इतना कहकर कुछ सिर उठाकर अरुणा की आँखों में आँखें डालती हुई वह बोली—"क्या ख्याल है तुम्हारा ?···ओ हो, आइये आइये रामभजन साहब, बहुत जल्दी आप आये। मंत्रियों को तो तभी आना चाहिये जब गोष्ठी की कार्यवाही क़रीब-क़रीब समाप्त होने पर हो !"

द्विवेदीजी बोले—"वो, बात यह हुई कि मैं ज्योंही घर से निकलकर दरवाज़े पर आया···।

"त्योंही एक ऐसा नापित आपके सामने पड़ गया, जो काना था। बस आसन ढीले पड़ गये और गाड़ी वहीं ठप्प हो गयी। क्यों ?" शीला ने हँसते हुए वाक्य पूरा कर दिया।

द्विवेदीजी के इस कथन पर सब लोग हँस पड़े। अरुणा को भी बोलने का अवसर मिल गया और सिरसे खिसकती हुई साड़ी को सम्हालते हुए उसने कह दिया—"गाड़ी तो आपकी सचमुच छूट गयी। लेकिन

अपने मौलिक विचारों का परिचय आपने आज खूब दिया !···मेरा खयाल है, आपने जब जन्म लिया होगा, तब दरवाज़े पर ताँसा और ढोल ज़रूर बजा होगा !"

तारिणी शीला के कान मे कहने लगी—"और स्कूल-कालेजों में भी मुहर्रम के कारण छुट्टियाँ हो गयी होंगी !"

बात अभी समाप्त न हो पायी थी कि शीला बोली—"साढ़े आठ बज गया और हमारी गोष्ठी का कोरम भी आज पूरा होता दिखाई नही दे रहा है !"

तारिणी ने इसी समय प्रश्न कर दिया—"और तो और रंजना भी नही आयी।"

शीला उसकी ओर घूरकर रह गयी। लेकिन अरुणा से बिना बोले न रहा गया। धीरे से पीछे खिसक कर उसने तारिणी के कान में कह दिया—"तुम बिलकुल बुद्धू हो। वह भला यहाँ कैसे आ सकती है। तुम्हें मालूम नही, दद्दा के साथ उसकी सगाई···क्यों [शीला की ओर देख कर उसने पूछा] ठीक है न ?"

शीला ने ज़रा और पीछे हटकर, धीरे से, उत्तर दिया—"हाँ, बात चल रही है।"

अरुणा ने यह बात अनुमान से ही कही थी; क्योंकि अरसा हुआ, उसने रञ्जना के घर प्रदीप को देखा था। यद्यपि उस समय उसे विश्वास नही हो रहा था कि प्रदीप इस सम्बन्ध को स्वीकार करेगा। अतएव यह विषय अब कितना और आगे बढ़ चुका है, इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही उसने यह बात कह डाली थी। यद्यपि मन-ही-मन वह कुसमुसाकर रह गयी थी। किन्तु कोई चारा नही था, क्योंकि काँटे तो मार्ग मे उसने स्वयं ही बिखेर लिये थे।

इस समय ज्योंही शीला ने उसके अनुमान का समर्थन किया, त्योंही

अरुणा कुछ अप्रतिभ-सी हो उठी। आज उसे प्रतीत हुआ कि प्रदीप ने उसे ठुकराकर जिस प्रकार का उत्तर दिया है वह उसके जैसे स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए सर्वथा स्वाभाविक है।

दुःख तो उसको बहुत हुआ और एक प्रकार से उसका हृदय बैठ-सा गया, किन्तु अब वह मन-ही-मन प्रदीप को और भी अधिक आदर के साथ देखने लगी।

जीवन के युद्ध में हार जानेवाले बिरले ही योद्धा इतने वीर निकलते हैं, जो विजयी की बड़ाई केवल इसीलिए करते हैं कि वे सहज ही पाँसा पलट देने में कृतकार्य हो जाते हैं। सफलता का गौरव जब प्रतिहिंसा के ऊपर उठ जाता है, तब उसकी प्रतिहिंसा भी शिथिल और ध्वस्त होकर, सम्मान और श्रद्धा के साथ-साथ, भक्ति और अगाध प्रेम में परिणत हो जाती है।

इतने में रसोइया महराज ने आकर पूछा—ले आऊँ सरकार?"

शीला बोली—"अभी ठहरो।"

इसी क्षण गोष्ठी के दो-तीन सदस्य और आ गये। रसोइया महराज जब जाने लगा, तो शीला ने उससे कह दिया—"अब ठहरो मत, ले आओ।"

द्विवेदीजी अब प्रदीप के पास खिसककर बोले—"तबीयत आपकी कुछ और ठीक हो जाय, तो मैं चाहूँगा कि एक दिन आप मेरे कालेज में भी अवश्य पधारें।"

प्रदीप ने उत्तर दिया—"बिलकुल अप्रासंगिक बात है। अध्यापक-समुदाय का जो एक सीमित दृष्टिकोण होता है, जीवन की व्यापकता को शिक्षा-शास्त्र की सीमाओं के भीतर रहकर नापने का—परीक्षा के दृष्टिकोण से उनका जो एक सुलभ और प्रचलित विधान होता है—वही आप लोगों के लिए अधिक निकट भी है और हितकर भी।"

तारिणी धीरे से अरुणा से कुछ पूछ रही थी कि शीला ने आँखें चढ़ाकर होठों के बीच तर्जनी खड़ी करके उसे रोक दिया। तभी प्रदीप

बोला—"इसीलिए धीरे-धीरे मेरा यह विचार दृढ़ हो गया है कि सम्मान और कीर्ति के लोभ में पड़कर जो लोग कभी कोई अनधिकार चेष्टा कर बैठते हैं, गति के नये मोड़ एक दिन उन्हें स्वत: आगे बढ़ने से रोक देते हैं।"

इतने में रसोइया महराज चाय ले आया और अरुणा ने द्विवेदीजी से पूछा—"और उस एकाक्ष नापित के पुण्यदर्शन के पश्चात् जब आप थोड़ा आगे बढ़े तो बिल्ली रास्ता नहीं काट गयी ?"

इस बार द्विवेदीजी ने तैयार होकर उत्तर दिया—"कहते हैं दमयन्ती को लेकर राजा नल जब महल से बाहर हुए थे तब बिल्लो ही रास्ता काट गयी थी !"

जिस समय द्विवेदीजी नें यह उत्तर दिया, प्रदीप मुसकराने लगा और शीला ने अरुणा की ओर संकेत करते हुए कह दिया—"कहिये, अब क्या ख्याल है आपका ?"

तारिणी बोली—"निकालिये रजिस्टर मन्त्री महोदय, सुनाइये पिछली बैठक की कार्यवाही।"

द्विवेदीजी तारिणी का यह प्रश्न सुनकर हक्के-बक्के रह गये। बोले—"अरे, कार्य-विवरण का रजिस्टर तो मैं भूल ही आया। बड़ा गड़बड़ हुआ !"

अब शीला के मुँह से निकल गया—"तब आपकी संस्था खूब चलेगी। मगर एक बात है, नापितों का जरा ख्याल रखियेगा। विशेष रूप से उनका जो एकाक्ष जाति के हैं। क्या आप घर से छान-छूनकर चले थे ? सुना दद्दा, यह हाल है इनका ! अविश्वास का प्रस्ताव लाने का काम किया है इन्होंने। बतलाइये अब क्या करें ?"

प्रदीप उठता हुआ बैठ गया और बोला—"मेरे पास एक ही बल है। और वह है न्याय का। उसके आगे मैं किसी प्रकार की शिथिलता, असावधानी, आलस्य और निकटता के नाते को कभी स्वीकार नहीं

करता। जो लोग सांस्कृतिक और सार्वजनिक सेवा के क्षेत्रों में आकर अपना उत्तरदायित्व नहीं समझते, उनके साथ मैं दया, क्षमा और उदारता का व्यवहार कभी पसन्द नहीं करता। कोई आप लोगों की गोष्ठी का संयोजक हो या मन्त्री, अथवा साधारण सदस्य ही क्यों न हो, अगर उसने अपने भाग के कर्तव्य-पालन में कोई त्रुटि की है, तो उसे इसका फल भोगना ही पड़ेगा। आजकी गोष्ठी के कार्य-विवरण में बस यही लिख दिया जाय कि मन्त्री महोदय पिछली बैठक का कार्य-विवरण अपने साथ नहीं लाये, इसलिये आज की बैठक स्थगित की जाती है। द्विवेदीजी, मैंने जो कुछ कहा, उसे आप एक सादे कागज़ पर ही लिखकर उस पर अभी मेरे हस्ताक्षर करालें और फिर उसे कार्य-विवरण के रजिस्टर में यथास्थान चस्पा कर लें।"

गोष्ठी में जितने लोग उपस्थित थे, सबके सब हक्के-बक्के रह गये! कोई इस सम्बन्ध में बोलने का साहस न कर सका। तब द्विवेदीजी ने विवश होकर प्रदीप के आदेशानुसार उनका कथन लिखकर, उसपर उसके हस्ताक्षर करा लिये।

सब लोग उठकर जब चले गये तब अन्त में रह गयी शीला और अरुणा।

प्रदीप ने अनुकूल अवसर देखकर कह दिया—"मैं आशा करता हूँ अरुणा, तुमको मेरा निर्णय बुरा नहीं लगा होगा।"

अरुणा इसके उत्तर में उठकर खड़ी हो गयी और बोली—"दुनियाँ चाहे जितना बुरा माने, पर आप सदा इसी तरह, सूर्य की भाँति तपते रहेंगे और इस बात की बिल्कुल चिन्ता न क ेंगे कि कौन क्या कहता है। मैं आपसे यही आशा रखती थी।"

कालूराम चाय के बर्तन उठाने आ पहुँचा और शीला अरुणा के साथ चल दी। पर कालूराम जब चाय के बर्तन उठाने लगा तब उसने देखा, एक कप जो ज्यों-का त्यों रखा हुआ है उस पर एक मक्खी उतरा रही है!

किसी ने नहीं देखा था; देखा भी तो इस बात को पी ही गया कि यह कप और किसी का नहीं, द्विवेदीजी का था !

: २० :

बड़ेसाहब की पत्नी अपने पिता के यहाँ गयी हुई थीं, जो नगर ही में रहते थे। बिरहानारोड पर फर्नीचर की उनकी एक दूकान थी। पौत्रजन्म के उपलक्ष में उन्होंने अपनी बेटी को बुला लिया था। इन देवीजी को सदा इस बात की शिकायत बनी रहती थी कि आभूषणों में और तो सब मेरे पास हैं; केवल एक तगड़ी नहीं। और तगड़ी के बनवाने में रुपये लगभग पाँच हज़ार लगते थे। उधर बड़ेसाहब में दुर्बलता यह थी कि वे देवीजी के किसी प्रस्ताव पर ना तो कर ही न सकते थे। परिणाम यह हुआ कि उन्हें वचन दे देना पड़ा—"अच्छी बात है। कोई अवसर देखकर मैं तुमको शीघ्र ही तगड़ी बनवा दूँगा।"

संयोग की बात कि एक दिन उन्होंनें कह दिया—"सुनते हो ?"

बड़े साहब बोले—"क्या ?"

श्रीमतीजी ने उत्तर दिया—"हमारे भैया के पुत्र होनेंवाला है।

आश्चर्य के साथ बड़े साहब बोले—"अच्छा ! बड़ी ख़ुशी की बात है।"

अब श्रीमतीजी मुसकराती हुई बोल उठीं—"तो बस, ऐसे अवसर पर अपना वादा पूरा कर दो।"

बड़ेसाहब ने वचन देते हुए कह दिया—बहूरानी बोलीं—वहाँ से हमको कुछ-न-कुछ मिलेगा ही। उसी में चार हज़ार, साढ़े चार हज़ार, जितना रुपया लगाने की ज़रूरत हो, लगा दो तो तगड़ी बन जाय।

अम्मा से कह देना कि भतीजा होने की खुशी में तुम्हारी बहू को मिला है।"

वैसे चाहे यह नुस्खा कारगर न होता, लेकिन साड़ीवाले मामले में उनको कुछ ऐसा मालूम पड़ा कि अगर अम्मा को इस अवसर पर साध न लिया गया, तो कुछ गड़बड़ हुए बिना न रहेगा। क्योंकि वह ठहरीं हठी स्वभाव की। अनिष्ट करने पर तुल जाँयगी, तो कुछ भी कर उठना उनके लिए सरल होगा। इसलिए दूसरे दिन वे वैसी ही साड़ी माँ के लिये ले आये थे और उन्होंने कह दिया था—"रुपये तुम दस ही दे दो। बाक़ी मैं लगा दूँगा।" इस तरह उस विवाद को उन्होंने जहाँ-का-तहाँ दबा दिया था।

दीपावली का भोर था। बड़ेसाहब ने घर में आकर कह दिया—"अम्मा, वो तुम्हारे समधियाने में तुम्हारी बहू के भतीजा हुआ है।"

चश्मा के साथ आँखें ऊपर करती हुई अम्मा बोली—"चलो, वंश तो चला लालाजी का। भगवान करे पोता जिये-जागे। मुझे बड़ी खुशी हुई। अब क्या है, तेरी पाँचों घी में हैं! हज़ार-दो-हज़ार रुपये तो कहीं गये नहीं हैं।"

बड़ेसाहब नाक में अँगुली डालते हुए बोले—"अम्मा की बातें! बुड्ढा बड़ा घुटा हुआ है। तुम जानती नहीं हो अम्मा कि वह रुपये में तीन अठन्नी भुनाता है!"

अम्मा जमुहाई लेती हुई बोली—"तो तुम्हीं कौन कम हो बड़े! ऐसा दाँव फेंकोगे कि बुड्ढा चारों खाने चित्त हो जायगा। जो माँगो सो देगा।"

बड़ेसाहब ने देखा कि अब इसी जगह पर मुझे चुप हो जाना चाहिये; क्योंकि जब इनको इस बात पर पूरा विश्वास है कि मैं जो मागूँगा, सो मिलेगा; तो बस इसी युक्ति से अपना काम बन जायगा।

चार-पाँच हज़ार की रक़म थोड़ा-थोड़ा करके दो-एक महीने में निकाल ही लूँगा और कानों कान किसी को कुछ भी न मालूम हो सकेगा !

तब एक सन्तोष की साँस लेकर बड़ेसाहब बोले—"देखो क्या मिलता-मिलाता है। अभी से क्या कहा जा सकता है !"

अम्मा ने पान का बीड़ा मुँह में धरते हुए कहा—"अरे तो पाँच छै दिन की तो बात है। कहेनि कि नाऊ ठाकुर बाल कितने बड़े हैं, तो नउआ बोला—"सामने आये जाते हैं मालिक।"

बात यहीं समाप्त हो गयी। पाँच-छै दिन के बाद बड़ेसाहब ने घर में यह बात प्रचारित कर दी कि उन्होंने तगड़ी बनवा देने का वचन दिया है।

अम्मा ने सुना तो बोल उठीं—"मैंने तुमसे कहा न था कि यही एक मौक़ा है। जो माँगोगे सो मिलेगा।"

बड़ेसाहब कहने लगे—"वैसे तो न मिलता अम्मा, पर जैसा तुमने कहा था, मैं बिलकुल उसी ढंग पर चला। इसलिए काम बन गया। इधर तुम्हारी बहू को तगड़ी बनवाने का बड़ी लालसा भी थी।"

तब अम्मा ने कह दिया—"चलो बड़ा अच्छा हुआ। घर में एक बढ़िया चीज़ दिखलाने के लिए तो हो जायगी।"

बड़ेसाहब फिर काम में लग गये। आज उनको अपनी युक्ति के सफल होने की सम्भावना पर पूर्ण विश्वास हो गया और वे मन ही मन अपनी विजय पर गौरवान्वित हो उठे। शाम हुई और बड़े साहब ससुराल जा पहुँचे। जब श्रीमतीजी एकान्त में उनसे मिलीं तो उन्होंने यह वार्तालाप ज्यों-का-त्यों उनसे कह सुनाया।

सारी कथा सुनकर श्रीमतीजी बोलीं—"तो अब दूकान से रुपये निकाल लो। मौक़ा अच्छा है। यों तो तुम वादे ही करते रहते, पूरा

उसे कभी न कर पाते। मैं अम्मा से कह दूंगी। जब कभी कोई बात उठेगी, तो वे कह देंगी—हाँ-हाँ मैंने ही तो बनवाई है। मगर जल्दी करो। देरदार हो जायेगी, तो बना हुआ काम बिगड़ जायगा। मैं अब यहाँ से उसी दिन जाऊँगी, जब तगड़ी बनकर आ जायगी।"

बड़ेसाहब सिर खुजलाते हुए बोले—"रुपये चार हज़ार से कम नहीं लगेंगे !"

श्रीमतीजी ने उत्तर दिया—"चार हज़ार ! चार हज़ार में क्या होगा ! पाँच हज़ार से कौड़ी कम की तगड़ी नहीं होनी चाहिये।"

बड़ेसाहब ने पान की पीक को गले के अन्दर उतारते हुए उत्तर दिया—"मगर एकदम से पाँच हज़ार रुपये मैं कैसे निकालूंगा ? धीरे-धीरे हज़ार-हज़ार निकालूँगा, तो भी कुछ दिन तो लग ही जायँगे।"

श्रीमतीजी ने उत्तर दिया—"बस, अब तुम गड़बड़ कर रहे हो। मैं महीनों यहाँ थोड़े ही पड़ी रहूँगी। पन्द्रह दिन में नहान पड़ेगा। भाभी सौर से बाहर निकल आयेंगी और बस तभी मैं चली आऊँगी। लेकिन तब तक तगड़ी बन जानी चाहिये। ज़्यादा देर लगा दोगे, तो बात खुल जायगी। भेंट-उपहार आदि मौक़े पर ही दिये जाते हैं। तुम समझते तो हो नहीं इन सब बातों को।...जाओ, आज ही इन्तज़ाम कर लो। मैं अब कोई बहाना नहीं सुनूंगी।"

बड़े साहब कुछ सोच में पड़ गये तो श्रीमतीजी उत्साहित करती हुई बोल उठीं—"अरे किसी बड़ी रक़म के भुगतान में हाथ मार देना। इसमें अब सोच-विचार की कोई ज़रूरत नहीं।"

बात कुछ बड़ेसाहब के मन में जम गयी और तब वे मुसकराते हुए बोल उठे—"यह तुमने ठीक बतलाया। अच्छी बात है, मैं पूरी कोशिश करूँगा।"

श्रीमतीजी ने उल्लास की मुद्रा में कह दिया—"कोशिश-वोशिश अब

मैं एक न सुनूँगी। अब तुम जानो और तुम्हारा काम जाने। मैं जाती हूँ।"

इस तरह यह बात यहीं समाप्त हो गयी।

जिस समय बड़े साहब ससुराल में अपनी श्रीमती जी से ये बातें कर रहे थे, उसी समय मझले कान खुजलाते हुए लालाजी के पास आ पहुँचे और बोले—"बाबूजी, अम्मा बुला रही हैं।"

लालाजी मकान के अन्दर कमरे में बैठे हुए हनूमान-चालीसा पढ़ रहे थे—"भूत पिशाच निकट नहिं आवै, महाबीर जब नाम सुनावै। नाशै रोग, हरै सब पीरा, जपत निरन्तर हनुमत बीरा।"

अतः मझले की बात सुनकर लालाजी बोल उठे—"राम-राम शिव-शिव, अम्मा मुझको बुला रही हैं! मैं उनका कोई चपरासी हूँ, या हज्जाम! संतान जब बेवकूफ़ पैदा हो जाय तो बुद्धिमान व्यक्ति तो पागल हो ही जाता है! जाओ कह दो उससे—जो कुछ कहना हो, सो खुद आकर यहाँ मुझसे कह जाय। तुम कौन से दर्जे में पढ़ते हो?"

"आठवें में।"

"राम-राम शिव-शिव, आठवें दर्जे में पढ़नेवाले को कुछ अक़ल तो होनी चाहिए। अम्मा ने कह दिया और तुम झट वहाँ से बुलाने के लिए चल दिये। बदतमीज़! जाओ, अब खड़े क्यों हो?"

इस तरह मझले लौट गये। दो मिनट बाद श्रीमतीजी सिर पर धोती सँभालती हुई आ पहुँची। बोली—"तुम तो बच्चों पर बेकार बिगड़ उठते हो। यह तक नहीं जानते कि सभी लोटे एक ही साँचे के नहीं होते। किसी का मुँह ज्यादा खुला हुआ होता है किसी का कम। कोई मुरादाबादी कलई का होता है और कोई फूल का। जब देखो तब बच्चों को डाँटने लगते हो—अकल नहीं हैं, अकल नहीं है। बड़े अकलमन्द की वो बनते हो। इतना तक तो समझते नहीं कि अन्दर-ही-अन्दर कैसी खिचड़ी पक रही है।"

लालाजी बोले—"खिचड़ी ? राम-राम शिव-शिव, कैसी खिचड़ी ?"

श्रीमतीजी इधर-उधर देखती हुई वहीं पड़े हुए एक तख़्त पर बैठ गईं और बोलीं—"मैं एक बात तुमसे पूछती हूँ; बस एक बात। अच्छा बोलो—दूकान का हिसाब-किताब कब से नहीं देखा ?"

लालाजी बोले—"तुम क्या बक रही हो ! राम-राम शिव-शिव, अब मेरे हिसाब-किताब देखने के दिन हैं ! मैंने अब यह सब झंझट अपने सिर से उतार दिया है। बड़े सब देख-सुन रहे हैं। मैं उनके काम में दख़ल देना पसन्द नहीं करता।"

अब फिर चश्मेवाली आँखों को ऊपर उठाती हुई श्रीमती जी बोल उठीं—"इसमें दख़ल देनें की क्या बात है ? रोज़ न सही, पर कभी-कभी तो देख लिया करो।"

लालाजी हनूमान-चालीसा के खुले हुए पन्नों को उलटा रखते हुए बोले—"राम-राम शिव-शिव, कहती हो—हिसाब देख लिया करो, हिसाब देख लिया करो। मैं पूछता हूँ, हिसाब देखने की कोई बात भी हो ! तुमको क्या उस पर विश्वास नहीं है ? वह जो कुछ करता है, सब ठीक करता है। जाओ, खोपड़ी मत खाओ···यह शतबार पाठ कर जोई, छूटै बन्दि महासुख होई···।"

तब श्रीमतीजी सिर पर धोती सम्हालती हुई बोलीं—"अरे, मैं कहती हूँ कि विश्वास-इश्वास सब धरा रह जायगा। ऐसी बहू घर में आ गयी है कि लीप-पोतकर सब बराबर कर देगी ! आज बड़े सुना गये हैं कि तुम्हारी बहू तगड़ी बनवाने के लिये न जाने कब से कहती आ रही है। मैं खूब समझती हूँ, इन सब बातों को। पाँच हज़ार से कम में अच्छी तगड़ी नहीं बनती। और तुम्हारे समधी में इतनी दम है कि पोता होने की ख़ुशी में अपना घर इस तरह लुटा दें ! जब देखो तब माला की गुरिया आगे सरकाते हुए 'राम-राम शिव-शिव, राम-राम

शिव शिव' की रट लगाये रहते हो ! मैं कहती हूँ—यह तुम्हारे राम और शिव तुम्हारी ज़बान पर ही धरे रह जायँगे और तुम्हारे देखते-देखते एक दिन ये चिरंजीव दूकान का दिवाला निकाल बैठेंगे ! जिन बच्चों को देख-देखकर हम दोनों अपने ऊपर भगवान की कृपा और धन्य-भाग्य की बात सोच-सोचकर फूले नहीं समाते, उन बच्चों की जीविका और हम लोगों के बुढ़ापे की नैया पार लगाने के लिये घर में दमड़ी नहीं रह जायगी, दमड़ी ! इसलिए, कान खोलकर सुन लो—आँख खोलकर चलो आँख खोलकर। हर हफ़्ते हिसाब-किताब बही-खाता, हुण्डी-रुक्का, बैंक की कापी सब पाई-पाई जाँचते रहो। समझते हो कि नहीं ? बस, मुझे और कुछ नहीं कहना है। मैं जाती हूँ।"

श्रीमतीजी की बात सुनकर लालाजी सन्न रह गये ! यकायक उनके मुँह से निकल गया—"राम-राम शिव-शिव ! तुम यह सब मुझे क्या दिखला रहे हो !" और तब एक ही आध मिनट में उनकी आँखों से आँसू निकल पड़े।

: २१ :

आगे बढ़ते हुए जब कभी हम सिर घुमाकर पीछे की ओर देखने लगते हैं, तब हमारा मुख्य अभिप्राय यह जानने का होता है कि जिन परिस्थितियों व्यक्तियों और रूपों ने हमको विदा किया है, अब उनकी क्या दशा है, वे कैसे हैं, क्या सोच रहे हैं और कैसे प्रतीत होते हैं। इस प्रकार हमको यह जानने का अवसर मिलता है कि उन परिस्थितियों और स्थलों से हम कितना आगे बढ़ आये हैं। जो मर्मान्तक प्रभाव हमारे जीवन पर छाये रहते हैं, उनके सम्बन्ध और नाते भी

कभी-कभी हमें उन स्थलों को पुन: देखनें के लिए विवश कर देते हैं। जीवन के इतिहास का कोई भी अगला अध्याय अपने आप में तबतक पूर्ण नहीं होता, जबतक पिछले अध्यायों के साथ उसके विकास का क्रम स्पष्ट और पृथक् नहीं होता। इस प्रकार अवस्था और गुण को लेकर जीवन का कोई भी अतीत चाहे जितना निम्नकोटि का हो, पर भावी महत्व के साथ सम्बन्धित होने के कारण उसका अपना एक अलग मूल्य अवश्य होता है।

हेमाङ्गिनी जब वीरेन्द्र के साथ अलग मकान लेकर रहने लगी, तो वह इतनी प्रसन्न थी कि ठीक तरह से उससे खाना भी नहीं खाया गया। गृहस्थी कभी उसनें पाली नहीं थी, इसलिए वे सारी वस्तुएँ जो दैनिक उपयोग में आती हैं, वह इकट्ठी भी नहीं कर सकी थी। जो चीज़ आवश्यक ज्ञान पड़ती और जिसके विना किसी तरह काम ही न चलता, उसे लेनें के लिए वीरेन्द्र को बार-बार बाज़ार जाना पड़ता। चूल्हा, लकड़ी, तेल, मसाला, आटा-दाल, घी, बरतन, दियासलाई, नहाने-धोने के अलग-अलग साबुन—शृंगार की सामग्री, साग-भाजी, चटाई, झाड़ू, अँगीठी, कोयला; यहाँ तक कि हाथ मलने के लिए मिट्टी तक जब उसे लेनी पड़ी, तो वह थककर चूर हो गया।

हेमा ने जब खाना बनाकर तैयार किया उस समय एक बज गया था और वीरेन्द्र को भूख खूब कसकर लग आयी थी।

ऐसे समय हेमाङ्गिनी ने जब वीरेन्द्र के लिए थाली परोसी, तो वीरेन्द्र बोल उठा—"हाँ, अब शुरू करो।"

मुसकराती हुई हेमा ने भी कह दिया—"करो न शुरू ?

"पहले तुम !"

"नहीं, पहले तुम।"

"देखो, देर मत करो। पहले तो तुम्हीं ने पूछा था—बाबू पॉलिश कराओगे ? इसलिए पहले तुम्हीं शुरू करो।"

यह एक ऐसा धक्का था कि हेमाङ्गिनी छै महीने पूर्व के अतीत को देखने लगी। उस दिन की याद करके उसे दुःख ही हुआ। बोली—"उन दिनों की याद मत दिलाया करो।"

इतने में वीरेन्द्र ने कौर तोड़कर हेमा के मुँह की ओर कर दिया। बोला—"लो, अब तो खाओगी!"

हेमा की आँखें डबडबा आयी थी। पर वीरेन्द्र के इस प्यार ने उसके होंठ खोल दिये। और तब उसे ग्रास ग्रहण करना ही पड़ा।

अब हेमा की बारी थी। उसने कौर तोड़ा और आलू-टमाटर का साग उसमें भरकर वीरेन्द्र को खिला दिया, तो मुँह चलाते हुए उसने उत्तर दिया—"आज से हमारी नयी ज़िन्दगी प्रारम्भ होती है हेमा।"

हेमा ने उत्तर दिया—"और हर नयी ज़िन्दगी हमेशा नयी कहानी कहती है।"

वीरेन्द्र चुप रह गया। वह सोचने लगा—'कुछ ही दिनो मे हेमा-ङ्गिनी अपना सारा दुःख भूल जायगी। आज तो उसे उस दिन की याद दिलाने पर थोड़ा ही दुःख हुआ है, पर निकट भविष्य मे जब कभी ऐसा अवसर आयेगा—और आयेगा अवश्य—तब उसे सहन न होगा।

हेमा बोली—"लो, तुम फिर कुछ सोचने लगे!"

वीरेन्द्र ने हरी मिरच को दाँत से काटते हुए उत्तर दिया—"मै यही सोच रहा था हेमा, कि वह दिन भी कुछ उतना बुरा न था, जितना तुम समझ रही हो। उस समय हमारे जेब में पचास रुपये थे। आज भी सब सामान इकट्ठा करने में तीस से चालीस रुपये खर्च हो गये है और साठ के क़रीब बचे है। अन्तर इतना ही है कि उस दिन मै वह रुपये

अपने एक मित्र से माँगकर लाया था, किन्तु आज ये मेरी अपनी मेहनत की कमाई के हैं।

हेमा बोली—"बहुत बड़ा अन्तर है। लेकिन मेरे अन्तर की तो थाह ही नहीं है बाबू। उस दिन मैं रास्ते की एक भिखारिन थी, लेकिन आज तो मैं झरोखे की रानी हूँ।" अपनी यह बात कहती हुई हेमाङ्गिनी इतनी पुलकित थी कि उसकी आँखों की पुतलियाँ चमकने लगी थीं।

वीरेन्द्र बोला—"इस प्रसंग में मुझे एक बात और कहनी है। उस दिन विलग होते समय तुमने पूछा था—अब कब मिलोगे बाबू? मुझे आज यह स्वीकार करने में गौरव का ही अनुभव होता है कि अगर तुमने उस समय मुझसे यह बात न पूछी होती तो आज का दिन हमारे जीवन में कभी न आता।"

हेमा फिर चुप हो गयी और वीरेन्द्र सोचने लगा कि जान पड़ता है, इस तरह की बातें हेमा के हृदय पर घन चलाने लगती हैं! तब यह प्रसंग ही उसने बन्द कर दिया।

थोड़ी देर में वीरेन्द्र खाना खाकर चुपचाप लेट गया। यद्यपि आज अभी तक वह चारपाई का प्रबन्ध न कर सका था। हेमा ने फ़र्श को अच्छी तरह फिर से झाड़-पोंछकर साफ़ कर दिया था। पहले उसने टाट का एक बड़ा टुकड़ा बिछा दिया, उसके बाद उस पर दरी और फिर उस पर एक सफ़ेद चादर। तकिये का गिलाफ़ उसने साबुन से धोकर सूखने को डाल दिया था, जो अभी गीला था। अतएव उस मैले तकिया को उसने चादर के नीचे ढककर रख दिया।

वीरेन्द्र जब लेट गया, तो हेमा कोमल हाथों से सहला-सहलाकर धीरे-धीरे उसके पैर दाबने लगी। उसे इस समय उन क्षणों की याद हो आयी जब किसी भले घर में नयी बहू आती है, घर में सास-ननद, देवर-जेठ और ससुर उपस्थित होते हैं। ननद पास बैठकर हँसी

ग्रौर मनोविनोद की बातें करती हैं। मौसम के अनुसार उसे चाय, मिठाई, नमकीन, भोजन ग्रौर फलों के सत्कार से लाद दिया जाता है। बहुएँ कुछ खाती हैं ग्रौर कुछ छोड़ भी देती हैं। जो ननदें भाभी से अवस्था में छोटी होती हैं, वे तो साथ बैठकर एक थाली में भोजन करती हैं। कभी जो सिर में दर्द होने लगता है, तो ऐसी भी ननदें हैं, जो भाभी के सिर में तेल की मालिश करते हुए थोड़ा भी संकोच नहीं करतीं। कभी जो ज्वर हो ग्राता है, तो सास के रूप में माँ, थोड़ी-थोड़ी देर बाद यह पूछने ग्रा जाती हैं—बहू ग्रब कैसा जी है ?

हेमा ने अपनी रिश्तेदारियों तथा पास-पड़ोस के घरों में यह सब देखा था। ग्राज वे सारे दृश्य उसे स्मरण हो ग्राये। वह सोचने लगी—"काश, इस घर में ग्राज वैसा ही वातावरण मुझे भी मिलता !' यह सब बातें सोचते-सोचते ग्रौर साथ ही वीरेन्द्र के हारे-थके पैर दाबते-दाबते उसकी ग्राँखें भर ग्राईं, लेकिन तुरन्त फिर उसने ग्राँसू पोछ डाले ग्रौर वह सोचने लगी—'यह सब नहीं मिला, तो क्या हुग्रा, मुझको उसी तरह का एक स्वामी तो मिला ही है।' ग्रौर तब तुरन्त वह मन-ही-मन भगवान की इस करुणामयी सृष्टि पर द्रवीभूत हो उठी।

इस समय पौने दो बज रहे थे। पड़ोस के घर में कहीं रेडियो-संगीत गूँज रहा था। तब उसी वातावरण में वह स्वयं भी मन-ही-मन गाने ग्रौर फिर गुनगुनाने लगी।

"रघुवर तुमको मेरी लाज।
सदा-सदा मैं शरण तिहारी तुम बड़े गरीब निवाज।।"

धीरे-धीरे वह भावना में ऐसी डूब गयी कि उसको यह ध्यान ही न रहा कि वीरेन्द्र को नींद ग्रा गयी है। ग्रौर वह इस गीत को जैसे विधिवत गा उठी—स्वर ग्रौर लय के साथ। यहाँ तक कि वह गद् गद्

होकर आत्मविभोर हो उठी। थोड़ी देर में जब गीत समाप्त हुआ, तो वीरेन्द्र ने करवट बदली।

हेमा को कुछ ऐसा भान हुआ कि मेरे इस गीत को सुनकर ही तो कहीं ये नहीं जग पड़े हैं! गीत को प्रारम्भ करते समय यह निश्चय हो जाने पर कि वीरेन्द्र को सचमुच नींद आ गयी है, वह बिस्तर से उठकर उस खिड़की पर जा बैठी थी, जिसके नीचे घोसियों की कई भैंसे बँधी हुई जुगाली करती हुई दिखाई पड़ रही थीं। हेमा तब उस सुदूर भविष्य की बात सोचने लगी—जब उसके आँगन में भी बच्चे खेलेंगे। एक बच्चा स्कूल में पढ़ने जायगा, दूसरा आँगन में घुटनों के बल चलेगा और दौड़ेगा। उसके मकान में इसी तरह की दस-पन्द्रह सेर दूध देनेवाली खूब मोटी और थलथल भैंस बँधी रहा करेगी। नौकर जब दूध की बाल्टी भरकर ऊपर ले आयेगा, तो बच्चा मेरी गोद में आकर या गिलास उठाकर मुझे देता हुआ कहेगा—"अम्मा, डू डू आया...।"

और यह सोचते-सोचते हेमा की आँखों में एक बार पुनः आँसू आ गये!

: २२ :

उस दिन जब गोपीलाला कुलदीप बाबू के यहाँ से लौटकर आये तो उनकी श्रीमतीजी उनके पास आ गयी और बोली—"क्यों, क्या तय कर आये?" इसके उत्तर में उन्होंने कह दिया—"क्या तय कर आये राम-राम शिव-शिव! जो तय करना था वह तो पहले ही तय हो चुका। अब तो वरिच्छा की रस्म पूरी कर देनी है और ब्याह

की तैयारी करनी है।···मगर हाँ, एक ज़रा-सी बात रह गयी है। बस वह पक्की हो जाय तो कार्यवाही भी शुरू हो जाय ! मगर वह ज़रा-सी बात भी राम-राम शिव-शिव पूरी तो हो। बस, उसी का इन्तज़ार है।"

तब चाँदी की डिबिया टेंट से निकालकर श्रीमतीजी ने उसे खोला और सुरती के चार-छै दाने चुटकी से उठाकर मुंह में धरती हुई वे बोलीं—"हूँ, तो यह कहो कि अभी वह ज़रासी बात हनुमानजी की पूँछ की तरह बढ़ती ही जा रही है ! इसका साफ़-साफ़ मतलब तो यह है कि तुमको रंजना के विवाह की ज़रा भी परवा नहीं है। मगर मालूम भी तो हो कि वह पूँछ है क्या ?"

गोपी बाबू बोले—"राम-राम शिव-शिव, उस बात में बिलकुल दम नहीं है। एक क़ायदे भर की बात है। बात यह है कि वह चाहते हैं कि प्रदीप के कान में भी यह बात डाल दी जाय, उससे कह दिया जाय कि राम-राम शिव-शिव गोपीलाला के यहाँ हमने तुम्हारे ब्याह का रिश्ता तय किया है। मैं उस दिन जो वहाँ गया, तो उन्होंने यही बतलाया कि वह डिब्रूगढ़ गया हुआ है। ज्योंही आयेगा, त्योंही वह उससे बात कर लेंगे राम-राम शिव-शिव।"

इतने में श्रीमती जी पैर पकड़कर बोली—"हाय ! मैं तो मरगयी, मरगयी, मरगयी !"

लालाजी बोले—"मरे तुम्हारी बला। अभी तुम नहीं मरोगी पचास वर्ष तक राम-राम शिव-शिव !"

इतने में "अरे राम !" कहकर उन्होंने पैर को दोनों हाथों से पकड़कर कहना शुरू किया—"अरे वैद्य को बुलाओ, राम-राम शिव-शिव के बाप। अब देख क्या रहे हो ? जब मेरी दम ही निकल जायगी तब डाक्टर-वैद्य बुलाओगें ! हाय राम ! देख लिया मैंनें सारी दुनियाँ

स्वार्थ की है। इस समय बड़े भी मुझे देखने न आयेंगे।"

लालाजी बोले—"मगर कुछ मालूम तो हो, राम-राम···शिव-शिव कि तुमको हुआ क्या ?" इतना कहकर वे उठकर खड़े हो गये और बोल उठे—"जान पड़ता है, पैर में कुछ हो गया है।" और साथ ही पैर को टटोलने के इरादे से उसके निकट जो हाथ ले गये और बोले—'देखूँ ज़रा" तो श्रीमतीजी ने उनका वह हाथ ही झटक दिया। झट से बोली—"अरे मैं मर गयी ! छूना नहीं मेरे पैर को ! छूना नहीं। सैतान इस पर आ बैठा है। हाय राम ! किसी नवते-भगत को बुलाओ। नहीं तो, मेरी दम निकल जायगी यहीं। जल्दी करो।"

अब लालाजी ने अपना रुख बदला और उन्होंने कह दिया—"नवते-भगत की ऐसी-तैसी। अगर शैतान आ गया है तो शैतान का बाप मैं हूँ राम-राम शिव-शिव। तुमने मुझको समझ क्या रक्खा है ?" और फिर ज़ोर से चिल्लाकर बोले—"अरी रंजना ! बेटी चल तो झट से।"

उनका इतना कहना था कि रंजना झट दौड़ती हुई आ पहुँची। लालाजी बोले—"ज़रा अपनी माँ को अच्छी तरह पकड़ के बैठ तो जा, बेटी। मैं इसके सिर से शैतान अभी उतारता हूँ।"

तखत के नीचे लोटे में पानी और उसके ऊपर एक कटोरी रक्खी थी, उसी में थोड़ा-सा पानी डालकर उन्होंने झट श्रीमतीजी के ऊपर छींटे डालते हुए पढ़ना शुरू कर दिया—भूत पिशाच निकट नहिं आवै, महाबीर जब नाम सुनावै।"···और चार छींटे उन्होंने जाड़े की उस रात में श्रीमतीजी की आँखों के ऊपर भी छिड़क दिये। और झट से वही पैर एक झटके के साथ सीधा कर के तीन-चार बार उसको खोला, सीधा किया, फिर मोड़ा, फिर खोला और सीधा किया। बीच-बीच में श्रीमतीजी बराबर चीखती रहीं—'हाय

राम मैं मर गयी…मर गयी…मर गयी !" मगर लालाजी साथ में बराबर यही कहते गये—नासै रोग हरै सब पीरा, जपत निरन्तर हनुमत बीरा।" और इसके साथ ही साथ पिंडलियों में भी कस के दो-चार मुक्के जमा दिये और बोले—"बस, राम-राम शिव-शिव, अब खड़ी तो हो जाओ ज़रा। विघ्न-बाधा रोग, पीर, टीस,कसक, झुँझनी-उँझनी-मुँझनी और तुँझनी सब समाप्त !…अब चली तो जाओ यहाँ से, यह रास्ता पड़ा है ! जाओ रंजना, इसी बात पर इसको एक गिलास, दो गिलास, जितना यह पी सके, गरम दूध पिला दो।"

अब श्रीमतीजी कुछ हँसती-सी बोल उठीं—"रंजना के बाबू, मुझको यह नहीं मालूम था कि तुम जादू-टोना भी जानते हो ! हाय…अब तक मेरा दिल धड़क रहा है। मुझको तो ऐसा जान पड़ता था कि अब दम ही निकल जायगा !"

इतने में लालाजी बोल उठे—"अरी जा, तेरी दम निकलना ऐसा सहल नहीं ! जब तक मैं बरक़रार हूँ, तब तक दम निकलने की बात करती है राम-राम शिव-शिव। तेरे सिर का एक बाल तो सफ़ेद हुआ नहीं।…ख़बरदार जो कभी दम-अम निकलने की बात की ! ऐसा भी कोई कहता है राम-राम शिव-शिव !" और उन्होंने माला फिर उठा ली।

तब श्रीमतीजी बोल उठीं—"रंजना के बाबू, मेरा दिल अब भी धड़क रहा है। हाय राम, न जाने मुझे क्या हो गया था ! जाती तो हूँ, मगर एक बात पर मुझे कुछ सक-सा हो गया है। मान लो, दो गिलास गरम दूध मैं पी गयी और मुझे पेचिश हो गयी तो ? इसलिए रंजना के बाबू अगर मैं आधी रबड़ी और आधी मलाई मिलाकर खा जाऊँ और ऊपर से एक गिलास—बल्कि आधा गिलास ही—दूध चढ़ा जाऊँ, तब भी

क्या सैतान का पेट नहीं भरेगा ? क्या तब भी वह सान्त न होगा ? तुम अपने इष्टदेवता का ध्यान करके ज़रा पूछ देखो तो रंजना के बाबू।

लालाजी ने आँखें मूंद लीं और माला के ग्यारह गुरिये धीरे-धीरे आगे खिसकाते हुए आँखें खोलकर बोले—"जाओ, चिन्ता मत करो। उन्होंने कहा है कि ज़्यादा रबड़ी-मलाई खाने से शैतान परच जायगा। इसलिए आध पाव ही मँगवा लेना; सो भी इस तरह कि छटाँकभर रबड़ी और छटाँकभर मलाई, बस। मगर कहीं ज़्यादा मत खा लेना। नहीं तो फिर जो कहीं कल भी शैतान तुम्हारे सिरपर सवार हो गया, तो फिर मैं नहीं जानता कि महाबीरजी क्या व्यवस्था करेंगे ! क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि वे आकाशवाणी कर बैठें कि जब तक शैतान पर पिटन्त-विद्या का प्रयोग न होगा, तब तक वह बराबर आता रहेगा। जाओ, जाओ राम-राम शिव-शिव, सब तुम्हारी ही लीला है। अपना कुछ नहीं है।"

श्रीमतीजी अन्दर जा ही रही थीं कि लालाजी ने उनको बुलाते हुए कहा—"और हाँ, ठहरो-ठहरो, अच्छी याद आयी। जरा यहाँ आओ।"

श्रीमतीजी आकर फिर तख़्त पर बैठ गयीं और घबराहट के साथ बोलीं—"कहो !"

अब लालाजी माला के गुरिया पर तर्जनी टेकते हुए बोल उठे—"असल बात यह है राम-राम शिव-शिव कि तुम्हारी ज़बान अब बहुत चलने लगी है। यह शैतान जो तुम्हारे पैर पर आकर बैठ गया था, जानती हो इसका कारण क्या था, राम-राम शिव-शिव ? तुम्हारे मुँह में बैठी तुम्हारी ज़बान बातों-बातों में जो ज़रा ज्यादा चल गयी थी कि वह ज़रा सी बात अब हनुमानजी की पूँछ तरह बढ़ती जा रही है ! इसी के कारण हनुमानजी ने अपने किसी गण को भेज दिया। वह तो बड़ी गनीमत हुई कि मैंने झट मन्त्र का प्रयोग कर दिया। नहीं तो हालत तो

खराब ही हो चुकी थी। इससे अब ज़बान को जरा क़ाबू में रखकर बात किया करो। वरना अगर कहीं कुछ गड़बड़ हो गया, तो फिर तुमको बचाना बड़ा मुश्किल हो जायगा, राम-राम शिव-शिव !

श्रीमतीजी अब उठकर खड़ी हो गयीं और बोलीं—" अच्छा ठीक है। पर देखो उस वक्त मैं जो बात करने आयी थी वह तो अधर में ही लटक रही। मेरा जी इस समय कुछ भारी हो उठा है। अब मैं आराम करूँगी जाकर। बस इतना कहे जाती हूँ कि तुमको जो कुछ करना है, जल्दी कर डालो। कब क्या होनेवाला है, यह कोई नहीं जानता। और रञ्जना के बाबू कल दो-चार कँगलों को बुलाकर चने तो बँटवाने ही पड़ेंगे।" फिर मन-ही-मन कहने लगी—'हाय राम, जो कुछ हो जाता तो !'

तब लालाजी बोले—"क्या बात कही है तूने रञ्जना की माँ, राम-राम शिव-शिव; कह भी तो गये हैं—

तुलसी पंछिन के पिये, घटै न सरिता नीर।
धर्म किये धन ना घटै, जो सहाय रघुबीर ॥

जाओ, इस समय प्रेम से सोओ जाकर। बाकी कल। अभी मुझको दो माला फेरने को बाकी रह गये हैं राम-राम शिव-शिव।"

श्रीमतीजी ज्योंही अन्दर चली गयीं त्योंही लालाजी मन-ही-मन पुलकित हो उठे और सोचने लगे—'अजीब दुनियाँ है ! और ज़माने को भी क्या कहा जाय ! इतनी मूर्खता है हमारे समाज में, इतनी अशिक्षा है हमारे घरों में, कि छोटी से लेकर बड़ी-बूढ़ी तक ये अपढ़-कुपढ़ 'काला अक्षर भैंस बराबर' स्त्रियाँ इतनी भी तमीज़ नहीं रखतीं कि शरीर विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली मामूली सी बात भी जान सकें। नहीं तो, यह तो रक्तप्रवाह मात्र का ही दोष है। मगर मुझको भी क्या सूझ गयी इस समय। हा···हा···हा···! राम-राम शिव-शिव, सब तुम्हारी ही लीला है।'

: २३ :

रंजना को कुछ शक हो गया था। वह जानती थी कि प्रदीप से अरुणा की भेंट प्रायः होती रहती है। उस दिन जो गोष्ठी हुई थी, उस दिन भी, अरुणा अन्त में बैठी रह गयी थी और अन्य लोगों के साथ तारिणी उठकर चली आयी थी। रंजना ने तारिणी से जो गोष्ठी का विवरण पूछा तो तारिणी ने सारा वृत्तान्त विस्तारपूर्वक बतला दिया था। यहाँ तक कि नाटक के अनुसार दमयन्ती ने राजा नल को जो गुप्तसन्देश भेजा था और उसकी कल्पना के सम्बन्ध म प्रदीप ने जो व्याख्या उपस्थित की उसको भी उसने लगभग उन्हीं की भाषा में समझा दिया था। वह एक ऐसा उत्तर था, जिसका सम्बन्ध उसे अन्दर-अन्दर से अरुणा के साथ स्थापित-सा जान पड़ता था। यद्यपि खेले हुए नाटक में इस तरह का कोई प्रसंग न था। अरुणा ने प्रदीप के मनोभाव जानने के लिए ही ऐसे प्रश्न की कल्पना कर ली थी। एक बात और थी। अरुणा रंजना की अपेक्षा श्रृंगार-प्रसाधन में कुछ अधिक दक्ष तो थी ही, साथ ही वह वाचाल और चंचल भी अधिक थी। आवश्यकतानुसार वह मन की बात भी घुमा-फिराकर—और रहस्य में डुबाकर—कह लेती थी और मनोविनोद के बहाने हास्य और व्यंग्य का स्पर्श भी उसके वार्तालाप में बहुत सुन्दरता के साथ व्यक्त हो उठता था। इन सब विशेष गुणों के कारण वह यह समझने लगी थी कि हो सकता है, प्रदीप के मन के एकान्त कोने में उसने अपना एक स्थान भी बना लिया हो। तभी उस दिन से वह मन-ही-मन सहम गयी थी और एक सन्देह-कीट उसमें बैठ गया था।

इन सब आधारों के कारण रंजना के कान सदा सजग रहने लगे थे। कहाँ क्या चर्चा होती है, कौन क्या कहता है, इसको तुरन्त सुनने और समझ लेने के लिए वह निरन्तर उत्सुक ही नहीं, व्यग्र भी रहा करती थी।

उस दिन माँ और बाबू में जो बातचीत हुई थी उससे भी वह इस परिणाम पर पहुँची थी कि अभी इस विवाह के सम्बन्ध में प्रदीप से कोई स्पष्ट बात उनके बाबू ने नहीं की है। यह विषय इस सन्देह को और भी अधिक दृढ़ कर देने के लिये पर्याप्त था। अतएव वह नित्य किसी ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में रहती थी, जैसा अरुणा के साथ उस दिन उसको बसवाली यात्रा में मिल गया था। किन्तु मनुष्य जो सोचता है, वह होता कहाँ है ? होता वह है, जो वह न सोचता है, न सोच पाता है। पूर्व आयोजित और निश्चित कार्य-क्रम भी कभी कल्पना से अधिक सफल होते हैं और कभी असफल ! मनुष्य की जीत इसी में है कि वह निरन्तर अपनी चेष्टा में संलग्न रहे। जीवन को अपनी उद्देश्य-सिद्धि में खपाये चला जाय। ऐसा नहीं है कि सफलता सदा दूर ही दूर रहनेवाली एक सर्वथा कल्पित वस्तु हो। और ऐसा भी नहीं है कि पुरुषार्थी व्यक्तियों को वह अन्त तक मिलती ही न हो। जो लोग जल्दी निराश हो जाते हैं, वे ही दुनियाँ के सबसे अधिक दुखी और असफल प्राणी हैं। और चिन्ता और दुःख की बात यह है कि ऐसे व्यक्तियों की संख्या ही इस विश्व में सबसे अधिक है।

रंजना जिस कालेज में पढ़ती थी, उसी में 'सोसायटी आव पोलिटिकल वर्ल्ड अफ़ेयर्स' के ढंग की और भी एक विचार-विनिमय-समिति थी। उसका कार्य था नगर में आये हुए विद्वानों और विचारकों को बुलाकर उन्हें कालेज में सम्मानित करना और उनके सांस्कृतिक विचारों से लाभ उठाना। इस समिति का वार्षिकोत्सव प्रायः बड़े दिनों की छुट्टियों के निकट मनाया जाता था। यह लड़कियों की एक ऐसी संस्था थी, जिसका व्यय तो बहुत अधिक था, किन्तु छात्राओं द्वारा मिलनेवाले चन्दे से जिसकी पूर्ति बहुत ही कम मात्रा में हो पाती थी। इसीलिए प्रायः ऐसा होता कि कुछ वक्तृत्व कला-निपुण लड़कियों का एक 'डेपुटेशन' नगर के दानी-मानी लोगों के घरों में जाता और उसी

के आधार पर यह वार्षिकोत्सव सुसम्पन्न हो जाता था ।

इस बार कुछ ऐसा आ कि लड़कियों ने इस—'डेपुटेशन' में रंजना को भी सम्मिलित कर लिया। परिणाम यह हुआ कि एक दिन जब यह 'डेपुटेशन' एक मिल-मालिक के यहाँ पहुँचा, तो उस बैठक में संयोग से, प्रदीप पहले से ही उपस्थित था । जब ये लड़कियाँ उस बैठक में प्रवेश करने लगीं, तो प्रदीप उठकर चलने लगा । चलते समय वह बोला—"सेठजी, अभी हमारी बात पूरी तो नहीं हो पायी; पर ख़ैर, कोई बात नहीं, कल सही ।"

सेठजी ने तश्तरी में से दो पान प्रदीप की ओर बढ़ाते हुए उत्तर दिया—"तो फिर बैठिये न । इन लोगों को निपटा देने में देर कितनी लगती है ! ज़्यादा-से-ज़्यादा दस मिनट ।"

इस 'डेपुटेशन' में अरुणा भी थी । अवसर देखकर वह बोल उठी—"वाह ! ऐसा कैसे हो सकता है ! जब सौभाग्य से हम लोगों को आपका बल मिल सकता है, तब यह कैसे सम्भव है कि आप उठकर चल दें और हम चुपचाप इसे सहन करलें । बैठिये, बैठिये ।"

यद्यपि प्रदीप कुछ विचार में पड़ गया, पर तभी सेठजी बोल उठे—"अब तो आपको । बैठना ही पड़ेगा ।"

यह ऐसा अवसर था, जब आज पहली बार रंजना की भी कुछ बोलने की इच्छा हो उठी और तब वह अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक बोली—"सेठजी, निवेदन यह है कि इस नगर में जीवन-दर्शन के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करनेवाली यही एकमात्र संस्था है । इसमें हमको देश के तपस्वी साधकों और विचारकों को सम्मानपूर्वक बुलाना पड़ता है । आप जानते हैं कि एक ओर यह कार्य कितना व्ययसाध्य है; दूसरी ओर देश के नवनिर्माण के लिए इस प्रकार की संस्था की कितनी बड़ी आवश्यकता और उपयोगिता है । इस विषय में ध्यान देने योग्य और

अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि यहा हमारे कालेज के अन्तर्गत लड़कियों की अपनी एक पृथक् संस्था है। इसके प्रयत्नों की कुछ सीमाएँ ही नहीं, मान्यताएँ ही नहीं, अपनी निज की व्यक्तिगत और सामूहिक मर्यादाएँ भी हैं। हमको एक ऐसे छोटे घेरे में रहकर यह कार्य करना पड़ता है, जिसमें हम इस नगर के कुछ चुने हुए सुसंस्कृत व्यक्तियों से ही मिलने का अवसर पाती हैं। आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि गान्धीवाद के सर्वमान्य प्रचारक और विचारक आचार्य बिनोवाजी को हम इस बार अपनें यहाँ बुला रही हैं। अतएव मुझे आशा है कि आप जो रुपया इस संस्था के लिये आज हमको देंगे, वह आपके पद और सम्मान के सर्वथा अनुरूप ही नहीं, वरन् इस पुण्य कार्य की महत्ता और उसके गौरव को ध्यान में रखकर यथेष्ट भी होगा।"

इस संक्षिप्त निवेदन की भाषा और उसके स्वर के उतार-चढ़ाव ने इतना अधिक प्रभाव डाला कि स्वभावतः प्रदीप के मुँह से निकल पड़ा—"वास्तव में यह बड़ा महत्वपूर्ण कार्य है और इसमें आपको कम-से-कम एक हज़ार रुपया देना चाहिये।"

प्रदीप की इस बात को सुनकर सेठजी हँस पड़े और बोले—"आप की क्या बात है! आप तो बहुत जल्दी भावना में डूब जाते हैं। बाज़ार की मन्दी की ओर आपका ध्यान ही नहीं रहता। आपको पता भी है कि हमलोग आजकल दिनभर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहते हैं!"

सेठजी का यह उत्तर सुनकर प्रदीप गम्भीर हो गया और नोकदार गान्धीटोपी से सुशोभित अपने मस्तक को और भी अधिक ऊँचा उठाते हुए बोला—"फिरभी इस समय आपको कम-से-कम इतना तो देना ही चाहिये। आप यह क्यों नहीं देखते कि यह कार्य कितने महत्व का है और इन कुमारियों का उत्साह कितना सराहनीय!"

सेठजी ने कुछ सोचते हुए उत्तर दिया—"इस समय तो मैं पाँच सौ से अधिक नहीं दे सकूँगा, प्रदीपजी।"

तब कुछ गम्भीर होकर प्रदीप बोला—"अच्छी बात है, जैसी आपकी इच्छा...।"

इतने में तारिणी बोल उठी—"रंजना के प्रस्ताव का समर्थन आपने बहुत अच्छा किया, इसलिये हम सभी आपका आभार मानती हैं। पर इसके आगे भी इतनी आशा तो हम लोग कर ही सकती हैं कि बाक़ी पाँच सौ भी आप कहीं-न-कहीं से अवश्य दिलवाने की कृपा करेंगे।"

पहले तो प्रदीप कुछ असमञ्जस में पड़ गया, पर फिर कुछ सोचते हुए बोला—"इस समय तो मैं आप लोगों के साथ न चल सकूँगा। हाँ, कल अगर सबेरे आठ बजे, आप लोग आ जायंगी, तो दो-एक जगह से कुछ दिलवाने की कोशिश करूँगा। मेरा घर तो आप लोग जानती ही होंगीं।" और इतना कहकर उसने अरुणा की ओर देखा और कह दिया—"आप तो शायद मेरे यहाँ आ भी चुकी हैं, अगर मैं भूलता नहीं हूँ!"

तब मुसकराहट दबाती हुई अरुणा ने उत्तर दिया—"वैसे तो भूल जाने की आदत सभी बड़े आदमियों में थोड़ी-बहुत होती है; पर जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध है, आप ठीक कहते हैं। हम लोग आ जायँगी। मगर एक बात है, आपको उस समय चलने के लिए बिलकुल तैयार मिलना चाहिये। क्योंकि आठ बजे का आप समय दे रहे हैं और दस बजे धूप हो जाती है। खैर, कोई बात नहीं, ग्यारह-बारह बजे तक तो हम काम कर ही सकती हैं।"

शीला जो पीछे खड़ी-खड़ी एक मैगज़ीन देख रही थी प्रदीप की ओर उन्मुख होने का अब तक उसने अवसर नहीं पाया था। अतः शीला ने प्रदीप की बात पर ध्यान नहीं दिया था। पर अरुणा ने धूपवाली बात जो कही, तो शीलाको बोलने का अवसर मिल गया। तब वह

बोली—"आपने देखा भैया, हमारे बीच सभी रुचियों के लोग हैं। अरुणा को दिसम्बर की धूप से भी शिकायत है ! खूब !"

उधर सेठ जी चेक काट रहे थे, इधर ये बातें चल रही थीं। शीला के इस कथन ने सभी को एक साथ हँस पड़ने के लि` विवश कर दिया। यहाँ तक कि हस्ताक्षर करते हुए सेठजी की कलम भी हँस पड़ी और उन्हें दूसरा चेक लिखना पड़ा।

अन्त में चेक लेकर जब सब लड़किय जाने लगीं, तो रास्ते में ही अरुणा और तारिणी में कानाफूसी होने लगी। तारिणी बोली—"इसको कहते हैं संयोग। रंजना कितना बचकर खेला करती थी। पर आज आखिरकार प्रदीप के सामने अपने सर्वाङ्गपूर्ण रूप में उपस्थित हो ही गयी !"

शीला ने पास आकर कह दिया—"देखो अरुणा दीदी, तुम हम सबसे अवस्था में भी बड़ी हो और बुद्धि-विद्या में भी। इसलिये बात को समझ-बूझकर कहने में ही हमारी भलाई है। जहाँ तक हो सके हमको प्रस्तुत प्रसंग में निजी बातों के प्रचार से बचना चाहिये। तुम्हें मालूम है कि भैया का स्वभाव कितना गंभीर है ! इसके सिवा अभी तक उन को पता भी नहीं है कि रञ्जना के साथ उनकी सगाई पक्की होनेवाली है। इसलिये मैं चाहती हूँ कि आगे आप लोग इस बात का ध्यान अवश्य रक्खें !"

इस पर सीढ़ी पर ही खड़ी रहकर तारिणी बोल उठी—"ध्यान रक्खेंगे पत्थर ! भाई साहब ने तो कल ही हम सब को घर पर बुलाया है ? तब क्या रंजना नहीं जायगी ?"

अब शीला को फिर बोलना पड़ा—"मगर बड़ा डेलीकेट पाइण्ट है। मेरी समझ में नहीं आता, क्या किया जाय !"

आगे-आगे जाती हुई, कुछ सहमी, कुछ घबराई और साथ ही

मन-ही-मन पुलकित रञ्जना पीछे आनेवाली सखियों की प्रतिक्रियाएँ चुपचाप सुन रही थी। ऐसे संयोग की उसने कल्पना भी न की थी।

इसी समय शीला उसके साथ साथ चलने लगी। अन्त में सड़क पर आकर जब कॉलेज की बस में सब लड़कियाँ बैठ गयीं और फिर उनमें वार्तालाप प्रारम्भ हो गया तो अरुणा बोली—"आज तो रञ्जना ने ही 'लीड' लिया। कान के टाप के स्क्रू को टाइट करते-करते तारिणी ने कह दिया—"मैं साफ़ कहती हूँ कि मेरे मन की कल्पना तो दो सौ से अधिक जाती न थी। मगर रञ्जना के सधे और सुन्दर शैली में कहे हुए, वाक्यों ने आज अपना पूरा प्रभाव दिखला दिया। यहाँ तक कि उसने प्रदीप भाई साहब को भी समर्थन करने के लिए विवश कर दिया।"

अरुणा को ईर्षा हो रही थी। वह बोली—"और सब तो ठीक ही हुआ। मगर मझे प्रसन्नता इस बात की है कि आख़िर आज प्रदीप जी को मालूम हो ही गया कि उनकी रञ्जना कौन और कैसी है!"

जब इधर ये बातें चल रही थीं तभी शीला रञ्जना के कान में कह रही थी—'हाँ, बस यही ठीक रहेगा। मैं कह दूँगी, उसको बहुत ज़ोरों का जुकाम हो गया है।"

दूसरे दिन जब सब लड़कियाँ प्रदीप के यहाँ पहुँचीं, तो रञ्जना को उनके बाच मे न देख कर प्रदीप को आश्चर्य नहीं हुआ। उसने किसी से भी यह नहीं पूछा—"कल वाली वह लड़की नहीं आयी!" तब कई लड़कियाँ फिर आपस में कानाफूसी करने लगीं।

अरुणा ने शीला के निकट आकर कह दिया—"मुझे तो यह सब तुम्हारा करुणा प्रतीत होती है।"

विचार मग्न शीला पहले कुछ नहीं बोली। पर अन्त में वह अपनी मुसकान नहो छिपा सकी और उसे कहना ही पड़ा—"उसने फ़ोन से

कह दिया है कि आज मुझे बड़े जोर का जुकाम हो गया है। इसलिए मैं न आ सकूँगी।"

इसी समय प्रदीप ने कह दिया—"वैसे तो मैं बिलकुल तैयार हूँ; मगर जाड़े के दिन हैं। आप लोग सुबह-ही-सुबह आई हुई हैं, इसलिए मेरी राय में अगर अधिक कुछ नहीं, तो एक-एक कप चाय तो आप लोग पी ही सकती हैं। मिनटों में इन्तज़ाम हो जायगा।"

शीला ने उत्तर दिया—"मगर यह भी कोई पूछने की बात है भैया! आप एक कप की बात कह रहे हैं और अरुणा दीदी दो कप से कम चाय कभी पीती नहीं।"

हँसती-विहँसती अरुणा ने उत्तर दिया—"समान गुण-शीला हम सभी लड़कियों का इस मामले में बिलकुल एक-सा स्वभाव होता है। इसलिए किसी को भी शीला की बात पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती। हमको तो कल की तरह आज भी पाँच-सौ रुपए आपसे खरे करने हैं! इसमें बाधा नहीं पड़नी चाहिये। और फिर आपकी चाय तो हम लोग यों भी नहीं छोड़ सकतीं; क्योंकि कल अपने उद्देश्य का परिचय देते समय रञ्जना नें सारी वस्तुस्थिति आपको समझा दी है। फलतः आपने जो सहयोग किया है, हमारी समिति उसके लिए सदा आपकी कृतज्ञ रहेगी।"

जिस समय अरुणा यह बात कर रही थी, उस समय रञ्जना का नाम आने पर शीला नाक-भौं सिकोड़ रही थी और प्रदीप सोच रहा था—अजीब बात है! कल वहाँ अनायास रञ्जना को देखने का अवसर मिला और रात को ही चाचाजी ने ब्याह का रिश्ता तै कर लेने का समाचार दिया।

इस समय जब यहाँ रसोइया महराज अन्दर से चाय की ट्रे ला रहा था, तब भी प्रदीप यही सोच रहा था—"अरुणा, वह क्षण मेरे

जीवन में बड़े महत्व का है, जब तुमने मेरी अवहेलना की थी। मैं उसे कभी न भूलूँगा।" फिर उसे ध्यान आ गया कि चाचाजी से मैंने कह तो यही दिया है कि ऐसी जल्दी क्या है! हो सकता है कि अगले वर्ष प्रादेशिक धारा-सभा के लिए जो चुनाव होने जा रहे हैं, उसमें मुझे भी खड़ा कर दिया जाय। ऐसी दशा में अभी यह विवाहवाली बात मेरी समझ से बिल्कुल असामयिक और अनुचित है।

: २४ :

वीरेन्द्र जिस समय गयादीन के साथ उसके घर पहुँचा था, उस समय साढ़े तीन बज गये थे। उसकी पत्नी बतासो खाना पका चुकी थी और रसोई में ढका-मुँदा रोटी-दाल और भात बना रक्खा हुआ था। बर्तन बिखरे पड़े थे। चूल्हा बुझ गया था और ज़ोर की हवा जब झकोरा देकर चलने लगती, तो कोयले की राख उड़-उड़कर इधर-उधर फैल जाती। कोठरी के अन्दर दो चारपाइयाँ—एक पड़ी और दूसरी खड़ी रक्खी हुई थीं। दोनों चारपाइयों के बान पुराने थे और अदवाइन सड़ गयी थी। बानों के टुकड़े और बीच से टूटी अदवाइनों के छोर ढीली चारपाई के नीचे लटक रहे थे। बिस्तर फैला और इधर-उधर से सिकुड़ा हुआ, ज्यों-का-त्यों पड़ा था। तकिया के ऊपर आवरण न था और भीतर का जो इकहरा आवरण था भी, वह मैल, तेल और गर्द से बिलकुल कीचड़ के वर्ण का हो गया था। खड़ी चारपाई के ऊपर बतासो की एक धोती फैली हुई थी, जिसका एक छोर कच्चे फर्श पर पड़ा लटक रहा था। चारपाई के नीचे तम्बाकू की लुगदी, बीड़ी की टुकड़ियाँ, जली हुई दियासलाई की तीलियाँ और

दही-बड़े की चाट का पत्ता भी बाहर से दिखलाई पड़ता था। एक ओर कोने में कुछ लकड़ियाँ रक्खी थीं और पास ही बुझे हुए मुर्दार कोयले का ढेर जमा था। बीड़ी का कलेण्डर उसके ऊपर सिर की ओर लटक रहा था, जिसमें तारीखों का पैड ग़ायब था। बासी पराठे का एक टुकड़ा अगले पैरों से पकड़े हुए एक चूहा इतमीनान के साथ खुथर रहा था।

बतासो उस समय ज़मीन पर एक मैली दरी बिछाये दीवाल से लगी अधलेटी बैठी हुई थी। उसकी धोती मैली थी और उसका एक कोना चूहे ने काट डाला था। जाते-जाते इस समस्त दृश्य को देखकर वीरेन्द्र के होंठों पर थोड़ी मुसकराहट आ गयी थी। उस दिन ता उसने गयादीन के साथ बैठकर चुपचाप खाना खा लिया; किन्तु दूसरे दिन वह एक निश्चित कार्य-क्रम में लग गया था।

अनुभव मनुष्य को सब कुछ सिखा देता है। वह उसकी मुँदी हुई आँखों को एक झटके के साथ खोल कर उसे चौकन्ना बना देता है। वह मनुष्य को परिश्रमी, संयमी और वज्र की भाँति कठोर भी बना देता है। अनुभव एक ओर मनुष्य की जान निकाल लेता है, तो दूसरी ओर मुर्दों में प्राणों का पुलक-सञ्चार भी कर देता है। अनुभव ही एक ऐसी वस्तु है, जो बात की बात में एक व्यक्ति को दूसरे का शत्रु और मित्र बना देता है।

वीरेन्द्र अब तक घाट-घाट का पानी पी चुका था। वह रात-रात भर जागरण करके दिन-दिन भर सो चुका था। आलस्य रत रह-रहकर वह सप्ताह, मास और वर्ष-के-वर्ष वेकार कर चुका था। उसने दिन-रात मिठाइयाँ खा-खाकर अपनी रसना की प्रकृति भ्रष्ट कर डाली थी। उसने अपने तनकी यान्त्रिक तत्परता और मनकी कर्मनिष्ठा भी नष्ट कर डाली थी। अजीर्ण होने पर उसने अनेक बार वमन भी किया था और दिन

रात केवल चाय और दो-चार पैसे के लाई-चना पर निर्भर रहकर इस सीमा तक अपने आपको दुर्बल और निकम्मा भी बना डाला था कि न तो वह दस-बीस सेर बोझा लेकर एकाध मील चलने लायक रह गया था, न धूप में ही दो-चार घण्टे का कोई काम कर सकने में समर्थ था। वर्षा के आगमन पर बिना छतरी के सड़क पर से गुज़रते हुए अगर वह कभी भीग जाता और ठंढी हवा के झकोरों से उसे थोड़ी भी सरदी लग जाती, तो पसलियों में यदि पीड़ा न होने लगती, तो जुकाम तो उसे हो ही जाता था। किन्तु चाट-मिठाई से लेकर भुखमरी तक और खानदानी नवाबी से लेकर फटेहाल आवारागर्द, गिरहकट, बदमाश तक के जीवन की जीर्ण-जर्जर दुरवस्थाओं और प्रतिकूल परिस्थितियों से झूम-झूमकर, मिट-मिटकर, वह अब अपने संकल्पों में पत्थर की भाँति दृढ़ हो गया था। अब एक तो वह बोलता ही न था और बोलता भी था, तो बहुत कम। कम बोलने पर भी वह जो कुछ बोलता था उसमें सार-ही-सार, तत्व-ही-तत्व होता था। एक वाक्य में कहा जा सकता है कि उसकी बातों में दाने-ही-दाने होते थे, भूँसी बिलकुल नहीं !

उस दिन गयादीन के घर की दशा देखकर वह जो थोड़ा मुसकराया था, उसमें उसका एक निश्चित मन्तव्य, निहित आयोजन और दृढ़ संकल्प सम्मिलित था। दूसरे दिन जब वह सबेरे उठा, उस समय गयादीन अपने मिल में जाने के लिए तैयार हो चुका था। अतएव चलते समय वह बोला—"मैं तो अब तीन बजे छुट्टी पाऊँगा, तभी भेंट होगी। इस बीच तुमको जो काम हो वह तुम कर लेना; मगर खाना बन जाने पर खा ज़रूर लेना। मेरी बाट मत देखना।" और उसने अपनी पत्नी से भी कह दिया था—"देख, इनसे बहुत परदा न करना। बात का जवाब ज़रूर दे देना।"

गयादीन इतना कहकर जब चला गया, तब वीरेन्द्र ने बतासो से कहा—"मैं अभी आता हूँ।" और लोटा उठाकर वह बाहर चला गया।

अपने घर किसी को ठहराना बतासो को बिल्कुल पसन्द न था। वह इतना ही सोचना और समझना जानती थी कि बाहरी आदमी जो घर में आता है, वह घर-गिरस्ती का कुछ सामान कम ही कर जाता है, कुछ दे नहीं जाता। हाँ, ले जरूर जाता है। इसलिए वीरेन्द्र का आना उसको खल-सा रहा था। परन्तु अभी कल ही आते-आते जब उसने बाल्टी भर पानी बाहर से लाकर रख दिया था और इस काम के लिए गयादीन को पाइप पर किसी तरह जाने नहीं दिया था, तब उसको थोड़ा आश्चर्य हुआ था।

आज जब वीरेन्द्र वापस आया, तो उसका लोटा भरा देखकर आज बतासो को कुछ आश्चर्य ही हुआ। फिर वीरेन्द्र ने लोटा घनौची पर रख दिया और कहा—"तुम ज़रा बाहर आजाओ बहन, तो मैं भीतर की बिखरी और फैली हुई चीज़ें ज़रा ठिकाने से रख दूँ।"

उत्तर में बतासो बोली—"काहे को? सब ठीक तरह से रक्खी तो हैं।"

वीरेन्द्र ने उत्तर दिया—"अभी तो ठीक तरह से नहीं हैं; पर हाँ, दो-चार दिन में तुमको मालूम पड़ जायगा कि घर-गृहस्थी कैसे रक्खी जाती है।"

पर इतना कह लेने के बाद उसने फिर बतासो के उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की। झट वह कोठरी में घुस गया।

सबसे पहले उसने फैली हुई लकड़ियों की विश्रृंखलता भंग की। उनको एक के ऊपर एक की तरतीब से रख दिया। कोयला भी कुछ समेट दिया। फैले हुए मिट्टी के बरतन इस क्रम से रख दिए कि बड़ा

नीचे, उससे छोटा ऊपर, फिर उससे छोटा ऊपर। इट के टुकड़ों के अभाव में खपड़े ही चारों ओर सजा दिये। सारा सामान ठीक तरह से सजाने के क्रम में उसने बतासो से कहा—"देखो, वह लोढ़ा सिलौटी के ऊपर रख दो। वह कटोरी वहाँ से उठाओ और इस बटलोई के ऊपर जमा दो। बिस्तर सब इस सन्दूक के ऊपर तहा कर रख दो। ठहरो, इस दरी को आँगन में जाकर पहले झाड़ लो। इस थाली में जंग लगी हुई है, इसको बाहर निकालो। यह झाड़ू बेकार है, अब इसे बाहर फेंक दो। दोनों चारपाइयाँ आँगन में खड़ी कर दो।"

इस प्रकार वीरेन्द्र स्वयं सफ़ाई के काम में जुट गया और बतासो को भी उसने सहज ही जुटा लिया। अन्त में कोठरी का फ़र्श जब साफ़ होगया,उसने कहा—"अब सारे जूठे और मैले बरतन नहाने-धोने की इस जगह पर रख तो दो। मैं इनको अभी साफ़ किये देता हूँ।"

वीरेन्द्र का इतना कहना था कि बतासो हँस पड़ी। और यह हँसी वीरेन्द्र के लिए उसकी सबसे पहली हँसी थी। बहुत मीठी और सलोनी, बहुत प्यारी और पवित्र। और वीरेन्द्र उसकी इस हँसी को प्राप्त करके बहुत आनन्दित हुआ। लेकिन उत्तर में उसने थोड़ा-सा मुसकरा भर दिया, कहा कुछ नहीं।

इतने में बतासो बोली—"उठिये उठिये, यह काम मैं कर लूंगी।······आप छोड़ दीजिये। मैं समझ गयी कि आप क्या चीज़ हैं!"

वीरेन्द्र उठकर खड़ा हो गया। उसके पास जेब में नौ पैसे थे। उन पैसों को निकालता हुआ वह बोला—"तुम्हारे पास फुटकर पैसे तो होंगे?"

बतासो ने उत्तर दिया—"पैसे तो हैं; मगर आपको चाहिये क्या?"

वीरेन्द्र ने उत्तर दिया—"मुझे चाहिये साबुन।"

बतासो ने कह दिया—"साबुन यह रक्खा तो है।"

वीरेन्द्र ने तब साबुन देखते हुए कहा—"यह साबुन नहीं, उसकी लाश है। इसकी जान निकल गयी है; नहीं, जान इसमें पहले भी कभी नहीं थी। यह मुर्दा हालत में ही खरीदा गया है।"

बतासो को और अधिक समझाने की ज़रूरत नहीं पड़ी। अन्दर जाकर वह एक फूटे लोटे में रक्खे हुए कुछ पैसे ले आयी और बोली—"कितने पैसे दूँ?"

वीरेन्द्र ने उत्तर दिया—"साढ़े तीन, नहीं, साढ़े पाँच आने।"

बतासो ने पैसे दे दिये।

और उस दिन साढ़े तीन बजे जब गयादीन अपने काम से छुट्टी पाकर घर लौटा तो यह देखकर हैरान रह गया कि उसके घरके भीतर का सारा नक़शा बिलकुल बदला हुआ है! वे बरतन जो सदा चिकने, पीले और गन्दे रहा करते थे, अब चमक रहे थे। बतासो जो मटमैली धोती पहने हुए एक घिनौनी नौकरानी-सी जान पड़ती थी, आज उसके लिये उस दिन कीसी नववधू बन गयी थी, जब उसने इस घरमें प्रवेश किया था! और सबसे बड़ी बात जो गयादीन ने इस समय देखी, वह यह थी कि बतासो रसोई के अन्दर थी और अभी रोटी का पहला फुलका ही उसने जलते हुए चूल्हे के भीतर से बाहर निकाला था।

गयादीन अपनी प्रसन्नता छिपा न सका और उसने कह डाला—"बड़े आदमियों बात ही कुछ निराली होती है! वीरेन्द्र भाई, तुमने तो वह काम कर दिखाया, जो मेरे लिये अब तक सपना बना हुआ था!"

वीरेन्द्र को गयादीन के इस कथन पर आपत्ति थी। अतः उसने कह दिया—"नहीं, तुम ग़लती कर रहे हो गयादीन भैया। बात निराली

बड़े आदमियों की नहीं उन लोगों की होती है, जो मुसीबतें झेलकर ही जीने की कला सीख पाते हैं।"

तब गयादीन कहने लगा—"जो भी हो। आदमी तुम निराले हो।"

उस समय वीरेन्द्र ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसने अपना एक नियम-सा बना लिया था कि प्रशंसा सुनकर वह कभी मतवाला नहीं बनता था।

यह तो हुई वीरेन्द्र के आगमन के पहले दिन की बात। इसके बाद जिस दिन वह यहाँ से गया था, उसके बीच की अवधि का भी एक इतिहास है। और अब तो वह इस दम्पति के लिये एक स्मृति बन गया है।

एक दिन पानी बहुत बरसा; दिन-रात बरसता ही रहा। रात को हवा भी ज़ोर की चलती रही। और बौछार तो कोठरी के अन्दर तक बराबर छापा मारती रही। इसका परिणाम यह हुआ कि गयादीन को सर्दी लग गयी। उसे ज्वर बड़े वेग से चढ़ आया और बाँई पसली में इतने ज़ोर का दर्द शुरू हो गया कि जब प्रातःकाल उसके काम पर जाने का समय हुआ तब तक वह कराहने लगा! पीड़ा के मारे उससे रहा नहीं जाता था। पर वीरेन्द्र एक दिन पहले ही सोनेलाल के यहाँ चला गया था और लगातार वर्षा होने के कारण लौट न पाया था। उसको प्रेस में काम सीखने का अवसर तो मिल चुका था, पर अभी वह कम्पोज़िंग में पक्का न हो पाया था। इस कारण उसका वेतन भी मिलना प्रारम्भ न हुआ था। फुटकर खर्च के लिये दो-चार आने पैसे भी जब उसके पास न रहते तो वह हफ्ते भर के लिये कुछ रुपये सोनेलाल से प्रायः ले आया करता था।

उस दिन जब वीरेन्द्र गयादीन के यहाँ लौटा तो उसने देखा कि उसके घर का वातावरण चिन्ताजनक हो उठा है। बतासो चारपाई के

नीचे जमीन पर बैठी हुई थी और एक गरम अँगीठी के ऊपर रक्खे हुए तवे पर रुई का पहला गरम कर-करके उसकी छाती सेंक रही थी। गयादीन के सिर पर एक पट्टी बँधी थी। उसके बदन पर कुछ पुराना-सा एक लिहाफ़ पड़ा हुआ था। कई पड़ोस की स्त्रियाँ बैठी हुई बातें कर रही थीं, जिनमें से एक बोल रही थी—"शुतुरखाने में एक ओझा रहते हैं। वे बरमराकस झाड़ लेते हैं। चुहिया के बाबू उनको जानते हैं। तुम कहो तो मैं उनको बुलाने के लिये भेज दूँ। मगर जाने-आने में इक्का-भाड़ा तीन रुपया नहीं, तो दो रुपया तो लग ही जायगा।" और दूसरी स्त्री समझा रही थी कि गड़रियाँ मुहाल में हमरे जेठानी के मौसिया रहत हैं। उसकी बैदिकी बहुत चलती है। बड़ा जसी हाथ है। मगर फीस भला पाँच न ले हैं तो चारिमा तौ कउनिउ भाभी नहीं। हमरे विइ दुपहर तक लउटि कै आय जइहैं। मटरा लेयं गे हैं। तुम्हार मनु होय, तो फिर उनका बोलवाई।

बतासो गयादीन की छाती सेंकती हुई रो रही थी! वीरेन्द्र ज्योंही भीतर गया, त्योंही गयादीन को इस दशा में देखकर बोल उठा—"जरा हाथ देखूँ!" किन्तु गयादीन ने कोई उत्तर नहीं दिया। उस समय वह बेहोश था। तब उसने स्वयं ही उसकी कलाई को अपने हथद्र में ले लिया। ज्वर का वेग वास्तव में बहुत अधिक था। इसी समय गयादीन कराहने लगा—"हाय राम, कोई अरे वीरेन्द्र को बुलाओ!... कोई बुलाओ वीरेन्द्र को!"

वीरेन्द्र ने उत्तर दिया—"मैं तुम्हारे सामने हूँ गया भैया। मैं आ तो गया हूँ।"

गयादीन ने एक बा आँखे खोलीं और बन्द कर लीं।

वीरेन्द्र ने पूछा—"कैसा जी है गयादीन भाई?

गयादीन ने कोई उत्तर नहीं दिया। वीरेन्द्र समझ गया, इनको निमोनिया हो गया है। उसके परिचितों में एक डाक्टर साहब थे, मिश्र। वे पूरे दीनदयालु थे। वीरेन्द्र झट उनको रिक्शे में बैठाल कर ले आया। दूसरे दिन जब प्रात:काल हुआ, तो गयादीन चारपाई पर पड़ा न रह सका। दर्द अब उसके शरीर में बिलकुल न था और ज्वर भी नाम-मात्र को रह गया था। वह एक कटोरे में कुनकुना दूध पीते हुए कह रहा था—"देख, आज से ये वीरेन्द्र मेरा सगा भाई है। अगर इसको कभी तकलीफ़ हुई, किसी बात की, तो फिर मुझ से बुरा कोई न होगा। समझ गई! सारे नाते इसी दिन के लिए होते हैं। मैंने सब को देख लिया।"

फिर जब गयादीन वह कटोरा भर दूध पी चुका, तो उसने मुसकुराते हुए वीरेन्द्र से कहा—"यार, अब मुझ को पान भी खिला दो तुम बढ़िया-सा, बस इसी बात पर! हाँ, मगर ठहरो, मुझको तो बड़े ज़ोर की नींद लगी थी, आज सबेरे। तुमको चाय-वाय कुछ पीने को मिली?"

इतने में बतासो हँसती-हँसती बोली—"चाय तो उन्हों ने खुद ही बनाई थी। सोभी पहले हमको पिलाई थी, तब खुद अपने मुँह से लगाई थी।"

गयादीन के मुँह से निकल गया—"जियो, जियो प्यारे...!"

तब तक वीरेन्द्र घर से बाहर होकर चल पड़ा था और आगे बढ़ता हुआ गयादीन का यह कथन धीरे-धीरे मन्द पड़ता जाता था।

इस प्रकार गयादीन-दम्पति के लिए वीरेन्द्र एक स्मृति बन गया था, उजली और स्थायी।

एक दिन था जब गयादीन वीरेन्द्र को घर लाता हुआ सोच-विचार में पड़ गया था। एक दिन आज है, जब गयादीन सोचता है कि अगर

वीरेन्द्र साल-दो-साल कहीं मेरे साथ और रह पाता तो मैं कितनी उन्नित कर लेता, मेरा जीवन कितना सुखी होता ! और तभी वह अपनी पत्नी से बोल उठा—"खैर, कोई बात नहीं। हम जब-तब उसे घर बुलाते रहेंगे। तुम किसी दिन पूरी-कचौड़ी और खीर बनाना, तब हम उसे बुला लायेंगे।

: २८ :

उस दिन प्रदीप ने इन लड़कियों को साथ लेकर पाँच सौ रुपये की रक़म दिलवाने के लिए कालेज की बस के भीतर जो प्रवेश किया, तो यह देखकर वह चकित हो उठा कि रञ्जना उसमें पहले से बैठी हुई है।

शीला बोली—"तुमने तो कहा था कि तबियत ठीक नहीं है, इसलिए आना नहीं होगा।"

रञ्जना ने प्रदीप को नमस्कार करते हुए उत्तर दिया शीला को—"तबियत ज़रूर नहीं ठीक थी, मगर संस्कारों के अन्दर जमी हुई कर्तव्य-निष्ठा की भावना बिलकुल ठीक थी शीला रानी। इसलिए मैंने सोचा चलना ही चाहिये।"

अरुणा उसका यह उत्तर सुनकर ईर्ष्या से जल उठी और उसके इस कथन के प्रभाव को नष्ट करने का उपाय सोचने लगी। पर तारिणी और शीला दोनों की प्रतिक्रिया ने अत्यन्त गम्भीर रूप धारण कर लिया। शीला बोली—"मैं तुमसे ऐसी ही आशा करती थी।" और तारिणी ने कह दिया—"जब तक हमारे मन में कर्तव्य-पालन की

ऐसी ज्वलन्त भावना न आयेगी, तब तक हमको किसी महत्वपूर्ण काय में कभी सफलता नहीं मिलेगी।"

अरुणा उसके इस कथन के उत्तर में कुछ बोली तो नहीं, किन्तु उसके निम्न होंठ के नीचे का एक कोना कुछ भड़कसा उठा। उसे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मुझे अपदस्थ करने के लिए इन सबने मेरे विरुद्ध कोई षड़यन्त्र रच लिया है। उसके मन में आया कि इस अवसर पर वह क्यों न कह दे कि कर्तव्यनिष्ठा की भावना तो वस्तुतः मन में निवास करती है। वाक्यों, कथनों और घोषणाओं में उसे प्रकट कर देना अपने महत्व का एक क्षुद्र प्रदर्शन मात्र है। किन्तु इतने में गाड़ी का हार्न जो बोल उठा—"पों ! पों !" तो स्वभावत: प्रदीप को हँसी आ गयी। और साथ ही सब लड़कियाँ भी हँसने लगीं। केवल अरुणा पूर्ववत् गम्भीर बनी रही।

बहुत दिनों से प्रदीप अरुणा से तबियत से बोल नहीं पाया था। कोई व्यंग्य और कटूक्ति भी उसने उसके लिए प्रकट नहीं की थी; अत: भी प्रदीप का मन आज कुछ चंचल हो उठा और वह बोला—"मुझे तो आज अरुणा की तबियत कुछ ढीली मालूम पड़ती है।"

शीला ऐसे अवसरों पर कभी नहीं चूकती थी। आश्चर्य के साथ उसके मुँह से निकल गया—"ढीली ! तबियत भी क्या कोई सलवार होती है ! भैया भी कभी-कभी ऐसी बात कर देते हैं कि कोई पानीदार आदमी हो, तो जीवन भर के लिए बोल-चाल ही त्याग दे ! बड़ी ग़नीमत हुई कि बात उन्होंने अरुणा दीदी के लिए कही है, जिनकी तबीयत सदा कपोतिनी बनी रहती है !"

शीला का इतना कहना था कि सब-की-सब लड़कियाँ हँस पड़ीं, यहाँ तक कि अरुणा को भी उसमें भाग लेना ही पड़ा। तभी तारिणी बोली—"मज़ाक तो वही अच्छा लगता है, जो गुलाबी नशा लाने भर

के लिए काफ़ी होता है। मगर शीला की बात में अमृत और वारुणी इकट्ठी हो जाती हैं !"

अरुणा समझ गयी कि आज ये सब मुझे बनाने पर तुल गयीं हैं। अतः इस बात पर उसने मुसकराते हुए उत्तर दिया—"मगर काट वह तेज़ाब का-सा करती है !"

संयोग की बात कि इतने में हार्न फिर बोल उठा और गाड़ी खड़ी हो गयी।

आज प्रदीप जिन सेठ के यहाँ इन लड़कियों को साथ ले गया था, उनसे अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं पड़ी। क्योंकि उसने इस विषय में उनसे पहले ही बातें कर ली थीं। इसलिए जब उनसे सौ-सौ के पाँच हो नोट अरुणा को मिल गये तो रञ्जना बोल उठी—"आपका यह दान हमारी समिति के वार्षिकोत्सवों के इतिहास में एक स्थायी निधि माना जायगा।"

यह एक ऐसी बात थी, जिसे अरुणा हज़म न कर सकी। जिस अवसर की वह प्रतीक्षा में थी, वह उसके सामने आ ही गया। अतएव इस कथन के महत्व को अपदस्थ करने के लिए वह बोली—"दान आपका अवश्य ही अमर रहेगा, क्योंकि उसके साथ आपकी सांस्कृतिक भावना का सम्बन्ध है, किन्तु स्थायी निधि के रूप में उसका उपयोग हम अभी कैसे कर सकेंगे ! क्योंकि सच पूछिये तो हमारी आज की सभी आवश्यकताएँ तात्कालिक हैं।"

रञ्जना को यह समझने में देर न लगी कि अरुणा साधारण वार्तालापमें भी मेरा अपमान करने पर तुल गई है। अतएव उसने उत्तर दिया—"प्रत्येक आवश्यकता तात्कालिक होती हैं। और सभी तात्कालिक आवश्यकतायें मिलकर, संगठित और अद्वैत होकर, एकाग्रभाव से, महत्व के क्षेत्र में, स्थायी निधि ही बन जाती हैं।"

सेठजी इस विवाद को सुनकर हँस पड़े। सभी लड़कियों रञ्जना का

उत्तर सुनकर स्तब्ध हो उठीं। अरुणा कुछ श्रीहत हो गई और प्रदीप के मुँह से निकल गया—"बहुत सुन्दर जवाब दिया तुमने रञ्जना !"

सम्भव था कि अभी इस वार्तालाप का प्रसंग कुछ और भी आगे बढ़ता, किन्तु इसी क्षण अरुणा उठकर चल दी। यहाँ तक कि वह सेठजी को नमस्कार करना भी भूल गयी। साथ की लड़कियों को अरुणा का यह व्यवहार कुछ अशिष्ट भी मालूम पड़ा; पर कार्य अब समाप्त हो चुका था। अतएव सब लड़कियाँ उसके साथ चल दीं।

ठीक इसी क्षण रञ्जना ने कह दिया—"मैं पुनः समिति की ओर से आपको धन्यवाद देती हूँ।" और साथ ही प्रदीप बोल उठा—"मैं भी आपको बहुत धन्यवाद देता हूँ।"

प्रदीप जब रञ्जना के पीछे-पीछे चल दिया, तब शीला अरुणा के के कान में कह रही थी—"तुमको समिति की एकता और उसके एक सामूहिक अनुशासन का घ्यान तो रखना ही चाहिये था दीदी। मुझे तुम्हारी यह बातचीत कुछ द्वेषपूर्ण मालूम पड़ी। यदि हम लोग आपस में ही इस तरह प्रतिद्वन्द्विता के फेर में पड़ जायँगी, तो हमारे आदर्शों को बहुत हानि पहुँचेगी। हम किसी भी महत् कार्य के आयोजन में कभी कृतकार्य्य न होंगी।

अरुणा का मुख क्षोभ से लाल हो गया था। उसके होंठ फड़क रहे थे। उसकी भाषा का संयम शिथिल हो चुका था। अतएव उसने उत्तर दिया—"मैं आज ही त्यागपत्र लिखकर भेज दूँगी !" और तभी शीला ने आवेश में आकर कह दिया—"और हम लोग उसे समिति की अगली बैठक में सहर्ष स्वीकार भी कर लेंगी !"

इस समय रेडियो पर एक वार्ता चल रही थी। उसकी शब्दा-वली इस प्रकार थी—

हमारे सार्वजनिक जीवन में आज समय-समय पर जो शैथिल्य और मुर्दापन देख पड़ता है, उसका मुख्य आधार यही व्यक्तिगत राग-द्वेष है। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि झूठी मर्यादा और प्रतिष्ठा, पदों का मोह और उससे विजड़ित प्रचार, प्रदर्शन और मान-सम्मान की भूख ने सेवा, साधना और कर्तव्यनिष्ठा की भावना को ही मार डाला है !

यह भाषण रिकार्ड किया हुआ था और इसका स्वर था प्रदीप का!

: २६ :

अरुणा घर पहुँचने पर अपने कमरे के अन्दर प्रवेश करती हुई जब पलँग के पास पहुँची तो वह उदास थी--इतनी उदास कि रो भी न सकती थी। कहते हैं— रुदन तो तब फूटता है, जब वेदना का आघात तात्कालिक होता है। उसका यह आघात भी तात्कालिक ही था, परन्तु धीरे-धीरे प्रदीप ने अपने आपको इतना बदल डाला था कि अब उच्चता और आदर्श उसके जीवन के स्वप्न बन गये थे। पहले जब कभी वह मिलता, तब उसकी वाणी में एक मोह, एक आकर्षण और अर्चना की भावना मिलती थी। वह लड़ता भी था, तो उसमें एक आह्वान और निमन्त्रण ही नहीं, विनय भी छिपा रहता था। अरुणा उसकी अवज्ञा करती थी। वह उसकी अव-हेलना और उपेक्षा भी करती थी। यहाँ तक कि कभी-कभी तिरस्कार भी कर बैठती थी। इसमें उसके गौरव को, गौरव की तृष्णा को, एक तृप्ति मिलती थी। वह तृप्ति जो उसकी रूप-सम्पदा का एक अधिकार बन गयी थी, जो उसके संस्कारों के लिए केवल पूरक ही न थी, महिमामयी भी था।

पर उसके उस दिन के व्यवहार ने पाँसा पलट दिया था। धीरे-धीरे प्रदीप ने उससे मिलना-जुलना छोड़ दिया था। वह उससे कभी बात जो कर लेता था, वह केवल प्रसंगवश। उसकी यह उपेक्षा अरुणा के अहंकार के मर्म-स्थल को कुरेदती थी उसमें एक खीझ उत्पन्न करती थी।

उस दिन जब अरुणा रञ्जना के घर गयी थी और उसने प्रदीप को वहाँ पाया था, तब भी वह यही सोचती थी कि प्रदीप मुझे जलाने के लिए यह नाटक दिखला रहा है। किन्तु आज उसे कुछ ऐसा प्रतीत होता था कि मैं जीती हुई बाज़ी हार गयी हूँ। प्रदीप के मन में अब मेरे लिए जगह नहीं रह गयी है और रञ्जना ने तो मेरे स्थान को चारों ओर से घेर लिया है। वह उस पर जमकर बैठ गयी है और अब कसर इतनी ही बाक़ी है कि किसी दिन गोपीलाला का निमंत्रण-पत्र मेरे सामने होगा और मैं कहीं मुँह दिखलाने लायक़ भी न रह जाऊँगी।

यह स्थिति बड़ी प्राण-घातक होती है। मित्रों और परिचितों की मण्डली में संकुचित और यदा-कदा लज्जित हो जानेवाला नेता तो जीवित भी रहता है। निर्वाचन में असफल हो जानेवाला राजनीतिक योद्धा बहुधा सन्यास कम लेता है। किन्तु अपनी ही दृष्टि में गिर जानेवाला-नेता हो कि योद्धा—निरन्तर अपनी ही अन्तर्ज्वाला में जला करता है।

इस परिस्थिति का भी एक कारण है। वह यह कि चुनाव में असफल हो जानेवाला महारथी योद्धा अपने खड़े रहने का एक आधार भी बना रखता है। वह सोचता है कि जनता अबोध है, अशिक्षित और असंस्कृत है। इसलिए न वह मेरे आदर्शों को पहुँच पाती है, न अपनी श्रद्धा मुझे देती है। यह एक विकासशील आधार उसके पास रहता है। वह सोचने लगता है कि वह दिन भी आयेगा, जब जनता मेरे कार्य के महत्व को

अच्छी तरह समझेगी। तब मैं उसकी और अधिक श्रद्धा-भक्ति को प्राप्त करने का पूर्ण अधिकारी बनूँगा। किन्तु जो व्यक्ति अपने किसी दोष के कारण असफल होता है, उसकी स्थिति उस तेजस्वी और भावुक वीरात्मा की-सी होती है, जो नित्य अपनी असफलता पर अपने आप से बहस किया करता है। अपने हाथों से वह अपना मुँह कुचलता हुआ पूछता है कि तूने ग़लती क्यों की? आज अरुणा भी अपने आपसे पूछती है—भीतर से तू जिसको प्रेम करती है, उसका तिरस्कार तू क्यों किया करती है ? केवल अपने अहंकार की तृष्णा शान्त करने के लिए ? केवल अपने अहम् की तुष्टि के लिए ? छिः छिः !

लपेटे हुए बिस्तर और निवाड़ के बिने हुए पलँग पर, अरुणा औंधे मुँह गिर पड़ी और सिसकियाँ लेने लगी। वह लगभग आध घण्टे तक फूट-फूटकर रोती रही—रोती रही ! उसकी माँ आयी और जब उसने उसे इस अवस्था में देखा, तो वह भी अपने आँसुओं को न सँभाल सकी। रुद्धकण्ठ से वह बोली—"रो मत बेटी, रो मत। बस एक ही साल तो तेरा रह गया है। सो भी पूरा हुआ जाता है। फिर सब ठीक हो जायगा। चल खाना खा ले।"

अरुणा ने आँसू पोंछ डाले और उत्तर दिया—"तुम जाओ माँ, मुझे भूख नहीं है।"

माँ बोली—"भूख बेटी दिन भर में सबको लगती है, वह कभी शान्त नहीं होती ! चाहे जितना दुख पड़ जाय, लेकिन भूख कभी नहीं मरती—यहाँ तक कि मर जाने पर भी आदमी ज़िन्दगी की भूख को साथ लिये जाता है। फिर अभी तेरी उमर ही क्या है ! अभी तूने ज़िन्दगी का ककहरा भी तो पढ़ना नहीं शुरू किया। तेरे दुख के लिए अभी कोई आधार नहीं पैदा हुआ, कोई कारण नहीं है तेरे दुख का !"

अरुणा अब अपने आपको न सँभाल सकी और उसके मुँह से निकल

गया—"तुम कुछ नहीं जानतीं माँ—कुछ नहीं जानती। तुम मेरा दुःख अभी न समझ सकोगी !" और वह फिर रो पड़ी। उसकी सिसकियाँ उभरती थीं और बीच ही में टूट जाती थीं। उसकी साँसें उभर उभरकर रह जाती थीं। एक ओर उसका दम फूलता था, दूसरी ओर वह घुट-घुटकर रह जाती थी। वह कुछ कहती थी, पर कह नहीं पाती थी।

माँ ने पूछा—"आखिर कुछ मालूम तो हो कि तेरे दुख का आधार क्या है ? किसने तुझे दुख पहुँचाया है ?"

उत्तर में अरुणा कुछ न बोली। तब माँ ने कह दिया—"हाँ, हो भी सकता है। तू अब सयानी हो गयी है, इसलिए तेरे मन को कभी-कभी अवश्य ही चोट लगती होगी ! लेकिन बेटी, धीरज धरने से ही आदमी को रास्ता मिलता है। धीरज ही वह मन्त्र है, जिससे उसका देवता जल्दी पसीज उठता है। मैं चाहती हूँ तू धीरज से काम ले। मुझे विश्वास है कि तुझे तेरे मन का देवता मिलेगा, अवश्य मिलेगा।"

इस बार अरुणा ने कोई उत्तर नहीं दिया और तब माँ यह कहकर चली गयी—"अब मैं तो तुझे समझाने से रही, भगवान की करुणा ही तुझे समझायेगी। तेरे ही आँसू तुझे धीरज देंगे ! रो ले, जी भरकर रो ले !" और इतना कहती-कहती वह स्वयं भी आँखों में आँसू भरकर उस कमरे से बाहर चली गयी।

आज घर भर में यह बात फैल गयी कि अरुणा रोई थी, अरुणा बहुत रोई थी।

संसार के सारे काम बीच-बीच में स्थगित और बन्द होते रहते हैं। केवल एक समय का चक्र है, जो अपने केन्द्र-विन्दु पर सदा घूमता रहता है। केवल एक समय की वीणा है, जिसका राग कभी बन्द नहीं होता, जो सदा बजती रहती है। मन्द-मन्द ध्वनियों के साथ

संसार का सारा क्रन्दन उसी में समा जाता है। विश्व का सारा कलहास उसमें खेलता रहता है। समय की गति बराबर जारी रहती है, वह कभी नहीं रुकती, कभी रुक ही नहीं सकती !

दोपहर हो रही थी। धीरे-धीरे सब भोजन कर चुके थे। कुञ्ज-बिहारी के बाद उसकी पत्नी भी भोजन कर चुकी थी। कुञ्जबिहारी को आज बहुत जल्दी थी। इसलिये उसने अरुणा से केवल एक बार आग्रह किया था, सो भी केवल औपचारिक रूप से। केवल इतना कहा था —"अरुणा, खाना तो खाना ही पड़ता है। सफलता मिले जीवन में, चाहे चूल्हे में जाय; असफलता छाती पर चढ़कर भले ही नाचने लगे, पर खाना तो खाना ही पड़ता है। इसलिये मेरा केवल इतना कहना है कि खाना तुम खा लो चुपचाप। उसके बाद मैं जब शाम को लौटूँगा, तो देखूँगा, सुनूँगा और समझूँगा कि मैं तुम्हारे लिये क्या कर सकता हूँ !"

इसके बाद कुञ्जबिहारी की पत्नी ने भी अरुणा के पास आकर कहा था—"बीबी तुम बेकार रोती हो। उनके रहते हुए तुम्हें भला क्या दुःख हो सकता है ! ऐसा कौन-सा काम है, जिसको वे नहीं कर सकते ? तुम्हारी कोई ऐसी अभिलाषा नहीं, जिसको पूरा करना उनके बाएँ हाथ का खेल न हो। चलो-चलो, मेरे साथ बैठकर खाना खाओ।"

लेकिन अरुणा उसके बहुत आग्रह करने पर भी खाना खाने न गयी। वह अपने कमरे में ही बनी रही। आँसू उसने पोंछ डाले और वह पुस्तकें उलटती-पलटती रही।

अब दिन के चार बज गये थे। जब महरी दासी कर्म के लिये आयी, और प्रातःकालीन जल-पान के बर्तन उठाने के लिये अरुणा के कमरे में पहुँची, तो अरुणा के मुँह से निकल गया—"अम्मा क्या कर रही हैं ?"

महरी ने उत्तर दिया—"वे तो पूजा करने में लगी हैं, कोई पोथी पढ़ रही हैं !"

अरुणा ने पूछा—"क्या वह भोजन कर चुकीं ?"

महरी बोली—"कहाँ बीबी? बहूजी कहती थीं, आज उन्होंने भोजन नहीं किया ! और हाँ, सुनती हूँ, तुमने भी तो नहीं किया है। मगर बीबी, घर में कहा-सुनी सबके होती है, पर खाना तो कोई नहीं छोड़ता! फिर वे तुम्हारी माँ हैं। अगर उन्होंने तुमको कुछ कह भी डाला हो, तो तुम्हें बुरा न मानकर उनको मना लेना चाहिये।"

महरी की इस बात को सुनकर अरुणा को हँसी आ गयी ! वह बोली—"तू अपना काम कर पियासी, तुझे इस सम्बन्ध में कुछ नहीं मालूम।"

पियासी बोली—"हाँ बीबी, पियासी को भला क्या मालूम हो सकता है !"

यह पियासी नाम की महरी भी एक दुखिया नारी थी। दस वर्ष पहले जब उसका बच्चा नहीं रहा था, तब से फिर उसके कोई बच्चा नहीं हुआ। इस कारण वह सदा दुखी रहा करती थी। अत: एक ठंढी साँस भरकर वह पुन: बोल उठी—"हाँ, पियासी को कुछ नहीं मालूम हो सकता !"

पियासी चली गयी तो अरुणा सोचने लगी—'पियासी शायद ठीक कहती थी।···पियासी को वास्तव में कुछ नहीं मालूम हो सकता, वह स्वयं जो प्यासी है।' वह मन-ही-मन कह उठी—'पियासी तो सारी दुनियाँ है, मैं भी जिसका एक अंग हूँ। मैं भी तो प्यासी हूँ ! पियासी को तो प्यास ही लगती है, भूख नहीं लगती। मुझे भी जो भूख नहीं लगी, वह केवल इसलिये कि मैं प्यासी हूँ—बहुत प्यासी हूँ ! लेकिन···लेकिन यह भूख और यह प्यास क्या एक ही वस्तु-स्थिति के दो नाम नहीं है? प्रत्येक भूख में एक प्यास होती हे और हर

एक प्यास में एक भूख होती है। मुझमें प्यास है, तो भूख भी है। मैं प्यासी हूँ। मुझे प्यास लगी है, तो मुझे प्यास की भूख भी लगी है। वह भूख, जो लगती है और मिटती है। लेकिन प्यास ? प्यास तो सदा लगी ही रहती है। वह कभी नहीं बुझती ! तो जो बुझती है और बुझती रहती है उस भूखसे मेरा क्या वैर है ? मुझे कुछ तो खा ही लेना चाहिये।

इतना सोचती-सोचती अरुणा उठकर खड़ी हो गयी और मन-ही-मन कहने लगी—'आज इस प्यासी ने मुझे सजग कर दिया। आज इस प्यासी ने मुझे मार्ग सुझा दिया और यह सब सोचती-सोचती वह माँ के पास जा पहुँची, जहाँ वह गीता का एक पन्ना खोले हुए पढ़ रही थीं —कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन !

: २७ :

आजका दिन प्रदीप के लिए कई दृष्टियों से कुछ विचारोत्तेजक हो गया था। अब उसके मन में रंजना आकर बैठ गयी थी और वह यह अनुभव करने लगा था कि यह बहुत अच्छा हुआ, जो अरुणा की ओर से मैंने अपनी दृष्टि हटा ली। इसमें उसके अहम् की तुष्टि तो थी ही, उसकी आज की मान्यताओं का पालन और अपने अन्दर उभरनेवाले अनेक प्रश्नों का समाधान भी था। बापू की यह वाणी उसे कभी नहीं भूलती थी कि स्वाद का स्थान रसना नहीं, मन है। इसी कथन को वह अनेक दृष्टियों से बहुत ही उपयुक्त और यथार्थ मानने लगा था।

कल उसने स्पष्ट देख लिया था कि अरुणा की अपेक्षा रंजना में बौद्धिक तत्परता कहीं अधिक है; जबकि रंजना रूप और सौंदर्य्य में अरुणा से कहीं पीछे है। कभी-कभी तो उसे ऐसे अवसरों पर बड़ी उलझन-सी होने लगती थी, वह आश्चर्य के एक महासमुद्र में डूब-डूब उठता था। उसे थाह नहीं मिलती थी; इसलिए फिर वह प्रायः किनारे पर आकर तैरने लगता था। वह अपने आपसे पूछता था—इस जगत् की रचना का यह कैसा विचित्र विधान है कि जिसमें रूप की मात्रा और सौंदर्य्य का परिपाक प्रबल होता है, उसमें ईर्ष्या-द्वेष— छल-कपट और प्रपञ्च—यहाँ तक कि चरित्र-सम्बन्धी दुर्बलता की मात्रा भी अधिक होती है। और जो व्यक्ति एक निष्कपट और आचारनिष्ठ, समुज्ज्वल और तेजस्वी होता है, उसमें रूप प्रायः बहुत कम होता है। तो क्या रूपसौंदर्य से बुद्धि और आचार का कोई जन्मजात वैर होता है? आख़िर यह वैषम्य क्यों है? क्या विधाता की रचना और कला में भी यह कोई दोष है?

इसी क्रम में आज उसके मन में कुछ और भी प्रश्न उभर रहे थे।—'मैं जब अरुणा पर बुरी तरह से आसक्त था, तब वह मेरा कभी सम्मान नहीं करती थी। जितना ही अधिक मैं उसके निकट जाता था, उतना ही अधिक वह मुझे दूर फेंक देती थी! मेरा स्पर्शमात्र उसकी त्योरी बदल देता। मैं अगर निकट चलने लगता, तो वह अपनी गति ही नहीं, उसकी दिशा ही बदल देती थी! मैं यदि उसका सत्कार करना चाहता, तो वह उसे अस्वीकार कर देती; मेरा आकर्षण उसे अपमान प्रतीत होता था। मेरे वार्तालाप से वह डरती और दूर भाग उठती थी। यहाँ तक कि अपनी ओर से बात करने में उसे हीनता का बोध होता था। और आज स्थिति यह है कि वह मेरी रुचि, इच्छा, आवश्यकता तथा सुविधा ही नहीं, दृष्टि तक का ध्यान रखती है। अवसर आते हैं, जब वह मेरी प्रशंसा करती हुई नहीं थकती। अवसर आते हैं,

जब वह मुझसे हँसकर बात करना चाहती है। और ऐसे भी अवसर आते हैं, जब मुझसे निकटता प्राप्त करने में उसे प्रसन्नता ही नहीं, गौरव का भी अनुभव होने लगता है !—प्रभो, तेरी इस रचना की यह कैसी माया है, अद्भुत और विलक्षण ! उलझनों से भरी और रहस्यपूर्ण। उसमें प्रार्थना, विनय, आह्वान और निमन्त्रण का प्रतिदान और उत्तर अपमान, उपेक्षा और तिरस्कार है। और तटस्थता, उदासीनता, निष्पक्षता, ध्यानहीनता और विस्मृति का परिणाम है—मोह, आकर्षण, आरती, वन्दना, अर्चना और समर्पण !

कल प्रदीप जब नगर के सम्भ्रान्त नेता श्री जेतली के साथ— जो एम्० एल्० ए० भी हैं—अपनी गाड़ी से उतरने लगा, तब फूलबाग़ की उस सड़क पर वह क्या देखता है कि एक रिक्शा उसके सामने से आगे बढ़ गया है, जिसमें वीरेन्द्र बैठा हुआ है। पर वह अकेला नहीं है; उसके साथ एक सुन्दर नारी भी है, जिसकी वेशभूषा आधुनिक है। डार्क चश्मा उसकी आँखों पर चढ़ा हुआ है और उसके चप्पल लाल मखमल के हैं। उसके मन में आया कि वह वीरेन्द्र के पास जाकर पूछे—'आज-कल मिलते नहीं हो वीरेन्द्र ! पढ़ाई तो चल रही है न ?' और उस नारी के सामने तो नहीं, पर उसे एक-दो मिनट के लिये एकान्त में ले जाकर पूछे—'यह कौन है ?' किन्तु उसके साथ था एक मान्य नेता। इस-लिए वह उधर ध्यान न देकर उनके साथ-साथ एक रेस्त्रोराँ के अन्दर चला गया। उसे जेतली महोदय से कुछ स्थानीय समस्याओं के विषय में वार्तालाप करना था तथा उनको उनके निवास-स्थान, जहाँ वे आजकल ठहरे हुए थे, छोड़ आना था। बातचीत तो घर पर भी हो सकती थी, पर जब उन्होंने इच्छा प्रकट की कि चलो यहाँ जरा चाय पी ली जाय, तब प्रदीप को उनका साथ देना पड़ा।

ब्वाय को आदेश दे देने के बाद प्रदीप ने वार्तालाप अभी प्रारम्भ ही

किया था कि इतने में घूमता हुआ वीरेन्द्र हेमा के साथ वहीं आ पहुँचा। तब यकायक उसके मन में आया—इसीको कहते हैं संयोग। इसी वीरेन्द्र और इस नारी को लेकर अभी मेरे मन में जो बात उठी थी उसके समाधान के लिये भगवान् ने झट से यह संयोग सामने उपस्थित कर दिया।

कदाचित् इसीलिये हम भगवान को अन्तर्यामी और घट-घटवासी कहा करते हैं।

ख़ैर, तो अब उसके पास जाते ही प्रदीप के मुँह से निकल गया—"अरे वीरेन्द्र, तुमने तो मिलना-जलना ही छोड़ दिया! जानते हो, कितने दिन बाद आज यहाँ दिखलाई पड़ रहे हो? गरमी के दिन थे और लू चल रही थी, तब तुम मिले थे। उसके बाद बीच में छै महीने ग़ायब! कुछ नाराज़ हो मुझसे?"

वीरेन्द्र ने मुसकराते हुए उत्तर दिया—"आप से नाराज़ भला मैं क्यों होने लगा? हाँ, यह मैं अवश्य सोचता रहा कि बार-बार आपको कष्ट देना ठीक नहीं।"

प्रदीप अब गम्भीर होगया। बोला—"तब तो तुम मुझसे ज़रूर नाराज़ हो। उस दिन की बातें जान पड़ता है, तुमको बुरी लग गयीं। सत्य कठोर और कटु तो होता ही है। ख़ैर, अब यह बतलाओ, तुम्हारी पढ़ाई तो चल रही है ठीक ढंग से?"

वीरेन्द्र अपने ऊनी कोट के ऊपर का बन्द बटन खोलते हुए बोला—"पढ़ाई चल नहीं सकी। इसलिये पहले तो कुछ दिनों तक बेकारी और भुखमरी का मज़ा लूटा; फिर नौकरी कर ली। वही अब चल रही है।"

प्रदीप अब रुक नहीं सका। उसने संकेत से पूछा दिया—"और यह साथ में?"

साहस के साथ वीरेन्द्र ने उत्तर दिया—"एक परिचित हैं!"

प्रदीप के मुँह से निकल गया—"तब मैं तुम्हें बधाई देता हूँ वीरेन्द्र !"

वीरेन्द्र अभी उत्तर में धन्यवाद नहीं दे पाया था कि प्रदीप को कह देना पड़ा—"मगर तुम वहाँ अलग क्यों बैठ रहे हो ? इधर निकल आओ।" और वीरेन्द्र सपत्नीक जब प्रदीप के केबिन में आकर बैठ गया, तो प्रदीप ने उसका परिचय देते हुए जेतलीजी से कह दिया—"यह हमारे बाल-सखा वीरेन्द्र हैं और कॉलेज में इनका प्रिय विषय था राजनीति। प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण बेचारे बी० ए० नहीं कर पाये।"

इस पर जेतली महोदय ने कुछ मुसकराते हुए उत्तर दिया—"हाँ, आजकल हमारे देश के युवकों के सामने कई बड़ी गम्भीर समस्याएँ आ गयी हैं; जिनमें पहली है शिक्षा और दूसरी जीविका।"

प्रदीप ने प्रश्न कर दिया—"और तीसरी ?"

उत्साहित जेतली साहब बोले—"तीसरी जीवन-साथी का अनुकूल निर्वाचन !"

वीरेन्द्र इतने में बोल उठा—"लेकिन आप उस समाज की बात कर कर रहे हैं, जो बोर्जुआ है। सच पूछिये तो साधारण जनता के सामने केवल एक समस्या है; समस्या नहीं युद्ध है, जिसका पूरा नाम है 'जीवन-संघर्ष'।

वीरेन्द्र के इस उत्तर पर जैतली महोदय ने प्रश्न कर दिया—"आप यहाँ किस तरह का कार्य करते हैं ?"

वीरेन्द्र का उत्तर था—"मैं यहाँ प्रेस-यूनियन का मन्त्री हूँ।"

इस पर मुसकान के साथ जेतलीजी के मुँह से निकल गया—"तभी" !

प्रदीप फिर विस्मय में पड़कर सोचने लगा—'क्षण-क्षण पर दुनियाँ बदलती जाती है। यही वीरेन्द्र उन दिनों कितनी दुरवस्था में था ! अन्तःकरण का पूरा स्वर तक इसके मुँह से फूट नहीं पाता था !

पर आज देखता हूँ, इसकी हर बात के पीछे एक निश्चित विचार-भूमि ही नहीं, विचारों और उनके सिद्धांतों को स्थिर रखनेवाली एक शक्ति भी है ।"

इतने में चाय सामने आ गयी । सभ्य-समाज में नित्य ही वीरेन्द्र देखा करता था कि चाय-पान के क्षण कई व्यक्तियों के बीच में जब कोई नारी उपस्थित रहती है, तब चाय ढालने का शुभारम्भ प्रायः उस नारी के ही कर-कमलों से होता है । अतएव उसने संकेत के साथ कह दिया—"चाय हम सबको अब तुम्हीं बना कर पिलाओ हेमा !"

इस पर जेतलीजी ने भी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कह दिया—"क्षमा कीजियेगा हेमाजी, इनका मित्र होने के कारण वीरेन्द्र के साथ मेरा भी अब बन्धुत्व का नाता हो गया है । इसलिए अब संकोच त्यागकर मैं यह पूछना चाहता हूँ कि क्या आप बंगमहिला हैं ? क्योंकि केवल नाम ही नहीं, कुछ-कुछ...!"

जेतलीजी का वाक्य पूरा होते-होते हेमा ने सस्मित भंगिमा में उत्तर दे दिया—"जी, मैं बंगनारी नहीं, ंजाब देश की एक साधारण नारी हूँ ।"

जेतली साहब हेमा के इस उत्तर से और भी अधिक प्रभावित हो उठे । बोले—"मगर बोली से तो आप पंजाब की बिल्कुल नहीं जान पड़तीं ।"

तब गम्भीर होकर हेमा ने उत्तर दिया—"मेरे पिताजी जिस कम्पनी में काम करते थे, उसके मैनेजिंग डाइरेक्टर एक बंगीय महोदय थे । हमारा बँगला उनकी कोठी के साथ मिला हुआ था । मेरा यह नाम पिताजी ने उन्हीं के अनुरोध से रक्खा था । जब विभाजन के कारण विध्वंस हुआ, तब मैं माता-पिता और परिवार से छूटकर

घाट-घाट बहती-बहती यहाँ आ लगी। हो सकता है, मेरे संस्कारों में कुछ बंगीय प्रभाव बच रहा हो।" और इतना कहकर उसने चाय का प्याला जेतलीजी के सामने कर दिया।

अब जेतली साहब कुछ गम्भीर हो गये। क्षणभर बाद चम्मच को प्याले में चलाते-चलाते बोल उठे—"विभाजन के विध्वंस ने जहाँ अपने देश की श्री और समृद्धि का नाश सहने के लिये हमको विवश कर दिया, वहाँ परिणाम-स्वरूप उसने अनेक प्रान्तों में एक मिली-जुली सभ्यता को भी जन्म दे दिया है। यों तो दुष्काल तथा तहस-नहस परिवर्तन अथवा क्रान्ति का ही दुष्परिणाम माना जाता है। किन्तु हमको यह न भूलना चाहिये कि प्रत्येक विपत्ति एक नवनिर्माण की पृष्ठभूमि होती है। आपने चाहे जितनी विपत्तियों का सामना किया हो, किन्तु आज आप जहाँ आ पहुँची हैं, वहाँ आपको नवजीवन और नवजागरण का लाभ प्राप्त करने का अवसर भी अवश्य मिला है।"

क्षणभर बाद जब सब लोग एकसाथ चाय-पान में संलग्न हो गये, तो वीरेन्द्र बोल उठा—"बातें तो बहुत-सी हैं, किन्तु हमारा यह मिलन वास्तव में हेमा के सौभाग्य का उतना द्योतक नहीं, जितना मेरे सामाजिक जीवन के नवनिर्माण का। प्रदीपजी से मेरा कुछ भी छिपा नहीं है। वे मेरे जीवन के चढ़ाव-उतार से पूर्ण परिचित हैं। इसलिए मेरे इस कथन की यथार्थता का अनुभव आपकी अपेक्षा उनको अधिक होगा।"

अब प्रदीप को बोलना पड़ा—"तुम कह तो बिलकुल ठीक रहे हो वीरेन्द्र; लेकिन इस अवसर पर मुझे संकोच त्यागकर यह कहना ही पड़ता है कि जहाँ तक सौभाग्य का प्रश्न है, तुम दोनों हो बड़े साहसी और सामाजिक जीवन के एक पावन स्वप्नद्रष्टा। तुमने जो करके दिखला दिया, वह आज बहुतों की ईर्ष्या का विषय बन गया है। तुम

तो भाग्य पर विश्वास करते नहीं हो; लेकिन मैं करता हूँ। इसलिये तुम्हारे भावी जीवन के चिरसौभाग्य की कामना करता हुआ आज मैं तुमको हार्दिक बधाई देता हूँ।"

इतने में जेतली जी के मुँह से निकल गया—"आज तो मैं ज़रा अधिक व्यस्त हूँ, पर कल आप हमारे स्थान पर चाय-पान के लिए अवश्य पधारिये। मैं आपको इसके लिए सादर निमंत्रित करता हूँ। ये प्रदीप जी, मेरा स्थान जानते हैं। इसलिये अच्छा होगा कि आप दोनों इनके साथ ही आ जायँ!"

उत्तरंग प्रदीप बोल उठा—"हाँ-हाँ, यही ठीक रहेगा।"

थोड़ी देर में चाय-पान समाप्त हो गया। सब लोग उठ खड़े हुए। पर अन्त में जब प्रदीप जेतलीजी के साथ चलने लगा, तो उसने देखा—हेमा की आँखों में आँसू डबडबा आये हैं!

हेमा को आज अपना निकट अतीत अनुभूत होने पर भी साकार स्वप्न समान दिखाई दे रहा था!

: २८ :

कुञ्जबिहारी प्रदीप की बैठक में बैठा हुआ था। वायु की गति आज बहुत तीव्र थी, इसलिए बैठक के द्वार बन्द थे। एक खिड़की मात्र खुली थी, परन्तु उससे भी अत्यन्त शीतल पवन इतने वेग से भीतर आ रहा था कि हाथ-पैर ठिठुरे जाते थे। कुञ्जबिहारी बोल उठा—"दादा, यह खिड़की मैं बन्द कर दूँ न?"

प्रदीप की कुछ ऐसी प्रकृति हो गयी थी कि दुर्बुद्धिका प्रयोग यदि

पास बैठे हुए व्यक्तियों में से कहीं कोई कर देता, तो उत्तर देने से पूर्व वह मुस्करा उठता था। आज भी ऐसा ही हुआ। उसने कह दिया—"क्यों, क्या पवन का वेग तुमसे सहन नहीं होता ?"

कुञ्जबिहारी टेबिल पर रक्खे हुए 'पेपरवेट' को हाथ में लेकर बोला—"सर्दी से बचने के लिए हवा पर रोक लगानी ही पड़ती है।"

तब प्रदीप बोला—"सुविधा प्राप्त करने के लिए जो लोग जीवन के लिए अनिवार्य और उपयोगी तत्वों की भी उपेक्षा करते हैं, एक दिन वे अपने विकास पर भी प्रतिबन्ध लगा बैठते हैं, कभी तुमने सोचा है ?"

कुञ्जबिहारी ने 'पेपरवेट' को टेबिल पर यथावत् स्थापित करते हुए उत्तर दिया—'आपको शायद मालूम नहीं है कि यदि मैंने स्वार्थ-साधन की ओर ध्यान दिया होता, तो आज मैं किसी बहुत उच्च पद पर बैठा होता। अपना इसी नीति के कारण मैं एक क्लर्क का जीवन बिता रहा हूँ।"

प्रदीप लेटा हुआ था। करवट बदलते हुए उसने उत्तर दिया—, तुम्हारी उन्नति रुक जाने का मूल कारण थोड़े में सन्तोष और स्वार्थ साधन के प्रति उपेक्षाभाव नहीं हैं, वास्तव में तुममें कोई क्रान्तिकारी वृत्ति ही नहीं है जिसका बल तुमको उस कोटि का साहसी और बीर बना सकता, जिसकी आकांक्षाएँ सदा पूरी होकर रहती हैं।"

ये बातें अभी चल ही रही थीं कि वीरेन्द्र और उसके साथ हेमा वहाँ आ पहुँची। जिस समय ये दोनों नवागन्तुक आ रहे थे उस समय शीला ने परदे के ओट से उन्हें देख लिया था। उसको कुछ कुतूहल भी हुआ। उसके मन में आया—'ये वीरेन्द्र तो पहले भी तो इस घर में आते रहे हैं। हमने इनके कई रूप देखे हैं। एसा भी हुआ कि वे जब रात को यहीं रह गये है तो खाना तो इन्होंने यहाँ खाया ही है, रातको ठहरने के लिए इनको विस्तर लिहाफ़ तथा

कम्बल की व्यवस्था भी करनी पड़ी है। ऐसा भी हुआ है कि ये एक दिन के लिये आये हैं और हफ़्ते भर तक नहीं गये हैं। अन्त में तङ्ग आकर भैया ने इनकी भर्त्सना भी की है और फलत: ये यहाँ से चले गये हैं। ऐसे अवारा आदमी ने इतनी सुन्दर और प्रभावशाली लड़की को कैसे फँसा लिया? अवश्य ही इसमें कोई रहस्य छिपा हुआ है। मगर बड़ा मुश्किल यह है कि भैया के पास सब तरह के आदमी आते हैं। पर भैया उनके स्वागत में कभी कोई बात उठा नहीं रखते। इसका परिणाम यह होता है कि वे परच जाते हैं। आज भी ये किसी-न-किसी मतलब से ही यहाँ आये हैं।'

यही सब सोचती-सोचती शीला पान लगा रही थी। पहले उसके मन में आया कि पान की तश्तरी को वह किसी नौकर के हाथ भेज दे, पर साथवाली उस सुन्दर लड़की से परिचय प्राप्त करने की उत्सुकता से वह तश्तरी हाथ में लेकर स्वयं बैठक में जा पहुँची।

वीरेन्द्र शीला से परिचित था। अतएव उसने उसको नमस्कार जो किया तो हेमा ने भी हाथ जोड़कर उसका अभिवादन किया। तब तश्तरी टेबिल पर रखती हुई शीला बोली—"बहुत दिनों में देख पड़े वीरेन्द्र दद्दा!"

वीरेन्द्र ने उत्तर दिया—"हाँ शीला, कुछ ऐसी उलझनें जीवन पर छा गईं कि आ नहीं सका। जो लोग बेकारी का जीवन बिताते हैं, बहुधा वे अपनें आत्मीय सम्बन्धों को पूर्ण निभा नहीं पाते हैं। हर एक व्यक्ति अपने मन में थोड़ा-बहुत अहंकार ज़रूर रखता है। नित्य सहायता के लिये हाथ पसारते-पसारते एक दिन उसका सारा स्वाभिमान मर जाता है। यह स्थिति बड़ी भयानक होती है। जो लोग दुर्बल हृदय और मस्तिष्क के होते हैं, वे दुर्दशाओं में पड़कर समाप्त भी हो

जाते हैं। यहाँ तक कि दुनियाँ को पता भी नहीं चल पाता कि वे कब और किस तरह मर गये ! मैं भी बच ही गया किसी तरह। नहीं तो प्रदीपजी को पता भी नहीं चल पाता कि मैं किस जगत में जा पहुँचा हूँ !"

उसका इतना कहना था कि कुञ्जबिहारी बोल उठा—"माफ़ कीजियेगा, मैं बीच में बोल उठने की धृष्टता कर रहा हूँ। मैं तो यही समझता हूँ कि अब सारे संसार में केवल दो प्रकार के वर्ग रह गये हैं। एक वे हैं, जो अपने आदर्श-विरोधी व्यक्तियों के साथ समझौता न कर पाने के कारण बेरोज़गार और बेकार हो गये हैं और दूसरे वे लोग हैं, जो उत्पादन के समस्त साधनों को बहुत मज़बूती के साथ हस्तगत किये बैठे हैं और इसलिये अपने अधीनस्थ वर्ग के साथ-साथ बेरोज़गार और बेकार वर्ग के स्वामी बन बैठे हैं। इसलिये आज मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि समाज में यह जो प्रबल वैषम्य उत्पन्न हो गया है, इसका मूल कारण बेकारी है। और इसको उत्पन्न करने का सारा उत्तरदायित्व उस समाज पर है, जो पूँजीजीवी है।"

शीला इन बातों को सुनती हुई अब तक तख़्त के ऊपर एक कोने में बैठी हुई थी; पर अब वह उठकर चिक के बाहर जाने लगी। पर इसी समय अरुणा वहाँ आ पहुँची। उस मकान के पास उसके रिश्ते के एक मामा रहते थे। अभी हाल ही में उन्होंने दूसरा विवाह किया था। वे जबलपुर के सी० ओ० डी० में नौकरी करते थे। पर हाल ही में उनका ट्रान्सफर हो गया था। अतएव अरुणा उन मामी के पास ही बैठी वार्तालाप कर रही थी। यद्यपि वह आयी कुञ्जबिहारी के साथ ही थी।

शीला को सम्मुख देखकर अरुणा ने पूछा—"दद्दा क्या कर रहे हैं?"

शीला बड़ी मुँहफट लड़कियों में से थी। अभी पिछले दिन की बात वह भूली न थी, जब इसी अरुणा ने धमकी देते हुए उससे कह दिया था कि मैं समिति की सदस्यता से त्यागपत्र दे दूंगी। अतएव उसके मन में आया कि वह कह दे कि दद्दा व्यायाम कर रहे हैं। जाओ तुम भी साथ में प्रारम्भ कर दो। पर घर आयी हुई सखी को इस तरह का उत्तर देना उसके संस्कारों को स्वीकार न हुआ। इसलिये उसने कह दिया—"क्यों, अब उनसे मिलने की क्या आवश्यकता आ पड़ी ? क्या फण्ड में फिर कुछ कमी आ गयी ! मगर हाँ, मैं यह भूल ही गयी थी कि उस दिन तुमने एक बहुत बुद्धिमानी का कार्य सोच लिया था। मेरा ख्याल है, अब तक उसे कर भी डाला होगा। क्यों, त्याग-पत्र दे दिया न ?"

शीला के इस प्रश्न को सुनकर अरुणा सहम गयी। वह अब तक कभी की यह समझ चुकी थी कि मुझमें बुद्धि का बल उतना नहीं, जितना भावना का प्रभाव है। अतएव शीला की इस चुटकी को भी वह चुपचाप सह गयी।—अन्दर की ओर वाले कमरे के खुले किवाड़ को और भी अधिक खोलती और उसके भीतर जाती हुई धीरे से बोली—"वह बात तो मैंने केवल तुमसे कही थी। उसका वह मतलब कदापि न था, जो तुमने समझ लिया है। तुमको तो मालूम है, मैं दिन भर में पचास तरह की बातें सोचती और तुरन्त कह डालती हूँ; पर सभी को चरितार्थ करना तो बड़ा कठिन होता है। मैं आज दद्दा से कुछ अपनी निजी समस्याओं पर सलाह लेने आयी हूँ।"

शीला अब उसका हाथ पकड़कर भीतर ले गयी और बोली—"अच्छा सच-सच बतलाओ, यह उस दिन जो तुमने सेठजी के सामने रंजना की बात की नाक पर कतरनी चला देने की चेष्टा की उसके मूल में तुम्हारी कौन-सी भावना थी ? तुमको तो मालूम है,

कि रंजना अब मेरी भाभी बनने जा रही है। ऐसी दशा में तुमको अपने लिये न सही, पर कम-से-कम मेरे लिये तो उसका मान करना ही चाहिये था।"

अरुणा शीला की इस बात को सुनकर स्तब्ध हो उठी और इस विषय को कुछ टालती हुई बोली—"वह बात और थी। किसी के विरोध का इसमें प्रश्न ही नहीं उठता। तुमको उसका कुछ ख़्याल नहीं करना चाहिये शीला।"

जब इधर ये बातें चल रही थीं, तब उधर प्रदीप के कमरे में बड़े ज़ोर का विवाद उत्पन्न हो उठा। यहाँ तक कि वीरेन्द्र का स्वर अब इस कमरे में भी आने लगा। वह कह रहा था—"जी नहीं, क़तई नहीं, मैं यह कभी नहीं मान सकता कि भूख और प्यास चाहे तन की हो, चाहे मन की, उसको गीता अथवा मनुस्मृति के बड़े-से-बड़े सिद्धान्त और नीति-वाक्य सहज ही शान्त कर सकते हैं। मैं तो इस विश्वास का आदमी हूँ कि भूख और प्यास का निवारण जीवन के लिये उतना ही आवश्यक है, जितना उसके प्राणों का स्पन्दन, उसकी साँसों का आवागमन, उसकी धमनियों का रक्त-प्रवाह, उसके मुख की वाक्‌शक्ति, उसके नयनों की ज्योति और उसके हृदय का प्यार। यह हमारी, हमारे जीवन की मूल आवश्यकता है; और जो राष्ट्र, शासन-पद्धति और विधान इन आवश्यकताओं की पूर्ति के मार्ग को प्रशस्त नहीं करता, वह जनसत्तात्मक कभी हो ही नहीं सकता।"

अब प्रदीप के मस्तक की नसों में तनाव आ गया था। झट से बोल उठा—"जनसत्तात्मक विधानों के शुभारम्भ की इन पावन घड़ियों में जो व्यक्ति या वर्ग ढिंढोरा पीट-पीटकर, नारे लगा-लगाकर, चारों ओर यह प्रचार करता घूमता है कि भाइयो, जनता की शान्ति और व्यवस्था के लिये ऐसा संकट कभी नहीं उत्पन्न हुआ,

जैसा आजकल है, करों का बोझ व्यवसायी वर्ग से लेकर साधारण किसानों तक ऐसा कभी नहीं पड़ा, जैसा आज है और विचारों की स्वतन्त्रता की ऐसी हत्या भी कभी नहीं हुई, जैसी आज डंके की चोट पर नित्य होती है, वह सत्य से उतना ही दूर है, जितना इस धरती से सूर्य।"

"धरती से सूर्य की दूरी का तो एक अटल निश्चित प्रकृत विधान है" वीरेन्द्र ने बिना किसी प्रकार की उत्तेजना व्यक्त करते हुए उत्तर दिया—"जिसमें अन्तर कभी पड़ता ही नहीं। पर आपके यहाँ तो न्याय तभी मिलता है, जब वर्ग और पार्टी का अवलम्ब ग्रहणकर उच्च न्यायाधीशों का द्वार खटखटाया जाता है। सिंचाईसम्बन्धी आन्दोलन को ही ले लीजिये। यदि उसे विवाद का विषय न बनाया जाता, यदि भारतीय संविधान की एक धारा-विशेष के सत्ताधारी अर्थ पर सन्देह न किया जाता, तो क्या कभी वास्तविक न्याय का स्पष्टीकरण हमारे सामने हो सकता था? मैं आपसे साफ़-ही-साफ़ पूछना चाहता हूँ कि इस उदाहरण से क्या यह सिद्ध नहीं होता कि विधानगत अधिकारों की सुखशान्ति का उपभोग भी हम तभी कर पाते हैं, जब हममें एक संगठित बल होता है। उस वर्ग से संघर्ष लेने का बल, जो आज शासन और व्यवस्था की कुर्सियों पर बैठकर न्याय और सत्य का अपमान करता हुआ नहीं लजाता और केवल यह देखता है कि मेरी यह कुर्सी जीवन-भर मेरे लिए स्थिर बनी रहे और जिन आदेशों पर मेरे हस्ताक्षर होते हैं, उनका पालन निर्विघ्न होता रहे; जनता और समाज के हित चूल्हे-भाड़ में जायँ! हमें उनसे कोई बहस नहीं!"

वीरेन्द्र की इस बात पर प्रदीप को कुछ हँसी आ गयी। और ठीक इसी क्षण शीला अरुणा को लेकर उस कमरे में आ पहुँची।

प्रदीप ने एक बार अरुणा को देखा और तदनन्तर वह बोल उठा—"कामरेड वीरेन्द्र, तुम जो बात कह रहे हो, तुमको पता नहीं है कि वह, मूलरूप में, मेरे ही पक्ष में जाती है। क्योंकि जब शासन-व्यवस्था में इतनी लोच रहती है कि बौद्धिक विश्लेषणों और व्याख्याओं से हम विधानगत अनुशासन की उग्रता और कठोरता का संरक्षण करने और नियन्त्रण रखने में, समर्थ हो सकते हैं, तभी हमें यह कहने का अवसर मिलता है कि वास्तव में हमारा विधान, विचार-स्वातन्त्र्य की रक्षा में, इतना अधिक समर्थ है। संसार के किसी भी राष्ट्र के विधान में अगर इतनी लोच, इतनी गुञ्जायश है और बनी रहती है तो उस पर यह लाञ्छन तो कभी आ ही नहीं सकता कि वह तानाशाही को प्रश्रय देता है या उसका आन्तरिक रूप कहीं से भी फ़ैसिस्ट है। रह गयी बात सिंचाई के आन्दोलन के सम्बन्ध में व्यवस्थाजन्य नीति की, सो उस पर भी मेरा तो यही मत है कि राजकीय आदेशों के पालन में जब तक कठोरता से काम नहीं लिया जायगा, तब तक शान्ति और व्यवस्था का कार्य सुचारु रूप से चल नहीं सकता। सरकार के नित्य वदलते रहने की स्थित में, पालन होने की अवस्था से पहले ही, जो आदेश तिरस्कार और संगठित विरोध के पात्र बन जाते हैं, उनसे शासन की नींव को बल मिलने के स्थान में व्याघात मिलता है। तथ्यों और निष्कर्षों को सही और ग़लत प्रमाणित करने का अधिकार बुद्धिजीवी वर्ग को सदा रहेगा। किन्तु जहाँ तक व्यवस्था का सम्बन्ध है, कोई भी शासन-सत्ता अपना सक्रिय, हिंसात्मक और प्रतिहिंसात्मक विरोध कभी सहन नहीं कर सकती।"

अरुणा बैठी हुई अब तक ये बातें चुपचाप सुन रही थी। अब अनुकूल अवसर देखकर अपनी साड़ी के बाएँ अञ्चल को दो अँगुलियों के योग से पार्श्वस्थिर कर वह बोल उठी—"अगर धृष्टता न

समझी जाय, तो मैं भी कुछ निवेदन कर दूँ ?"

तब प्रदीप के मुसकान भरे मुँह से निकल पड़ा— 'ज़रूर-ज़रूर !"

अरुणा बोली—"यह विषय सत्य और न्याय की दार्शनिक व्याख्या से उतना सम्बन्धित नहीं है, जितना राजनैतिक प्रवृत्तियों से। जो लोग यह सोच लेते हैं कि शासन और व्यवस्था की कुर्सियों पर आसीन रहने वाले ईसा और बापू के अवतार होते हैं, वे बहुत भ्रम में हैं। राजनीति का मुख कभी उज्ज्वल नहीं होता। वह तो उस अभिनेत्री के समान होता है, जो अपनी वास्तविक मुखछवि सदा प्रच्छन्न रखती है। क्रीम, पाउडर, लिपिस्टिक, स्नो यहाँ तक कि एक निश्चित लेप के बिना फोटोग्राफ़ी में रूप और छवि की प्रभावशाली झलक कभी उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिए विधानों के अर्थों में चढ़ाव-उतार की गुंजायश तो सदा रहेगी। क्योंकि जो अभिनेत्री आज एक सवाक् चित्र में सती सीता का अभिनय करती है, वही कल दूसरे सवाक् चित्र में नर्तकी और वेश्या भी बन जाती है। दोष उस अभिनेत्री का नहीं, उस सवाक् चित्र की वस्तुस्थिति का है, जो उस अभिनेत्री को बहुरूपिया बना देती है। दोष मनुष्य की उन वृत्तियों का है, जो अधिकार पाते ही तप और साधना से मुँह मोड़ लेती हैं; और मुझे स्पष्ट रूप से यह कहने में आज यहाँ कोई संकोच नहीं है कि दोष हमारे देश के उन महारथियों का है, जो अपने आदर्शों को भूलकर आज नैतिक पतन के मुँह का ग्रास बन बैठे हैं। मुझे बहुत दुःख के साथ कहना पड़ता है कि बापू के नाम का जयघोष करनेवाले उनके पुजारी ही आज उनके आदर्शों के सबसे बड़े शत्रु बन गये हैं !

अरुणा का इतना कहना था कि कुञ्जबिहारी पुलकित हो उठा और प्रदीप के मुँह से निकल गया—"यह तुम ठीक कहती हो अरुणा। मैं मानता हूँ कि हमारे देश के सामने इस समय सब से बड़ी समस्या

नैतिक सुधार की ही है।"

अभी ये बातें हो ही रही थीं कि फोन की घण्टी बज उठी। शीला झट फोन के पास जा पहुँची। रिसीवर उसने जो कान से लगाया तो यकायक उसका हाथ हिल गया। क्षण भर तक वह फोन को बहुत सावधानी के साथ पकड़े रही, किन्तु बात समाप्त होते ही फोन को वहीं रखकर वह झट प्रदीप के पास आ पहुँची और बोली—"भैया, बड़ा ग़ज़ब हो गया! गोदाम में आग लग गयी!"

प्रदीप एक क्षण का भी विलम्ब किये बिना नीचे आ गया और बालूराम से बोला—"जल्दी गाड़ी लाओ"!

: २६ :

वीरेन्द्र जितनी देर घर से बाहर रहता था, उतनी देर हेमा निरन्तर काम में लगी रहती थी। इसका एक कारण था। एक दिन वीरेन्द्र एक समाचारपत्र ले आया, उसमें बापूकी वाणी के कुछ ऐसे उद्धरण दिये हुए थे, जिनमें उनके महान चरित्र के सम्बन्ध में कुछ विचारों की चर्चा थी। उनमें से एक विचार का उसकी चेतना पर कुछ विशेष प्रभाव पड़ गया था। वह विचार इस प्रकार था—

"कोई क्या करता है वे इसको बहुत महत्व नहीं देते थे। महत्व इस बात को देते थे कि वह करता क्या है और इससे भी अधिक इस बात को कि जो किया जाता है, उसके पीछे कर्ता का भाव क्या है?"

उनकी इस प्रकृति का मूल आधार सत्य की पूजा थी। इसीलिये वे

कहा करते थे—"व्यवहार और आचार का एक कण बड़ी-बड़ी बातों के एक मन से भी अधिक मूल्य रखता है।"

इस विचार से हेमा को बड़ा बल मिला था। अभी कुछ ही दिन पूर्व उसने पतन का जो विवश जीवन बिताया था, उसके प्रति उसके मन में कभी-कभी बड़ी घृणा उभर आती थी। वह प्रायः यह सोचने लगती कि इन दुरवस्थाओं को स्वीकार करने से पूर्व मैं रेल से कट-कर, गंगा में डूबकर, अथवा विष-पानकर मर क्यों नहीं गयी! ठंढी साँसें उभर उठतीं और वह चुपचाप एकान्त में पड़ी-पड़ी रोया करती! किन्तु रोने से भी उसका दुःख घटता न था। बार-बार एक ही विचार उसके मस्तिष्क से टकराया करता—'मैं मर क्यों नहीं गयी?' उसे इस बात का भी कम दुःख न होता था कि जीवन के प्रति मेरे मन में इतना मोह क्यों बना रहा?

उसने बापू की आत्मकथा पढ़ डाली थी। उसके मन में यह बात स्थिर होकर जम गयी थी कि पापी की आत्मा तभी स्वच्छ और निर्मल होती है, जब वह कोई प्रायश्चित करता है—और उपवास उन प्रायश्चितों में सब से उत्तम है। इसका फल यह हुआ कि उसने छिपे तौर से उपवास करना प्रारम्भ कर दिया और भोजन बिल्कुल त्याग दिया।

भोजन करने का समय होने पर वीरेन्द्र कहता—चलो खाना खाओ।

हेमा मुसकराकर उत्तर देती—"मुझे भूख अभी लगी ही नहीं। तुम्हारे साथ खाने बैठ जाती हूँ, तो तुम दुलरा-दुलराकर मुझे बहुत अधिक खिला देते हो; इतना अधिक कि मैं उसे हज़म नहीं कर पाती। इसलिये मैं तो खाऊँगी नहीं। मगर इससे क्या? चलो, मैं तुम्हें परस देती हूँ।" और इस कथन के बाद जब वह वीरेन्द्र को खिलाने बैठती, तो आग वनाकर उसमें अपनी देह सेंक-सेंक कर इस ढंग से बात करती कि

उसका रोआँ-रोआँ हँस उठता। वीरेन्द्र समझ न पाता कि हेमा मुझे भुलावा दे रही है।

तीन दिन तक यही क्रम चलता रहा ; हेमा ने भोजन नहीं किया, किन्तु घर के कार्य में उसने कोई त्रुटि न होने दी। एक ओर उसका उपवास चलता रहा, दूसरी ओर घर का श्रमसाध्य कार्य। इसका फल यह हुआ कि एक दिन जब वीरेन्द्र प्रेस से लौटा तो क्या देखता है कि हेमा चारपाई पर चुपचाप पड़ी है। वीरेन्द्र ने पास आकर उसके सिर पर हाथ रख दिया। फिर जब उसे गरमाहट का भान हुआ तो रजाई के भीतर हाथ डालकर उसकी देह का ताप-मान देखते हुए उसने कह दिया—"कुछ तबियत ख़राब हो गयी क्या ? तुम्हारा मुख आज बहुत म्लान जान पड़ता है।"

तुरन्त हेमा ने करवँट बदलकर साड़ी से मुँह ढक लिया।

वीरेन्द्र कमरे के द्वार पर आकर बोल उठा—"डॉक्टर लेने जा रहा हूँ हेमा। अभी तुरन्त लौट आऊँगा।"

तब हेमा रो पड़ी और सिसकियाँ के स्वरों में उसने कह दिया—"कहीं मत जाओ। मेरी तबियत यों ही ठीक हो जायगी।"

अब वीरेन्द्र बोल उठा—"तो चलो, मेरे साथ खाना खाओ।"

हेमा ने आँसू पोंछ डाले; वह उठकर बैठ गयी और बोली—"चलो।" पर साहस करके जो चारपाई से उठकर चार क़दम आगे बढ़ी तो कमरे के बाहर आती गिरती-गिरती बची। वीरेन्द्र अगर सहारा न देता, तो गिर ही पड़ती। दायें कंधे को हाथ से थामकर वीरेन्द्र उसे रसोईघर में ले आया। तब हेमा ने वहाँ बैठकर वीरेन्द्र को खाना परोस दिया।

वीरेन्द्र बोला—"शुरू करो।"

हेमा अपने लिये एक अलग कटोरी में साबूदाना परोसती हुई

बोली—"मैंने अपने लिये साबूदाना बना लिया है। मैं वही खाऊँगी।"

वीरेन्द्र तब खाना प्रारम्भ करते-करते बोल उठा—"मेरी समझ में नहीं आता कि इतनी कमज़ोरी तुममें कैसे आ गयी कि तुम चार क़दम के बाद ही गिरती-गिरती बचीं।"

तब हेमा साबूदाना कण्ठगत करती-करती मुसकरा उठी बोली—"मैंने तुम्हें बताया नहीं और तुमको यह भाँप लेने का अवसर भी नहीं दिया कि मैं तीन दिन से बराबर उपवास कर रही थी!"

वीरेन्द्र के हाथ का कौर गिर पड़ा! चकित-विस्मित और दुखित होकर उसने पूछा—"तुमने ऐसा क्यों किया हेमा?"

हेमा की आँखें भर आयीं। वह बोल उठी—"यह मत पूछो बाबू।"

वीरेन्द्र और भी मर्माहत हो उठा। उसके मुँह से निकल गया—"नहीं हेमा, तुम्हें बतलाना ही पड़ेगा।"

तब हेमा ने आँसू पोंछ डाले और कह दिया—"तुम नहीं जानते पिछले दिनों के पापों की याद कर-कर के मैं मन-ही-मन कितनी रोया करती हूँ। जब मेरे अन्दर की पवित्रता मुझसे पूछ उठती है—तू मर क्यों नहीं गयी हेमाङ्गिनी? तब···तब···।" और इतना कहती-कहती हेमा रो पड़ी!

परन्तु इसके पश्चात् हेमा बापू की इस वाणी से यथेष्ट शान्ति का अनुभव करने लगी थी कि वे उसको और भी अधिक महत्व देते थे कि 'जो कुछ किया जाता है, उसके पीछे कर्ता का भाव क्या है?' घने अंधकार में एक प्रकाशपुञ्ज-सा अब उसकी चेतना के समक्ष दीप्तमान हो उठता; और वह सोचने लगती कि मेरे पापों के पीछे मेरी भावना भोग की न थी, न थी, कदापि न थी। एक मजबूरी थी, विवशता थी। एक स्वप्न था जो अधूरा रह गया था। उसी अधूरे स्वप्न को वह

पूरा करना चाहती थी। वह जीवन चाहती थी, सम्पूर्ण जीवन चाहती थी। उसने बचपन में सुख का जीवन देखा था और उसके बाद विध्वंस की नारकीय लीला में उसने घोर दुःख, घोर नैराश्य और घोर दुरवस्था का गलित पतित जीवन भी देखा। किन्तु कभी किसी क्षण वह यह बात भूल न पाती थी कि मुझे भी जीवित रहने का अधिकार है, मुझे भी पतन से उठकर एक सती नारी का निष्कलुष जीवन व्यतीत करने की आकांक्षा है।

उसके इस विचार का भी एक आधार था। और वह था एक चित्र, एक लोक-कथा कि "सुआ चुगावत गणिका तारी।"

वह प्रायः सोचने लगती—भगवान् क्या वास्तव में इतने करुणामय हैं कि गणिका से भी वे घृणा नहीं करते ? यदि वह उनको याद करती है, उनका स्मरण रखती है, तो वे उसको भी क्षमा कर देते हैं। जब कभी उसको इस बात का स्मरण हो आता, तब एक क्रन्दन उसके भीतर से उभर उठता। वह जब अपने दुःख को सँभाल न पाती, तो दिनभर का उपवास कर डालती। काम में लगी रहती। उसमें कोई कमी न आने देती, किन्तु भोजन त्याग देती। इस उपवास-प्रणाली से उसको सुख-सन्तोष और शान्ति मिलती थी। इसलिए वह अब अपने विचारों को ही नहीं, कर्म को भी उज्ज्वल बनाने में तत्पर हो गयी थी। इस तत्परता में सदा उसे बापू की वाणी से बहुत बल मिलता था।

एक दिन, रात में, उसको उस ऐतिहासिक दिन का स्मरण हो आया जब वीरेन्द्र सोनेलाल के यहाँ से पीतल का वह वज़नी कलश चुरा लाया था। वह दिन कदाचित् दूसरी तारीख का था। उसके एक दिन पूर्व वीरेन्द्र को वेतन मिला था। प्रातःकाल हुआ। नित्यकर्मों से निवृत्त होकर जब वह चाय बनाने बैठी, तो बहुत गम्भीर थी। यहाँ तक कि उसकी उदासी वीरेन्द्र से छिप न सकी। चाय का पहला

घूँट कंठस्थ करते हुए, वीरेन्द्र ने पूछा—"हेमा, तुमको क्या हो गया है जो तुम कभी-कभी बहुत उदास हो उठती हो ? मैंने तुम्हें कितना समझाया कि परिस्थितियों के जाल में पड़कर जब मनुष्य कोई अपराध कर बैठता है, तब वह वास्तव में पापी नहीं होता । क्योंकि उन परिस्थितियों का निर्माण जाल में फँसे हुए अवश-विवश व्यक्ति के द्वारा नहीं होता, वरन् एक वर्ग-विशेष के द्वारा होता है, समाज के द्वारा होता है । मैंने तुमसे कितनी बार कहा कि तुमको सब कुछ भूलकर सदा प्रसन्न रहना चाहिये ।"

हेमा वीरेन्द्र की इस बात को धैर्यपूर्वक सुनती रही, सुनती रही । किन्तु जब उसकी बात पूरी हो गयी तो वह बहुत विनयपूर्वक किन्तु गम्भीर वाणी में बोली—"पाप और पुण्य का तुम चाहे जो अर्थ लगाओ, पर मैं तो इतना ही जानती हूँ कि जो आदमी पवित्र बनना चाहता है, बड़ा बनना चाहता है, उसे अपने पापों का प्रायश्चित करना ही पड़ता है । तुम उस दिन मेरे लिए सोनेलाल के यहाँ से जो कलशा चुराकर ले आये थे, यह बात तुम भूल सकते हो, लेकिन मैं कैसे भूल जाऊँ ! मैं तो नहीं भूल सकती । मेरी समझ में नहीं आता कि अगर तुम्हारे अन्दर सत्य और ईमानदारी नाम की कोई चीज़ है और अब तक वह बनी हुई है, तो तुमने इसका प्रतिदान क्यों नहीं किया ? तुम समझते हो कि जिसने हमको बनाया है, यह दुनियाँ रची है, वह तुम्हारी इस चोरी को क्षमा कर देगा ? ऐसा कभी नहीं हो सकता ! तुम स्वयं अगर ईमानदार नहीं हो,तो तुमको दूसरे लोगों से ईमानदारी का व्यवहार पाने का कोई अधिकार नहीं है । अगर तुमने अपनी यह आदत न छोड़ी तो तुम कभी सुखी नहीं रह सकते बाबू ! तुम सदा दुखी रहोगे ! मैं तो यह कभी सोच ही नही सकती कि कोई आदमी ऐसा भी हो सकता है, जो उसके साथ दग़ा करे, उसको धोखा दे, जिसने उसे सहारा दिया है,

उसकी सहायता की है ! तुम अगर सच्चे और ईमानदार नहीं बनते ता तुम मुझको मार ही क्यों नहीं डालते ! तुम अपने हाथ से ज़हर ले आओ और मुझे पिला दो। मैं मर जाऊँगी, मगर उफ़ न करूँगी। और आज तुम्हीं मुझसे यह पूछ रहे हो कि तुम उदास क्यों रहती हो ! इसके उत्तर में मैं तुमसे यह पूछती हूँ कि तुम अब तक इस जिन्दगी और इस दुनियाँ से इतना भी नहीं सीख सके कि जिया कैसे जाता है ? अगर तुमका बेईमान और धोखेबाज़ ही बना रहना था तो तुमने मुझे बचाया ही क्यों ? मेरी रक्षा क्यों की ? बोलो, बोलो बाबू!" और बस इतना कहते-कहते हेमा की आँखें बोल उठीं।

यह दृश्य वीरेन्द्र के जीवन में बिलकुल नया था। उसने कभी इसकी कल्पना भी नहीं की थी। वह कभी सोच ही न सकता था कि जिस नारी को वह पतन के गर्त से छुड़ा लाया है, उसकी अपेक्षा स्वयं उसका जीवन कहीं अधिक पतित है। आज वीरेन्द्र सोचने लगा कि सच बात तो यह है कि हेमा के जीवन का निर्माता मैं नहीं, वरन् हेमा स्वयं ही मेरे जीवन की निर्मात्री है। तब उसने उसी क्षण हेमा को कण्ठ से लगा लिया। उसकी पीठ ठोंकता और बार-बार प्यार-से अपना आत्मदान करता हुआ वह बोल उठा—"शाबाश हेमा ! तुमने केवल अपनी ही लाज नहीं रक्खी, तुमने तो वास्तव में मेरी भी लाज रख ली है ! लाओ, मुझे सत्रह रुपये दो ! मैं वैसा ही, उतने ही वज़न का कलशा सोनेलाल को दे आऊँ !" और उसका इतना कहना था कि हेमा ने दस-दस के दो नोट निकालकर वीरेन्द्र को दे दिये थे।

कलशा वापस पाकर सोनेलाल को बड़ा आश्चर्य हुआ था। उसने कहा—"यह तो मुझे मालूम था कि कलशा तुम्हीं ले गये होंगे। क्योंकि पड़ोस में गिरधारीसिंह ने मुझे बतलाया था कि उस दिन रात के समय तुम मेरी तलाश में थे। और तुम्हारे इस स्वभाव से तो मैं

परिचित ही था कि तुम कुछ भी कर सकते हो ! पर यह मैं नहीं जानता था कि एक ऐसा दिन भी आयेगा, जब तुम अपने पाप को स्वीकार करते हुए लजाओ नहीं।"

वीरेन्द्र सोने के इस उत्तर को सुनकर प्रसन्नता के साथ बोला— "मैं उन व्यक्तियों में नहीं हूँ जो समाज में इसलिए सदा दबे पड़े रहते हैं कि वे दीन और ग़रीब हैं। मैं ग़रीबी को अभिशाप नहीं मानता। क्योंकि मैं उसके उस ऐश्वर्य से भी परिचित हूँ, जो अमीरी के लिए ईर्ष्या की वस्तु है !"

इस घटना के बाद फिर आया वह दिन, जब वीरेन्द्र उसे अपने साथ रिक्शे पर बैठालकर ठंडी सड़क घुमाने के लिये ले गया था। और एक रेस्तोराँ में चाय पीने के लिये वह जो वीरेन्द्र के साथ गयी, तो वीरेन्द्र को मिल गया उसका एक ऐसा मित्र, जो समाज में बहुत प्रतिष्ठित और एक बड़ा आदमी था। वहाँ जो बातें हुईं, उनसे वह मन-ही-मन जितनी सुखी हुई, चलते समय उतनी ही अधिक दुखी भी हो उठी।

यह दुख हेमा के लिये नये प्रकार का था। वह अब यह सोचने लगी थी कि यदि यही दशा रही, अगर इसी प्रकार मैं वीरेन्द्र के साथ लगी रही, उसके दोस्तों के पास भी बराबर जाती आती बनी रही, तो कहो-न-कहीं ऐसा भी तो हो सकता है कि उसके समाज का कोई व्यक्ति उसी तरह का रूप और वेशभूषा का निकल आये, सचमुच मिल ही जाय, जिसने मुझे कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं, साँप की भाँति डस लिया हो ! तब उस समय मैं अपना दुःखावेग, अपनी भयानक प्रतिक्रिया, कैसे सँभाल सकूँगी ! उसके सामने सिर उठाकर मैं कैसे कोई बात कर सकूँगी !

इस विचार-मन्थन के साथ जब वह घर लौटी थी, तब इसी वीरेन्द्र ने उससे ऐसा ही प्रश्न किया था।—"क्यों हेमा, तुम इस समाज के साथ बैठते-उठते क्षण कुछ उन्मन-सी जो हो जाती हो, क्या मैं

उसका कारण जान सकता हूँ ?" उस समय भी हेमा ने कुछ कहा था। वह कुछ अपना, अपने मन के भीतर-के-भीतर का कोना, उससे छिपा न सकी थी। वह बोल उठी थी—"यह मत पूछो बाबू, मत पूछो। यह मेरे जीवन की एक ऐसी दिशा है, जो कभी भूलती नहीं। यह उस प्रकार का विष है, जिसका प्रभाव मेरे शरीर पर ही नहीं, मेरी लोमराशि और त्वचा, मज्जा, अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर ही नहीं, चेतन-अचेतन मन पर भी सदा छाया हुआ रहता है।"

उस समय हेमा के निःश्वास उठते और गिरते थे। यद्यपि वह कुछ छिपाना नहीं चाहती थी; पर स्थल-स्थल पर, पग-पग पर, यही सोचने लगती थी कि क्या यह बात भी इनसे कहने की है ?

तब उसने उत्तर दिया था—"तुम मेरे कहने का बुरा न मानना बाबू ! पहली बार जब तुम मुझे अपने साथ ले गये थे, तब कुछ कारणों से तुमने मुझे साँप की तरह से डस लेने में हिचकिचाहट प्रकट की थी। पर और लोग वैसे नहीं थे। वे बिलकुल साँप ही थे। उन्होंने अपने विष के दाँतों से मेरे बदन भर में काट खाया था। कितने दिनों तक यह क्रम जारी रहा, इसकी कल्पना तुम इसी बात से कर सकते हो कि मैंने उस दिन रोकर, गिड़गिड़ाकर, तुमसे कहा था—"तुम मुझे हास्पिटल ले चलो बाबू, नहीं तो मैं मर जाऊँगी।" तुमने उस समय मेरी बात मान ली थी। और मेरी इस छोटी-सी ज़िन्दगी में वही पहला दिन था, जब मैंने यह समझने का अवसर पाया था कि सभी आदमी एक से नहीं होते—आदमी की शक्ल में सभी साँप नहीं होते। वैसे तो वह भँवरा भी जो फूलों के आस-पास ही चक्कर नहीं लगाता फिरता; बल्कि उनके दलों—उनकी पंखड़ियों—पर बैठकर उनका रस-पान भी करता रहता है, कीड़ा ही आखिरकार होता है। और यह तो कहने की ही बात है कि उसकी यह आदत कुछ बहुत बुरी नहीं

ही सृष्टि के अंग हैं, तुम्हारे ही बच्चे हैं। इसलिये जैसे पिता-माता अपने बच्चों की नादानी सदा क्षमा कर देते हैं, वैसे ही तुम इन सबको भी क्षमा कर देना। और बाबू, मैं दूसरों को तो नहीं जानती, पर अपने लिये जानती हूँ कि भगवान ने सदा मेरी विनती सुनी है। उसने अन्त में मुझे क्षमा कर दिया है। अगर वह मुझे क्षमा न करता, तो उस दिन तुम भी मेरे हित के लिये चोरी न करते, न करते! कभी न करते! और यह भी तो उसी की लीला है कि तुम्हारे उस अपराध को भी उसने क्षमा कर दिया और उसी के परिणामस्वरूप हम दोनों सदा के लिये एक हो गये।"

ये बातें हो सकता है कि कुछ और भी आगे चलतीं; पर मालूम नहीं क्यों तब बिजली की बत्ती यकायक बुझ गयी और थोड़ी ही देर के बाद फिर उस दम्पति के कक्ष में प्रकाश छाकर रह गया।

। १० ।

जेतली साहब ने वीरेन्द्र और हेमा को जो अपने यहाँ चाय पर निमंत्रित किया था, उसका कोई विशेष मंतव्य न था। जेतली साहब का सारा जीवन देश की सेवा में या तो देहात और नगरों में समय-समय पर जा-जाकर सभा कराने, जलूसों को संगठित करने, भाषण देने, सत्याग्रह करने, हड़ताल होने पर मज़दूरों के लिये चन्दा एकत्र करने में व्यतीत हुआ था, अथवा साल-छै महीने से लेकर दो-दो चार-चार वर्ष जेलों के अन्दर पड़े रहकर सजा भुगतने में। उनके परिवार में पिता, माता और बड़े भाई थे। पिता का देहान्त उस समय हुआ था, जब वे जेल में थे। बड़े भाई ज़मींदारी का कारबार देखते थे। उनके दो लड़के थे; जिनमें से एक पढ़-लिखकर केन्द्रीय सूचना-विभाग

में सानन्द अपना गृहस्थ-जीवन व्यतीत कर रहा था। दूसरा पुलिस-विभाग में सर्किल-इन्सपेक्टर था और अब सपरिवार सुल्तानपुर में मकान बनाकर रहने लगा था। ज़मींदारी-प्रथा नष्ट हो जाने के कारण अब थोड़ी-सी खेती-बारी मात्र गाँव में रह गयी थी, जिसकी देख-रेख के लिये उनका साला उनके यहाँ सपत्नीक रहने लगा था और जहाँ उनकी वृद्धा माँ जीवन के अन्तिम दिन व्यतीत कर रही थी।

जेतली साहब आजकल विधुर थे। उनकी गृहिणी का स्वर्गवास उसी समय हो गया था, जब सन् ४२ की क्रान्ति के दिन थे और वे जेल में थे। इस प्रकार उनके जीवन का एक बहुत बड़ा भाग दाम्पत्य सौख्य और गार्हस्थ्य-तृप्ति की दृष्टि से सूना-सूना रसहीन मरुभूमि-सा पड़ा रह गया था। परन्तु अब एक निश्चित आय, सम्मान और सुविधाओं का जीवन लाभ करने के कारण उनका मानस अपने अधूरे स्वप्नों को चरितार्थ करने की उधेड़बुन में लगा रहता था। अवस्था उनकी अवश्य पचास को पार कर गयी थी, किन्तु उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था। किसी को विश्वास ही न होता था कि वे वय की दृष्टि से वृद्धावस्था की ओर पदार्पण कर रहे हैं। उनका व्यक्तित्व कम प्रभावशाली न था। थोड़ा-बहुत व्यायाम निरन्तर करते रहने के कारण उनका शरीर बहुत सुगठित बना हुआ था। शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं के इस समन्वय के कारण उनकी कामनाएँ अभी तरुण और जाग्रत बनी हुई थीं। यह एक ऐसी स्थिति थी कि कोई रमणी जब उनके सम्पर्क में थोड़ी देर के लिये भी आती, तो वे अपनी काम वासना पर पूरा-पूरा नियन्त्रण न कर पाते थे। संस्कार उनके अवश्य ही उच्च कोटि के थे और भाषा में सदा एक शिष्टता और शील-सौजन्य का मार्दव सजग तथा तत्पर बना रहता था। वे अपनी सभी इच्छाओं और भावनाओं को शब्दों का रूप तो न दे पाते, किन्तु उनका अभिप्राय सदा आकर्षणमय होता था।

होती, बल्कि एक मानी में सही और स्वाभाविक भी होती है। लेकिन कुछ हो, दुनियाँ ऐसे कीड़े को मानती है और उसकी प्रशंसा करती है। इसलिये नहीं कि वह कोई देवता होता है; इसलिये कि मनुष्य में भी वैसा ही स्वभाव, वैसी ही आदत, होती है जैसी भ्रमर नाम के उस कीड़े में! तो मैं कहना यह चाहती हूँ कि पुरुष समाज में जिसको भ्रमर कहते हैं—सचाई और ईमानदारी, संयम, पवित्रता और निष्ठा की दृष्टि से देखो, तो—उस कीड़े में भी आदत वही होती है, जो साँप में। और मैं जब कभी यह सोचने लगती हूँ कि तुम्हारे समाज में अगर मुझे कहीं ऐसा सांप मिल जायगा, तो मैं अपनी प्रतिहिंसा को कैसे सँभाल पाऊँगी! मेरे शरीर में जो रक्त है, उसमें भी काफ़ी गर्माहट रहती है। मेरे मन में जो प्रतिहिंसा की अग्नि है, उसकी भट्ठी अब भी बराबर धधकती रहती है। इसलिये अगर कभी किसी प्रसंग में उसने कोई अपमानजनक बात मेरे लिए कह डाली, तो मैं कहीं उसका खून न कर बैठूँ! क्योंकि मैं यह कैसे भूल सकती हूँ कि यही वह साँप था, जिसके विष की प्रतिक्रिया मैं अब भी भोग रही हूँ!"

वीरेन्द्र उसके इस उत्तर को सुनकर हँस पड़ा और बोला—"तुम बिल्कुल पगली हो हेमा, जो जीवन हम एक बार भोग चुकते हैं, पार कर लेते हैं, उसका फिर रोना नहीं रोया करते। आज तुम अठारह वर्ष की हो गयी हो। तुम जीवन को सुन्दर और निर्मल बनाने के लिए तत्पर, अधीर और व्याकुल हो उठी हो, यह सही है; पर तुम्हारे ही जीवन के बचपन में वे दिन भी तो रहे होंगे, जब तुम नंगी घूमती रही होगी। यहाँ तक कि मल-मूत्र से दूर और विलग रहने का ज्ञान भी तुम्हारी चेतना में बहुत बाद को आया होगा। तो क्या इसका मतलब यह है कि तुमको अपने उस छोड़े हुए जीवन की याद

कर-करके दुखी होना चाहिये। आगे बढ़नेवाले कभी पीछे फिरकर नहीं देखा करते ! वे सदा आगे ही बढ़ने का स्वप्न देखते हैं। मैं चाहता हूँ कि तुम भी अपनी घृणा और ग्लानि को अपने मन से बिलकुल बाहर निकाल दो। सदा यही सोचो कि अँधेरी रात के बाद जब प्रातःकाल होता है, तो एक बार आसमान का सारा गोलार्द्ध लाल-लाल हो उठता है। ऐसा प्रातःकाल, ऐसा सुनहला सबेरा मनुष्य के जीवन में नित्य आता है; और जब एक बार आता है, तो उसका उजाला दिनभर स्थिर रहता है। तुमको अब यही समझ लेना चाहिए कि हम दिवस के आलोक में जी रहे हैं और दिवस के आलोक में ही मरेंगे भी। मृत्यु जब आयेगी, तब भी हमारे सामने जीवन का ही आलोक होगा।"

वीरेन्द्र की इस बात को सुनकर हेमा को बहुत बल मिला। उसने कहा—"अच्छी बात है। अगर कभी किसी स्थल पर आदमी की शक्ल में कोई साँप मिल जाय, तो तुम उसकी अच्छी तरह से खबर ले लेना। मैं भी इसमें तुम्हारे साथ रहूँगी। इस उत्तर में केवल एक बात मुझे बल देगी, वह यह कि कोई आदमी कभी किसी साँप से यह नहीं कहता कि तुम मुझे काट लो। इसलिये पाप तो उसी की ओर से होता है, जो साँप बनता है। चाहे दुनियाँ इस बात का केवल यही अर्थ मान ले कि अपराध और पाप से बचाव और त्राण पाने के लिये ही मैं यह तर्क उपस्थित कर रही हूँ। पर तुम तो जानते हो बाबू कि जो अन्तर्यामी हैं, उनसे कोई बात छिप नहीं सकती। जैसे मैंने प्रथम मिलन के दिन तुम से अपनी कोई बात नहीं छिपाई थी, वैसे ही और भी किसी से नहीं छिपाई थी। फिर भी जिन लोगों ने मेरा विश्वास नहीं किया और साँप बनकर मुझे काट ही खाया मैं उनसे फिर क्या कहती ! सिवा इसके कि भूखी रह-रहकर और एकान्त में रो-रोकर मैं भगवान से सदा यही प्रार्थना करती रही कि यह सब भी आखिर तुम्हारी

ही पड़ेगी। और यदि कहीं बैठी होती तो वीरेन्द्र के कन्धे से लग जाना चाहती। यकायक उसकी आँखें झप जातीं और तब वीरेन्द्र चौकन्ना हो कर प्रश्न कर बैठता—"हेमा, हेमा, क्या तुम्हारा जी अच्छा नहीं है ?" इतने में हेमा की आँखें डबडबा आतीं। कण्ठ रुद्ध हो उठता। द्रवित वाणी में वह अत्यन्त दबे, गिरे हुए, शिथिल और टूटे स्वर में यही उत्तर देती—"चुप रहो बाबू, चुप रहो ! कुछ पूछो मत मुझसे।" और तब एक रूमाल उसकी आँखों के ऊपर आ जाता। सिसकियाँ उभरने लगतीं, यहाँ तक कि उसको सँभालना वीरेन्द्र के लिये दुष्कर हो उठता।

चुन्नीगञ्ज का बस-स्टाप आते ही हेमा बोल उठी—"चलो, बस यहीं उत्तर पड़ें। अब हम कहीं न जायँगे।"

उठने की चेष्टा किये बिना ही वीरेन्द्र ने उत्तर दिया—"पागल मत बनो हेमा। इतना समझ लो कि हमको जीवन की हर परिस्थिति का सामना करना पड़ेगा। हम एक योद्धा हैं। निरन्तर लड़ना, निरन्तर युद्ध करना ही हमारा धर्म है। इतमीनान की ज़िन्दगी और शान्ति का लालच हमारे मन को, हमारी प्रकृति को, कायर बना देगा। तुम जब समाज का अङ्ग बन गई हो तब उससे कटकर कैसे रह सकती हो ! तुम्हें इसी समाज में रहकर आगे बढ़ना होगा। किसी प्रकार तुम जीवन से भाग न सकोगी !"

वीरेन्द्र के इस कथन का हेमा पर प्रभाव पड़ा और वह चुप रह गयी। और इसी समय जो दो युवक आपस में कानाफूसी कर रहे थे, वे उस विराम स्थल पर बस से उतर गये। उस क्षण हेमा ने उन युवकों को नीचे उतरते हुए देखा तो एक क्षणिक शान्ति की साँस ले वह अपने प्रकृत रूप में आ गयी और वीरेन्द्र के कान के पास मुँह ले जाकर बोली—"अच्छा, तुम एक काम करो बाबू, मेरा ड्रेस एक दम बदल दो !"

वीरेन्द्र नें उसके इस बौद्धिक सुभाव से प्रसन्न होकर उत्तर

दिया—"वाह ! क्या बात सोची है तुमने हेमा ! अभी कल लो। तुम्हें मालूम नहीं हेमा, आज की दुनियाँ पर राज्य बुद्धिवादी वर्ग का हो गया है। धीरे-धीरे संसार का सारा जन-जीवन इतना व्यस्त, विवश तथा दुखी होता जा रहा है कि भावनाशील व्यक्ति को जीने के लाले पड़ गये हैं।"

हेमा मुसकराने लगी।

और हेमा की मुस्कराहट में एक ऐसी वारुणी थी कि एक बार आँख भरकर उसे जो देखता, वह अपने आपको खो देता। उसके अधूरे स्वप्न फिर हाथ मिलाकर जैसे उसकी हथेली दबाने लगते।

तो उस दिन जेतली साहब भी हेमा की उस मुसकान पर मोहित हो उठे। चाय-पान का क्रम अभी चल ही रहा था कि उनके मुँह से निकल गया कि क्या मैं यह जान सकता हूँ कि आपकी आय क्या है ?"

वीरेन्द्र बोला—"सवा सौ।"

"—बहुत कम है। इतनी कम आय से आप कभी उन्नति नहीं कर सकते।"

"तो ठीक तरह से जीने के लिए मनुष्य को आज जिस प्रकार के स्वच्छन्द स्वभाव की आवश्यकता है, आपका ख्याल है, वैसा एक बार बन जाने पर, गरीबी में मनुष्य का पतन अवश्यम्भावी हो जाता है।"

जेतली साहब ने जो जीवन प्राप्त कर लिया था उसमें पग-पग पर उन्हें अपने से बड़े अधिकारी के सामने झुकना पड़ता था। अनेक अवसरों पर लचर, भ्रमपूर्ण और असत्य कथनों का भी उन्हें जानबूझ कर समर्थन करना पड़ता था। अतः क्षणभर में उन्हें ऐसे अवसरों का स्मरण हो आया, जब उन्हें स्वार्थ-साधन के नाम पर अपने आन्तरिक विश्वासों को दबाना पड़ा था। अतः वे मुस्कराते हुए बोले—"कहते तो आप

उस दिन जब जेतली ने वीरेन्द्र के साथ हेमा को देखा तो वे कुछ विचार में पड़ गये। निहित तृष्णा और प्रच्छन्न वासना के पुलक कम्पन ने एक पग उन्हें जो आगे बढ़ा दिया, तो उन्होंने झट अपने यहाँ इस दम्पति को चाय पर आमन्त्रित कर दिया।

उनके इस पदक्षेप का भी एक विशेष कारण था। वे सोचते थे कि जो विवाह जीवन के स्वच्छन्द निर्बन्ध प्रयोग के आधार पर होते हैं, अथवा जो दाम्पत्य जीवन रूढ़िवादी समाज के बन्धनों से पृथक् रहकर चलते हैं, जिनमें विवाहोत्सव के बिना ही एक पुरुष दूसरी नारी को अपनी जीवन-संगिनी बहुत आसानी से बना लेता है, उनकी पारस्परिक आत्मीयता भौतिक स्वार्थों और सफलताओं का ही मूलाधार रखती है।

संयोग और वियोग जीवन की दोनों ही अवस्थाएँ मानवी सम्भावनाओं में सदा शृंखला की भाँति विजड़ित नहीं रहा करतीं। वे व्यावहारिक रूपों और कार्यजन्य अवस्थाओं में एक कड़ी के साथ, दूसरी कड़ी की भाँति जुड़ी हुई होती भी नहीं। क्षण भर में ही अवचेतन मन की कामनाएँ संकल्प का रूप धारण कर लेती हैं और क्षण भर के अन्तर से ही उनके कार्यक्रम अस्त-व्यस्त हो जाते हैं।

वीरेन्द्र हेमा के साथ जब प्रदीप के यहाँ पहुँचा, तब पूर्व निश्चित कार्यक्रम के अनुसार प्रदीप को इन दोनों को साथ लेकर जाना था, किन्तु जब स्वयं प्रदीप के यहाँ कपड़े की गोदाम में आग लग गयी, तब तो सारा कार्यक्रम ही अस्त-व्यस्त हो गया। प्रदीप वीरेन्द्र के साथ न जा सका और फलतः तीन दिन बाद नये निश्चय के अनुसार वीरेन्द्र को ही हेमा को साथ लेकर जेतली महोदय के यहाँ चला जाना पड़ा।

जिस समय बीरेन्द्र नम्बर दो की बस पर बैठकर आगे बढ़ने लगा,

उस समय वह मन-ही-मन सोच रहा था कि जेतली साहब के यहाँ जाने से मुझे जीवन में कौन सी गति मिलेगी ? इसके साथ ही वह यह भी सोच रहा था कि जेतली साहब ने हम लोगों को जो चाय पर निमंत्रित किया है, इसमें उनका कौनसा मन्तव्य निहित है ? किन्तु इन दोनों प्रश्नों का कोई समाधान वह कर नहीं सका।

उधर हेमा भी एक गम्भीर चिन्तन में संलग्न थी। वह यही सोच रही थी कि कौन जाने उन्होंने केवल हमीं लोगों को चाय पर बुलाया हो, अथवा अपने और भी कुछ मित्रों को बुला रक्खा हो। जो भी हो, वह यही सोच रही थी कि कहीं ऐसा न हो कि फिर कोई परिचित चेहरा मेरे सामने पड़ जाय। यह एक ऐसी स्थिति थी, जिससे अब तक उसके चेतन मन को मुक्ति मिल नहीं पायी थी।

राजपथ सदा जाग्रत रहा करता है। मनुष्य-शरीर सोते समय जड़वत् बना रहता है। केवल प्राणवायु का सञ्चालन ही शरीर में गति और जीवनी शक्ति को प्रकट और स्पष्ट रखता है। किन्तु राजपथ का प्रलम्ब शरीर सदा कार्यशील बना रहता है; सदा उसके अंगों पर किसी-न-किसी व्यक्ति अथवा वाहन के चरण पड़ते ही रहते हैं।

बस चली जा रही थी। उस पर बैठे नर-नारी विराम स्थलों पर चढ़ते-उतरते जाते थे। कुछ ऐसे भी सहयात्री थे, जो आपस में कानाफूसी करने लगते। ऐसे अवसरों पर हेमा का मन संशय और सन्देह से कम्पित और उत्तेजित हो उठता। वह यही सोचने लगती कि इन व्यक्तियों में सभी किसी-न-किसी प्रकार साँप की जाति के होंगे। यह भी सम्भव है कि जो लोग मुझको देख-देखकर कानाफूसी करने लगते हैं, उनमें भी कोई एक ऐसा साँप हो, जो मुझको कभी-न-कभी डस चुका हो। ऐसे अवसरों पर हेमा प्रायः इतनी अस्तव्यस्त हो उठती थी कि यदि वह खड़ी रहती, तो उसे ऐसा जान पड़ता, मानो अब गिर

पहले हेमा और फिर वीरेन्द्र को देते हुए जेतली साहब बोले—"मुझे इस समय ज़रा शहर की ओर जाना है। चलिये आपको भी उधर ही छोड़ दूं !"

वीरेन्द्र उठ खड़ा हुआ। जेतली साहब बँगले से निकल पड़े और गाड़ी में आ बैठे।

आज बहुत दिनों के बाद जब हेमा वीरेन्द्र के साथ एक बड़ी गाड़ी के अन्दर बहुत ही कोमल और लचकदार गद्दी पर बैठी और गाड़ी चलने लगी, तो वह पुनः अपने अतीत को देखने लगी। जेतली साहब बीच में बैठे थे। उनके एक ओर वीरेन्द्र था, दूसरी ओर हेमा। जेतली साहब बोले—"मैं जब अपने देश के बेकार अथवा बहुत कम आय वाले शोषित तरुण बन्धुओं और बहू-बेटियों को देखता हूँ, तो मेरी यही इच्छा होती है कि मिलने-जुलने के लिए मैं भी साइकिल पर ही आया-जाया करूँ ! लेकिन आप जानते हैं कि कार्य और पद-मर्यादा के उत्तरदायित्व मुझे इस प्रकार का उच्च किन्तु कृत्रिम जीवन बिताने के लिए मजबूर कर देते हैं।"

थोड़ी देर बाद हेमा अपने घर पर आकर चारपाई पर लेटी-लेटी कहने लगी—"तुम मुझे बहुत मजबूर कर देते हो बाबू, नहीं तो इन बड़े लोगों के साथ बैठने-उठने में मुझे कभी अच्छा नहीं लगता। जानते हो क्यों ? क्योंकि जो सभ्यता मुझे बापू के साहित्य में मिलती है, हमारे देश का यह बड़ा समाज उससे बहुत दूर जा पहुँचा है। मुझे तो कभी-कभी ऐसा जान पड़ता है कि मञ्च से सुनाई पड़ने वाले व्याख्यान पत्रों के वक्तव्य, बहुतेरे मनोभाव, और विचार जो ये लोग प्रकट किया करते हैं, वे सब अब केवल ग्रामोफोन के रिकार्ड मात्र रह गये हैं।"

वीरेन्द्र हेमा की इस बात को सुनकर चारपाई पर अपने सिरहाने रक्खी मुलायम पतली तकिया को मोड़कर करवट लेता हुआ बोला—

"बस थोड़ी और कसर है हेमा ! दो वर्ष बाद मैं तुमको अपना स्वप्न पूरा करते देखूँगा।"

: ३१ :

प्रदीप के जीवन में जो एक व्यापक परिवर्तन हो गया था, उसका भी एक इतिहास है। कपड़े की गोदाम में आग लग जाने और बाज़ार की रक़मों का भुगतान रोकने के कारण अब उसकी स्थिति में बड़ा अन्तर आ गया था। जिस गाड़ी पर वह बैठा करता था, वह अब बिक गयी थी। एक ताँगा मात्र अब उसके यहाँ रह गया था। जेब-खर्च के लिए अब उसे पचास रुपये मुश्किल से मिलते थे। पग-पग पर अब उसे अपनी गरीबी का अनुभव होने लगा।

नीतिकथन और उपदेश उसने बहुत पढ़े थे, बहुत सुने थे; किन्तु इधर उसके जीवन में कुछ ऐसी घटनाएँ हो गई थीं जिनका प्रभाव उसके मानस पर स्थायीरूप से छाकर रह गया था।

गरमी के दिनों की बात है। एक बार उसने देखा कि जिस सड़क पर वह इधर-उधर से घूम-फिरकर गुज़रता रहता है, एक बड़े तिमंज़िले मकान के बग़ल में एक टूटी खाट पड़ी हुई है। उसके नीचे पुराने जंग लगे कुछ टीन के डब्बे और ख़ाली पड़े हैं। एक मिट्टी की अँगीठी रक्खी है, जिसमें लोहे के सरिया के तीन टुकड़े मात्र लगे हैं और दो उसके नीचे एक ओर से गिरे हुए हैं। दूसरा डब्बा जो उसके पास ही रक्खा है, उसमें कुछ बुझे, मुरदार कोयले भरे हुए हैं। एक दियासलाई की डब्बी रक्खी है, जिसमें अब केवल दो तीलियाँ भर रह गयी हैं। उनमें भी एक तीली का मसाला नदारद है। एक पीतल

बिलकुल ठीक हैं। ख़ैर, यह बतलाइये कि इनकी इंगलिश जनरल थी, या लिटरेचर था ?"

"लिटरेचर !"

"क्या आप लखनऊ आना पसन्द करेंगे ?"

"विद ए डीसेण्ट इन्क्रीमेण्ट।"

"आफ़ कोर्स, आफ़ कोर्स !—ढाई सौ तो मिलेगा ही जस्ट द डबल !"

वीरेन्द्र सर हिलाते हुए बोला—"अगर इतनी कृपा आपकी हो जाय, तब तो मैं जी जाऊँ !"

"देखिये, मैं ध्यान रक्खूँगा। अगर कोई अवसर कहीं देख पड़ा, तो आप को सूचित कर दूँगा।"

वीरेन्द्र बोल उठा—"मैं आपका यह उपकार जीवन भर न भूलूँगा।"

इधर ये बातें चल रही थीं उधर हेमा फिर खो गयी थी। उसे अभी हाल ही में मालूम हुआ था कि उसके बड़े चाचा जीवित हैं और माँ भी बचकर लौट आयी हैं। अतएव वह सोच रही थी कि अगर ऐसा सम्भव हो सका तो अब मैं माँ को भी पा जाऊँगी। उसे एक प्रकार की प्रसन्नता ही हुई थी कि चाहे जिस तरह से हो, माँ देखने को तो मिलेंगी। कुछ दिनों के लिए भले ही उन्हें अपना धर्म छोड़ देना पड़ा हो, किन्तु अब तो वे भी शुद्ध होकर हिन्दू बन गयी हैं। उस क्षण उसे यह सोचते हुए भी सुख ही मिल रहा था कि अगर वे अपना धर्म-परिवर्तन करने के लिए विवश न होतीं और अपने उसी पुराने रुढ़िवादी समाज का अङ्ग बनी रहतीं, तब तो उन्हें मुझसे मिलना, मुझे साथ में रखना भी शायद स्वीकार न होता ! उसने ऐसी कहानियाँ सुनी थीं कि खोजते-खोजते जब कोई वयस्क बहू सास से और लड़की अपनी माँ और चाची से मिलने आयी तो वे कमरे से बाहर न निकलीं और उन्होंने वहीं

बैठे-बैठे नौकर से कहला दिया—"मेरे लेखे तो वह मर चुकी है। इसलिए मैं उसके रूप में आनेवाली किसी चुड़ैल का मुँह नहीं देखना चाहती !" और इतना सोचते-सोचते, इस दृश्य की भयानकता की कल्पना करते-करते, हेमा को रोमाञ्च हो आया था। वह काँप उठी थी और एक बार तो उसने अपना सिर कुर्सी की पीठ से सटाकर आँखें मूंद ली थीं।

वीरेन्द्र हेमा की इन प्रतिक्रियाओं से परिचित था। इसलिए उसने कह दिया—"अरे हेमा, क्या तुझे नींद आ रही है ?" और उसने तुरन्त मूल बात छिपाकर इस कथन के अनुमोदन के रूप में कह दिया—"आज कल इसकी पढ़ाई ज़ोरों के साथ चल रही है। कभी-कभी नींद पूरी जब नहीं होती, तब दिन में भी बैठे-ठाले इसकी आँखें झपकने लगती हैं।

इस बात पर ज़ेतली महोदय बोल उठे—"बिलकुल स्वाभाविक बात है। सबको ऐसा होता है। मैं तो संसद में देखा करता हूँ कि मत लेने से पहले और बाद में अक्सर लोग एक-आध झपकी ले ही लेते हैं। फिर हेमा की अभी उमर ही क्या है ! इस अवस्था में नींद आती भी खूब है। मूझे ऐसी मीठी नींदें आजकल बहुत याद आती हैं। हाँ, तो हेमा जी, कौन-सी परीक्षा की तैयारी चल रही है ?"

"इण्टर कामर्स !" वीरेन्द्र ने उत्तर दे दिया।

"वेरी प्रोस्परस !"

इतने में सेवक आकर जो पकौड़ी की 'डिश' और ले आया, तो वीरेन्द्र बोला—"बस !" और जेतली ने कह दिया—"हाँ, अब रहने दो।" वाशबेसिन से हाथ-मुँह धोकर और तौलिया से पोंछकर जब वीरेन्द्र और हेमा पुनः अपनी कुर्सियों पर आ डटे, तो जेतली साहब की दृष्टि अपनी रिस्टवाच पर जा पहुँची। सेवक ने आकर तश्तरी में पान और सिगरेट-दियासलाई का डब्बा उनके सामने रख दिया। तब पान

दूसरी लड़की थी तारिणी। जेतली साहब ने उसके लिए अपनी सीट का आधा भाग खाली कर दिया।

अरुणा ने जब अपना बिस्तर बिछा लिया, तो उसने अपना सिर उस ओर कर लिया, जिधर प्रदीप के पैर पड़ते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रदीप को भी अपने नैश-विश्राम की दिशा बदलनी पड़ी। उधर तारिणी ने भी बिस्तर जमा लिये थे, पर उसने अपना सिरहाना सीट के अन्त की ओर रक्खा था। थोड़ी देर में गाड़ी अपनी तीव्रता पर आ गयी। डब्बे के दूसरी ओर ऊपर की बर्थ पर जो एक प्रौढ़ महाशय लेटे हुए थे, बिजली की बत्ती का प्रकाश वे सहन न कर पाते थे। फलतः उन्होंने प्रकाश का बटन ऊपर की ओर उठा दिया, तो उधर की बत्ती बुझ गयी। जेतली साहब को उन महाशय की इस तबियत पर कुछ अच्छा लगा। बात उनके मन की थी और तब उन्होंने भी उठकर अपनी ओर की बत्ती का बटन भी उठा दिया। इस प्रकार उस डब्बे में पूरा अन्धकार छा गया।

यह डब्बा था तो इण्टर का, लेकिन अद्धा था। इसलिये उसके शेष यात्रियों में से किसी ने विरोध का स्वर नहीं उठाया।

रात जहाँ मनुष्य के थके तन और मन को प्यार की थपकियाँ दे-देकर निद्रा की गोद में सुला देने में बड़ी कुशल होती है, वहाँ वह उसके सुषुप्त मनोवेगों को भी कभी-कभी सजग कर दिया करती है। थोड़ी देर में गाड़ी हरदोई को पार करके जब आगे बढ़ी, तो डब्बे के सब यात्री धीरे-धीरे नींद के अङ्कपाश में जा पहुँचे। किसी का मुँह खुल गया, घर्राटा बज उठा और किसी के नासिका-रन्ध्र फूलने और पचकने लगे।

स्वप्न, जो अन्तर्मन में अधूरे पड़े रहते हैं, कभी-न-कभी पूर्ण होने को आतुर और विकल भी हो उठते हैं। प्रदीप कभी यह कल्पना भी न कर सकता था कि वह अरुणा, जिसके रूप का गर्व और अहंकार उसे अपमानित कर चुका है, एक ही बर्थ पर इस तरह अपने बिस्तर

पर लेटी-लेटी उसे यह सोचने ही नहीं, अनुभव करने का भी अवसर देगी कि दोनों के केशगुच्छ आपस में हाथ मिलाकर गुपचुप की मिठाई पकाने और खाने लगेंगे।

संयोग की बात कि वह ऋतु जाड़े की नहीं जून मास की थी, जब उत्तरप्रदेश के मुख्य नगर आगरा, कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद और बनारस गर्मी से ऊब और डूब उठते हैं। जो वस्त्र सवेरे पहनने से पसीने में डूब जाते हैं, वे दूसरे वक्त सायंकाल पहनने योग्य नहीं रह जाते। ऐसी स्थिति में रेलगाड़ी के इन डब्बों के भीतर जब लोग आपस में सटकर बैठते और लेटते हैं, तब उनके शरीर ही, एक दूसरे के साथ एक सीमा तक अपना निकट-सम्बन्ध स्थापित नहीं करते वरन् उनकी साँसों के स्वर, उनकी लोम-राशि के शिरोभाग, उनके केशों के गुच्छ, उनकी लटें और चोटियाँ, पसीने की नन्हीं नन्हीं बूँदें और फर-फर चलते हुए पंखे के नीचे पड़ जानेवाले मुलायम केश भी उड़-उड़कर एक-दूसरे के मुँह, नाक, आँख, कपोल और ग्रीवा पर गिरते और लोटते हैं।

प्रदीप लेटे-लेटे सोच रहा था—'एक दिन इसी अरुणा ने मुझ से कहा था—उसकी शब्दावली तो आज याद नहीं है, किन्तु उन शब्दों का भाव यही था कि मैं आपके साथ जा नहीं सकती। माना कि आप कालेज के काम से मुझे लिवाने आये हैं और यह भी माना कि मुझे वहाँ तुरन्त पहुँच जाना चाहिये, किन्तु दद्दा घर में नहीं हैं। उनसे पूछे बिना... अच्छा आप रंजना को तो ले आइये। तात्पर्य यह कि अगर वह साथ में रहेगी, तब कोई चिन्ता की बात न होगी। कोई देख भी लेगा, तो कुछ कह न पायेगा।

और आज यह वही अरुणा है, जिसने रेल के इस डब्बे के भीतर प्रवेश करते हुए अभी थोड़ी देर पहले कहा था—"अरे दद्दा, आप! पर कहाँ जा रहे हैं आप?" उस समय इस अरुणा के मुख पर अरुणाई के साथ-साथ तरुणाई का जो मृदुल कलहास था, मैं उसे आँखों के द्वार से

का लोटा है, जो फूटा और पचका हुआ है। चारपाई जीर्ण और जर्जर है। उसके ऊपर कुछ पुराने और फटे मैले वस्त्र हैं जिन पर एक वृद्ध व्यक्ति लेटा हुआ है, जिसका मुँह प्लाईउड की लकड़ी के एक पर्त से ढका हुआ है। दोनों हाथ चारपाई की दोनों पट्टियों पर रक्खे हुए हैं। हाथों में अब कहीं मांस नहीं रह गया है। बाँस की खपच्चियाँ-सी वे जान पड़ती हैं। एक पैर फैला हुआ है और दूसरा गाँठ के बल आसमान की ओर उठा हुआ है। वृद्ध के सिर में सफ़ेद-सफ़ेद केश हैं और चँदोवा खुला हुआ है, जिस पर मैल जम गया है। दाढ़ी और नाखून बढ़े हुए हैं और उन नाखूनों पर रक्त की लालिमा तिरोहित हो चुकी है। इस कारण वे सफ़ेद पड़ गये हैं। दाढ़ी के ऊपर यत्र-तत्र बलग़म जम गया है। आँखें खोखली हो गयी हैं और कमर के नीचे चारपाई से गिरकर सड़क के किनारे फैला हुआ पीला-पीला मल नाली की ओर बहते-बहते रुक रुककर जम गया है। तीन दिन तक उस सड़क से गुज़रता हुआ प्रदीप नित्य इस वृद्ध को इसी दशा में देख-देखकर चुपचाप अपनी गाड़ी में बैठा हुआ, कभी उभरती ठंडी साँसें लेकर और कभी उन्हें दबाकर आगे बढ़ जाया करता था।

एक दिन, प्रदीप ने देखा—आज वह वृद्ध रोगी उस टूटी चारपाई पर नहीं है; किन्तु उसका सामान ज्यों-का-त्यों उसी तरह सड़क पर पड़ा हुआ है। कोई उसको वहाँ से उठानेवाला भी नहीं है। इस दृश्य को देखकर उसने अपने शोफ़र से कहा—"ठहरो।" प्रदीप गाड़ी से उतरकर पास के फुटपाथ पर लगी एक दूकान में खड़ा हो गया। गम्भीर बोझिल मन और स्वर से उसने दूकानदार से पूछा—"यह आदमी कहाँ गया जो कई दिनों से इस चारपाई पर पड़ा था ?"

दूकानदार ने उत्तर दिया—"वह रात में चल बसा !"

प्रदीप इस बात की कल्पना स्वयं भी कर चुका था। तब उसने पूछा—"वह आदमी कौन था ?"

दूकानदार ने उत्तर दिया—"वह इसी गली में रहता था। उसका वहाँ एक मकान है। उसके दो-तीन लड़के हैं, रोज़ी-रोज़गार से लगे हुए मौज की ज़िन्दगी बिताते हैं। उन्हीं में से एक उस बुड्ढे को तीन-चार दिन पहले यहाँ छोड़ गया था।"

बस, प्रदीप इस कथा को सुनकर स्तब्ध हो उठा। वह अधिक कुछ न कह कर केवल इतना ही कह सका—"तब तो बुड्ढा मरा नहीं, जी गया।"

दूकानदार प्रौढ़वय का व्यक्ति था। उसके घर में कई बाल-बच्चे थे। प्रदीप के इस कथन को सुनकर समर्थन के स्वर में बोल उठा—"हाँ बाबू, आप ठीक कहते हैं। बुड्ढा सचमुच जी गया !"

प्रदीप इसके बाद फिर गाड़ी में आ बैठा। कई दिन से वह अरुणा से नहीं मिला था। पर, अब उसकी ओर से ध्यान हटाकर वह अन्यत्र चला गया।

एक दिन वह लखनऊ होकर देहरादून जा रहा था। इण्टर क्लास के डब्बे की एक बर्थ पर अपना होल्डाल बिछाये लेटा हुआ था। जब गाड़ी लखनऊ स्टेशन से चलने को हुई, गार्ड ने हरी झण्डी दिखलाई और बिसिल दी, उसी समय उस डब्बे का द्वार यकायक खुल गया। तत्काल जिन दो नवयुवतियों ने प्रवेश किया, उनमें एक अरुणा थी। डब्बे में कोई सीट खाली नहीं थी। जो बर्थ प्लेटफार्म की ओर पड़ती थी, उसी पर उमका बिस्तर बिछा हुआ था। दूसरी बर्थ जो उसके दाएँ ओर पड़ती थी, उस पर राष्ट्रकर्मी जेतली साहब जमे हुए थे। अरुणा को आया जान उसने अपना होल्डाल समेटते हुए कह दिया—"तुम अपने बिस्तर यहाँ लगा लो।"

'यहीं तुम गलती कर रही हो हेमा ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि कृतज्ञता, उपकार और आदान से निरन्तर दबा हुआ मनुष्य एक न एक दिन अपनी वह आत्म-निष्ठा भी खो देता है, जो उसके व्यक्तित्व का मूलाधार होती है ।"

"मालूम है । साथ ही मुझे यह भी मालूम है कि कोई भी दृढ़ नीतिज्ञ कृतज्ञता, उपकार और आदान के भार को तभी तक स्वीकार करता है, जब तक वह देखता है—मेरी नैतिक आत्म-निष्ठा अभी पूर्ववत् स्थिर है । जिस दिन मैं देखूँगी, तुम मुझको अपने से दूर समझने लगे हो, मैं तुमसे अपना भेद छिपाने को तत्पर हो उठी हूँ, और जेतली साहब की हार्दिकता अब सज्जनता का अंचल छोड़कर पशु-पक्षी का क्रीड़ा-कौतुक बन गयी है, उस दिन सात फ़ायर का" कहते-कहते हेमा ने झट ड्रायर से एक रिवाल्वर निकालकर टेबल पर रख लिया और वाक्य पूरा करते हुए कह दिया—"रिवाल्वर मेरे सीने में ऐसी आवाज़ कर बैठेगा, जिसे सुनकर तुम्हारे कानों के परदे एक बार थरथरा उठेंगे ।"

वीरेन्द्र अब उठकर खड़ा हो गया । उसकी मुद्रा अब बहुत गम्भीर थी । एक बार उसके मन में आया—'पता नहीं ग़लती मैंने की है, या अब हेमा करने जा रही है ।' एक बार यह भी उसके मन में आया—'क्या ऐसा नहीं हो सकता कि हम पुनः कानपुर लौट जायँ और फिर उसी छोटे मकान के सीमित घेरे में रहकर संसार के दुर्लभ सौख्य की वे निधियाँ खोजें, प्राप्त करें और लुटायें, जो आज सर्वथा सुलभ होकर भी हमारे लिए निरन्तर चिन्तन का विषय बन गयी हैं ।'

सन्ध्या के अभी छः नहीं बजे थे कि जेतली साहब का भृत्य आ पहुँचा और जेब से काग़ज़ का एक टुकड़ा निकालकर उसने वीरेन्द्र के हाथ में दे दिया । उसमें लिखा हुआ था—"गाड़ी एक जगह काम से गई है । इसलिए तुरन्त हेमा के साथ रिक्शे पर चले आइए । पिक्चर का प्रोग्राम है । पासेज़ मँगवा लिये हैं ।—जेतली ।"

चिट पढ़कर वीरेन्द्र ने हेमा के हाथ में दे दी। भृत्य साइकिल से आया था, उत्तर के लिए एक-आध मिनट खड़ा रहा। जब दोनों में से किसी ने कोई उत्तर न दिया, तो उसने पूछा—"साहब से क्या कह दूँ, बाबू ?"

वीरेन्द्र जब कुछ नहीं बोला, तो हेमा ने ही उत्तर दिया—"आज तो जाना नहीं होगा। बाबू अभी-अभी आफ़िस से आ रहे हैं, और मेरी तबियत आज ठीक नहीं है।" इतना कहकर उसने एक बार फिर वीरेन्द्र की ओर देखा, और कह दिया—"इसके जवाब में दो शब्द तुम खुद ही क्यों नहीं लिख देते ?" और तत्काल उसने राइटिङ्ग पैड लाकर उसके सामने रख दिया।

क्षणभर बाद भृत्य जब चिट लेकर चला गया तो वीरेन्द्र बोल उठा —"यह तुमने बहुत अच्छा किया हेमा ! प्रभाव में आकर अथवा कृतज्ञता के भाव से पिसकर जो लोग केवल अनुसरण करने लग जाते हैं, उनका व्यक्तित्व एक न एक दिन नष्ट होकर रहता है। सच पूछो तो यहाँ आकर हमारे ऊपर एक बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी आ गई है। प्रत्येक अगला पद हमें बहुत सँभालकर रखना है। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि हम एक विशेष लक्ष्य को लेकर यहाँ आये हैं। हाँ, आज का दैनिक तुमने देखा था हेमा ? उसके सम्पादकीय स्तम्भ में राजधानी में होने वाले उत्सवों की संस्कृति पर जो टिप्पणी की गई है, वह कितनी युक्तिसङ्गत है !"

हेमा उठकर खड़ी हो गई। बोली—"पढ़ा है। रात-दिन पढ़ती ही तो रहती हूँ। तुमने यह नहीं देखा कि मेरी बातों की जेतली साहब पर कैसी प्रतिक्रिया होती है ?"

दोनों में जिस समय यह बातें चल रही थीं उस समय द्वार के बाहर एक प्रौढ़ा स्त्री खड़ी हुई पुकार लगा रही थी—"वीरेन्द्र बाबू, अरे ओ वीरेन्द्र बाबू, बहूरानी ओ बहूरानी, तनिक किवाड़ तौ खोल

जाव। दोनों हँसि-हँसि बताय रहे हैं। हमार गुहार कोऊ नाहीं सुनत।"

इतने में हेमा जब पाइप के पास आई, तो उसने लक्ष किया कोई द्वार पर खड़ा कुछ कह रहा है। तब झट जाकर उसने द्वार खोल दिया। द्वार खुलते ही उस नवागता प्रौढ़ा नारी ने हेमा को देखते ही आशीर्वादमयी भाषा में कहना आरम्भ कर दिया—"सबसे पहले मैं तुम्हें आशीष देती हूँ बहूरानी, दूधों नहाव, पूतौं फलौ। और यहि के बाद हमार यौ कहन कि जिताली साहब हमका भेजिन है, चौका बरतन का काम हम करित है। झाड़ू-बुहारी दोनों बखत। जात तौ हमार ठाकुर का आय, मुला पेट जो न करावै सो थोड़ा।"

हेमा को अपने वे दिन याद हो आये जब···जब···! बात की बात में सारे दृश्य स्मृति-पट पर मुद्रित हो उठे। यकायक उसकी आँखें भर आईं। उसने उत्तर में तो कुछ नहीं कहा, पर वह यह सोचती रह गई पता नहीं कितने करोड़-अरब आदमी इस सारी सृष्टि में होंगे, जिन्हें केवल पेट के नाम पर नित्य अपना गौरव बेचना पड़ता होगा। पता नहीं कितनी नारियाँ······? और आगे न सोचकर बड़ी कठिनाई से अपने को स्थिर कर हेमा उस नारी का हाथ पकड़कर अन्दर ले आई। थोड़ी-सी मिठाई अब भी बाकी बची रह गई थी। वही उस प्रौढ़ा नारी के सामने रखते हुए उसने कहा—"तुम मेरी माँ के समान हो, इसलिए सबसे पहले जब तुम्हारा आशीर्वाद मुझे मिला है तो जिस काम से आई हो, उसके पहले कुछ मुँह मीठा कर लो। काम फिर बाद में छूना। हाँ, आज से तुम्हें मैं चाची कहूँगी। लेकिन चाची, वैसे तुम्हारा नाम क्या है? और जेतली साहब ने जब तुमको भेजा है तो कोई परचा भी दिया होगा? पर अरे मैं तुमको पानी देना तो भूल ही गई" और इतना कहकर उसने पानी-भरा गिलास लाकर उसके सामने रख दिया।

ठकुराइन बोली—"राम करे तुहार सुहाग अमर होय, भगवान करे तुमका कौनो दुखु कबौं न होय। मुला मिठाई हम हियाँ न खाब। घर माँ याक नातिन है। हमरेहे साथ रहित है। मिठाई तौन वोहीक लै जाब।"

"अच्छा-अच्छा" हेमा बोली—"ठीक है। घर ही ले जाना।" अब ठकुराइन को याद हो आया वह परचा जो जेतली साहब ने उसे दिया था। धोती के खूँट से खोलकर उसने हेमा को दे दिया। उसमें लिखा था—

वीरेन्द्र भाई,

दासी-कर्म के लिये यह ठकुराइन आ रही है। क्या देना होगा, सो हमसे तै कर लेना।

जेतली

चिट पढ़कर हेमा ने वीरेन्द्र को दे दी। वीरेन्द्र ने पढ़कर उसे जेब में रख लिया, फिर कुछ सोचकर अपने एक ट्रंक में डाल दिया।

जब वीरेन्द्र उस चिट को ट्रंक में डाल रहा था तभी हेमा ने पूछा—"इस ठकुराइन से क्या तै किया जाय ?"

"जो माँगे सो देना स्वीकार कर लो, फिजूल की पंचायत मुझे पसन्द नहीं है।"

हेमा झट लौट गयी। और ठकुराइन के पास जाकर बोली—"ठकुराइन चाची, हमारी मामूली-सी गृहस्थी है और हम केवल दो प्राणी हैं, फिर भी बतलाओ मुझे क्या देना होगा ?"

ठकुराइन मिठाई को धोती के खूँट में बाँधती हुई बोली—"परानी दुय होंय चाहे चार, कुछ परक नाहीं परत। रुपया हम चार लेब। यामें कौड़ी कम न होई।"

हेमा ने उत्तर दिया—"अच्छा-अच्छा ठीक है। मुझे तुम्हारी बात मंजूर है। जाओ काम शुरू कर दो आज से ही।"

ठकुराइन उठके काम में लग गयी।

वीरेन्द्र ने साइकिल उठायी। और दरवाज़े की ओर बढ़ते हुए वह बोला—"मैं एक घण्टे में आता हूँ" और इतना कहकर वह घर से बाहर हो गया।

साइकिल से वीरेन्द्र सीधा उस कोठे में जा पहुँचा, जिसमें जेतली साहब रहते थे। ज्यों ही वह जेतली साहब के पास पहुँचा, त्यों ही उन्होंने पूछा—"आओ वीरेन्द्र, कहो, सब काम ठीक से चल रहा है न?"

वीरेन्द्र ने कहा—"आपकी कृपा से।"

जेतली साहब ने पूछा—"मकान में इलेक्ट्रिक फिटिंग के लिए मैंने कह दिया था। हो भी गयी है शायद।"

वीरेन्द्र ने उत्तर दिया—"हाँ, हो गयी है आपकी कृपा से।"

अब जेतली साहब ने पूछा—'हेमा को नित्य दासी-कर्म करना पड़ता था, हमारे यहाँ जो ठकुराइन काम करती थी उसी को मैंने भेज दिया है : शायद गयी भी होगी।"

वीरेन्द्र के मुँह से निकल गया—"हाँ, मेरे घर से बाहर आने से पूर्व वह आ गयी थी। उसने काम भी शुरू कर दिया है आपकी कृपा से।"

इस बार जेतली साहब अपनी प्रतिक्रिया न सँभाल सके। और बोले—"देखो वीरेन्द्र, मुझे ग़लत समझने की कोशिश मत करो। यह बात-बात में कभी पहले कभी बाद में यह जो तुम कह रहे हो 'आपकी कृपा से, आपकी कृपा से,' कृतज्ञता के इस मौखिक विज्ञापन से मैं ऊब गया हूँ।"

वीरेन्द्र ने उत्तर दिया—"और मेरी स्थिति यह है कि मैं आपकी सहृदयता, सज्जनता और उदारता से ऊब गया हूँ। मैं निरन्तर यही सोचा करता हूँ कि मेरा इस जीवन में आपके ऋण से कैसे उद्धार होगा।"

बहुत दिनों के बाद एक सिगरेट सुलगाते हुए जेतली साहब बोले—

"पागल मत बनो वीरेन्द्र, मैंने तुम्हारे साथ कोई ऐसा उपकार नहीं किया, जिसके लिए कभी तुम्हें ऋणी बनने की बात सोचने की आवश्यकता हो। मुझे तुम लोगों की जोड़ी बहुत पसन्द आयी। क्यों पसन्द आयी? यह मैं नहीं कह सकता। मैं शायद जानता भी नहीं हूँ। और अगर जानता हूँ, तो उसकी व्याख्या नहीं कर सकता। मैं यह कभी न चाहूँगा कि तुम मेरे लिए कभी कुछ करो, बल्कि अगर कभी तुमने कुछ करने की चेष्टा की तो उससे मुझे क्लेश ही होगा।"

वीरेन्द्र चुप रह गया। टेबिल पर एक पेन्सिल पड़ी थी। उसे उलटकर झूठ-मूठ टेबिल पर रोमन लिपि में हेमा, हेमावती, हेमाङ्गिनी, हेमलता, हेमकुमारी लिखता-लिखता वीरेन्द्र बोल उठा—"मुझसे कभी कोई ग़लती हो जाय तो मेरा ख्याल है आप मुझे स्पष्ट बतला तो देंगे?"

जेतली साहब मुस्कराने लगे। सिगरेट का दूसरा कश लेते हुए वे बोले—"ग़लती तो तुम नहीं करोगे यह मैं जानता हूँ, लेकिन ग़लतफ़हमी तुमसे हो सकती है। हाँ, अच्छी याद आयी आज। हमने सिनेमा का प्रोग्राम बनाया था पर तुमने मना कर दिया। क्या तबियत खराब है हेमा की? मैं उसे देखने के लिए डाक्टर को साथ ले चलूँ?"

संकुचित और अप्रतिभ वीरेन्द्र नें उत्तर दिया—"सच पूछिये तो तबियत को तो कुछ नहीं हुआ, पर मुझे इस समय हेमा को साथ लेकर आपके साथ चलने में कुछ असुविधा जान पड़ी। दिनभर आफ़िस में माथापच्ची करने के पश्चात् हममें इतनी शक्ति ही कहाँ रह जाती है कि सायंकाल किसी मनोरंजक कार्य-क्रम में सम्मिलित हो सकें? पर यही बात मुझे कल मालूम होती तो आज हम लोग इस समय बिल्कुल तैयार मिलते। फिर इस समय तो ठकुराइन के आ जाने से हमें जो सुविधा प्राप्त हुई है उसकी उपेक्षा हम कर ही कैसे सकते? इसलिए यदि आपको कोई कष्ट न हो तो कल शाम की चाय हमारे यहाँ रही। कल

शनिवार भी है। हाफ़ डे होने के कारण हमें सुविधा भी रहेगी और सिनेमा के पासेज़ की तारीख बदलवाने में यदि आपको कोई संकोच न हुआ तो हम सिनेमा को भी चल सकेंगे।"

सिगरेट की छोटी सी टुकड़ी को ऐश-ट्रे में कूँचते हुए जेतली साहब बोले—"अच्छा-अच्छा मैं आऊँगा। जो हो तुम्हारे स्वभाव की यह स्वच्छता मुझे पसन्द आयी वीरेन्द्र। इस तरह की छोटी-छोटी बातें मैं कभी अपने मित्रों को नहीं समझा पाता। इसीलिए कभी-कभी उनके अविश्वास का पात्र भी बन जाता हूँ। काश, मैं तुम्हारे जैसा स्वभाव बना सकता।"

"आप तो मुझे लज्जित कर रहे ह।" वीरेन्द्र के मुँह से निकल गया। और वह कुर्सी से उठकर चलने ही वाला था कि जेतली साहब बोले—"ठहरो।" और इतना कहकर पास रक्खी हुई टोकरी खोलते हुए पाँच-छ: संतरे निकालकर वीरेन्द्र को दे दिये।

वीरेन्द्र बोला—"गज़ब करते हैं आप साहब। फिर मुझे ही बात कहनी पड़ेगी कि मैं आपके ऋण से कैसे मुक्त हूँगा।" और वह——जब द्वार की ओर चलने लगा तो जेतली साहब उसके पीछे हो लिये और बोले—"तुम मेरे जीवन से परिचित नहीं हो वीरेन्द्र! अन्यथा जिस ऋण की बात तुम निरन्तर सोचा करते हो, उसके चुकता करने की बात सोचने में भी तुम्हें संकोच होता।"

वीरेन्द्र ने संतरे साइकिल की टोकरी में रख लिए और उसके मुँह से निकल गया—"आप मेरे लिए कल्पवृक्ष हैं।"

अब जेतली साहब अपने आपको अभिव्यक्त किये बिना न रह सके। वे बोले—"मैं वृक्ष नहीं, राजपथ का वह ठूँठ हूँ, जो कुछ वर्षों तक केवल इसलिए चुपचाप खड़ा रहता है कि यदि किसी भूखे अभावदृष्टि पथिक को अपने पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए कुछ लकड़ी की

आवश्यकता हो, तो वह उसके मन में यह प्रेरणा उत्पन्न कर दे कि जब चाहे तब वह उसको क्षत-विक्षत भी कर सकता है। प्रत्येक प्रहार पर वह यही समझेगा, यही मेरा सदुपयोग है और यही मेरी मुक्ति का मार्ग।"

अब साढ़े छः बज रहे थे। सांध्य प्रकाश की स्पष्ट छाप दिशि-दिशि पर विद्यमान थी। वीरेन्द्र ने इस बार जो जेतली साहब की ओर दृष्टि डाली तो देखा उनके नयन बोल रहे हैं, उनकी आँखों में आँसू छलक आये हैं।

: ३६ :

जब से प्रदीप की सम्पत्ति का सर्वनाश हो गया था, तब से कुञ्ज-बिहारी के मन में प्रदीप के प्रति एक उपेक्षा की भावना ने घर कर लिया था। वह कभी उसका नाम न लेता। अरुणा इसको बराबर लक्ष कर रही थी। अन्त में एक दिन उसने कुञ्जबिहारी से कह ही दिया—"जान पड़ता है, आजकल प्रदीप जी से तुम्हारा मिलना-जुलना नहीं होता दद्दा।"

कुञ्जबिहारी ने स्पष्ट कह दिया—"अब उनमें ऐसा दम ही क्या रह गया है, जो उनसे कोई काम निकल सके। देखती नहीं हो, सड़क पर चट्टियाँ चटकाते पैदल घूमा करते हैं।"

अरुणा को कुञ्जबिहारी का यह उत्तर सुनकर एक आघात लगा। वह उससे ऐसे उत्तर की कभी आशा न करती थी। घृणा की घृणा उसके मन में भर गयी। उसने उसे चुपचाप सुन भर लिया। अपना कोई मनोभाव उसने प्रकट नहीं किया। यह भी नहीं कहा कि यह तुम कह क्या रहे हो दद्दा!

तब कुञ्जबिहारी आप ही बोल उठा— "जो लोग भावुकता में आकर रिश्तों, नातों और आत्मीय-सम्बन्धों की लकीर पीटा करते हैं, मैं उनको बेवकूफ समझता हूँ। समय के साथ जो मनुष्य नहीं बदलता, समय स्वयं उसे पीछे छोड़ देता है। मुझे मालूम है कि प्रदीप जी को कांग्रेस का टिकट मिल गया है और यह एक ऐसा अवसर है कि अगर वे चाहें तो उनकी स्थिति सँभल सकती है। लेकिन वे आदर्शवादी व्यक्ति हैं और आदर्शवादी व्यावहारिक नहीं होता। अपनी भावुकता से वह अपना ही अनिष्ट कर डालता है। प्रदीप जी को चाहिये कि सबसे पहले वे अपनी स्थिति सुधारें अन्यथा काँग्रेस टिकट से खड़े होने पर भी उनकी हार निश्चित है। और कुञ्जबिहारी उस आदमी का साथ कभी नहीं देता, जिसकी हार निश्चित होती है। वह साथ देना जानता है लेकिन उसका, जो विजेता होता है। इसीलिए तुम्हारे सम्बन्ध में भी मैंने फिर आगे उनसे कुछ कहना उचित नहीं समझा। अपनी प्रतिष्ठा-हानि के कारण जो काम वे कर नहीं सकते, उसके लिए उनसे विनय करना मुझे उचित नहीं जान पड़ा।"

अरुणा को तब कुछ ऐसा प्रतीत हुआ मानो भाई के सामने इस विषय में मौन रहकर वह प्रकारान्तर से समाज के उस वर्ग का समर्थन करने जा रही है, श्वान-वृत्ति की भाँति वैभव और ऐश्वर्य के पीछे-पीछे लगे रहना जिसका स्वभाव बन गया है। उसने कहना चाहा— "जान पड़ता है कि तुम्हारी जगह कोई ऐसा आदमी बोल रहा है जो किसी मिल-मालिक का एजेण्ट हो। धनी-मानी समाज की प्रशंसा करके अपनी पाँचों घी में रखना जिसका पेशा बन गया हो।" किन्तु यह सोचकर कि कहीं बुरा न मान जाय, प्रसंग बदलकर वह बोल उठी— "यही वह समय था जब मेरा भविष्य बन सकता था। खैर कोई बात नहीं। यद्यपि जो समाचार मिल रहे हैं उनसे तो यही ध्वनि निकलती

है कि अकस्मात् सारी सम्पत्ति स्वाहा हो जाने पर भी उनके चाचा ने बाज़ार में अपनी साख स्थिर रखकर बड़ी बुद्धिमत्ता और वीरता का काम किया है। इससे उनकी मान-मर्यादा घटी नहीं, बढ़ गयी है और कई ऐसी पार्टियाँ पैदा हो गयी हैं जो उनके लिए लाखों का माल उठा देने को तैयार हैं।" अपनी हार्दिक उपेक्षा प्रकट करते हुए कि अरुणा के इस कथन का कुन्जबिहारी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, उत्तर में वह बोला—"तुमको कुछ नहीं मालूम है अरुणा ! बाज़ार के समाचारों पर सहसा विश्वास कर लेना, हवा में किले खड़े कर लेने के समान है। जब तक काँग्रेस टिकट से खड़े होकर प्रदीप जी सदन में चले नहीं जाते, तब तक बाज़ार में किसी पार्टी का उन्हें कोई अवलम्ब नहीं मिल सकता।"

बारम्बार अरुणा प्रयत्न करती थी कि उसे प्रदीप के पक्ष में कुछ कहना नहीं चाहिये पर कुन्जबिहारी बात ही ऐसी कह देता था कि अरुणा को उत्तर देने के लिए विवश हो जाना पड़ता था। अत: उसने कह दिया—"तो दद्दा, क्या तुम भी उसी आदमी को मान देना जानते हो जिसे समाज के धनी-मानी लोग मान देते हैं ? क्या इसका मतलब यह नहीं है कि तुम प्रवाह और धारा के साथ बहते जाना पसन्द करते हो ? ग़लत होने पर भी उसे रोकने या नया मोड़ देने का साहस तुम में नहीं है। मुझे तो ऐसा लगता है कि चुनाव के समय तुम प्रदीप का साथ देने के बजाय, उनके विरोधी पक्ष में दिखलायी पड़ो तो आश्चर्य नहीं।"

अरुणा की बात सुनकर कुन्जबिहारी ठट्ठा मारकर हँस पड़ा, और बोला—"जग में सबसे बड़ा रुपैया, बाप बड़ा न भैया।" कुन्जबिहारी के इस कथन के पश्चात् अरुणा जल उठी और बिना कुछ कहे उठकर वहाँ से चल दी। उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

इसके एक सप्ताह बाद की बात है। अरुणा ने देखा अभी सात नहीं

बजे हैं और दद्दा के कमरे में बड़ी चहल-पहल है। रामराज्य परिषद् की ओर से खड़े होने वाले नेता श्री रामप्रताप जी के नाम के हज़ारों टिकटों की गड्डियों का ढेर सामने लगा हुआ है। एक साहब टेबिल पर रखी हुई ऐशट्रे में सिगरेट की बाक़ी बची हुई टुकड़ी डाल रहे हैं। दूसरे साहब कश पर कश लगा रहे हैं। कभी-कभी कमरे में एक अट्टहास का स्वर गूँज उठता है, और कभी-कभी कुछ ऐसे वाक्य भी सुनायी पड़ जाते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि काम वास्तव में बहुत उत्साह के साथ हो रहा है। जैसे—"खाओ यार, तुम भी क्या कहोगे कि किसी अमीर से पाला पड़ा था।" कमरे में अब सौ कैंडल पावर का बल्ब लग गया था और एक नया रेडियो सेट दद्दा ने लाकर भाभी के कमरे में फिट कर दिया था। दूसरे दिन दद्दा ने अपने कमरे में टेलीफोन भी लगवा लिया। एक साथ वातावरण के इस परिवर्तन ने अरुणा के मानस को इतना अस्थिर कर दिया कि उसका घर में रहना दुष्कर हो उठा।

अब कुञ्जबिहारी ने अपने आफ़िस से छुट्टी ले ली थी, इसलिए दौड़-धूप करने अथवा चुनाव कार्यालय में बैठनें की स्वतन्त्रता उसे प्राप्त थी। एक कार उसकी व्यवस्था के अनुसार सदा दरवाज़े पर खड़ी रहती। मकान के पास एक जलपान-गृह था। दिनभर में साधारण रूप से तीन बार चाय और उसकी कम्पनी वहाँ से बुला ली जाती। उसके पास जो तमोली की दुकान थी, उसके यहाँ से लगे-लगाये पान चले आते। कार्यकर्त्ता लोग काम करते-करते जब एकदम से शिथिल पड़ जाते तो उन्हें फूलबाग घूमने की सूझती। जो अपने घर के फालतू नहीं थे, वे तो आठ बजते ही अपने घर की राह पकड़ते। किन्तु जो इस अवसर का पूरा-पूरा शोषण करना चाहते थे, वे सैर-सपाटे के कार्यक्रमों में सदा आगे रहते। फूलबाग की सैर के सिलसिले में प्राय: सिनेमा का कार्यक्रम बन जाता और परिणाम यह होता कि एक छोटा-मोटा

मुसाफ़िरखाना कुञ्जबिहारी के कमरे में रात के बारह-एक बजे फिर आबाद हो जाता।

एक दिन जब कुञ्जबिहारी इधर-उधर से घूमकर लौटा, तो वह अपने चुनाव-कार्यालय में न जाकर सीधा अरुणा के पास आकर बोला—"मुझे मालूम हुआ है कि तुमने प्रदीप की ओर से कन्वेसिंग करना शुरू कर दिया है और चुनाव-सभाओं का सङ्गठन, नेताओं का आवागमन, उनके स्वागत-सत्कार की व्यवस्था और इस सिलसिले में उनसे स्वतन्त्रतापूर्वक मिलना-जुलना प्रारम्भ कर दिया है। मुझे यह भी पता चला है कि तुम इस कार्य के सिलसिले में जेतली साहब की बैठकों में भी योग देने लगी हो। यह सब बातें मेरी प्रतिष्ठा में बट्टा लगाने वाली हैं। ऐसा ही था तो तुमने मुझसे पहले क्यों नहीं कहा, मैं रामप्रताप जी से तुमको मिलवा देता। अगर मैंने सुना कि कल से तुमने अपना रवैया नहीं बदला, तो इसका क्या परिणाम होगा, यह तुम जानती हो!"

कुञ्जबिहारी की इस बात को सुनकर अरुणा सन्न रह गई।

जब कुञ्जबिहारी ने देखा कि अरुणा ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। तब वह अपनी कलाई-घड़ी देखता बोल उठा—"अब रात के दस बज रहे हैं, और हमारे कमरे में भी कई लोग बैठे हुए हैं। मैं स्वयं भी इस मामले में, कम से कम इस समय, और कुछ कहने को तैयार नहीं हूँ। लेकिन इस बात का उत्तर कल सबेरे आठ बजे तक मैं जरूर चाहता हूँ, और इसके लिए तुम्हें रात-भर का समय देता हूँ।"

तब रात भर रोती रही अरुणा। रोते-रोते उसकी आँखें सूज गईं। क्या करे, क्या न करे! कुछ भा उसकी समझ में नहीं आ रहा था। जिस प्रकार का एकाकी जीवन वह बिता रही थी, वही उसकी अन्तरात्मा के लिए एक क्रन्दन बन गया था। पर कुञ्जबिहारी के इस

कथन के बाद तो वह उसके साथ किसी प्रकार रह ही न सकती थी। तब और उपाय न देख वह प्रातःकाल ही घर से बाहर निकल गई और आठ बजते-बजते सोसायटी के कार्यालय में पहुँचकर रंजना से जा मिली।

इस मिलन का एक आधार बड़ा मनोवैज्ञानिक था। अरुणा को किसी प्रकार यह मालूम हो गया था कि गोपीलाला अब प्रदीप के साथ रञ्जना का वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। यह एक ऐसी स्थिति थी कि अरुणा सोचती थी मुझे रञ्जना से मिलना ही चाहिए।

रञ्जना की मनःस्थिति अरुणा की अपेक्षा अब भी बहुत कुछ स्थिर बनी हुई थी। पिता ने अब प्रदीप के साथ उसका विवाह करने का विचार भले ही त्याग दिया हो, किन्तु वह इतना समझती थी कि प्रदीप के मन में उसने जो जगह बना ली है, वही उसकी एक चिरस्थायी आश्रयभूमि है। और इतना क्या कम है कि उस पर टिके रहने का अवसर कोई उससे छीन नहीं सकता ?

अरुणा जब उससे मिलने आयी, तो उसे आश्चर्य इसलिये और भी नहीं हुआ कि बुद्ध-दिवस मनाने की सूचना उसे दी जा चुकी थी और इस विषय में निश्चयात्मक बातें करने के लिए उसका उससे मिलना सर्वथा स्वाभाविक था।

सामने पड़ते ही अरुणा बोली—"प्रदीप दद्दा के यहाँ फ़ोन हट जाने के कारण उनसे मिलना-जुलना दुष्कर हो गया, उससे सोसायटी के कार्य-क्रम तै होने में कठिनाई होती होगी, यह मैं जानती हूँ।"

रञ्जना ने रजिस्टर सामने रखते हुए कह दिया—"देख न लो, सूचना पर हस्ताक्षर शीला के हैं। अगर उसे उनको सूचित करने का ध्यान न रहा, तो हमारी स्थिति कितनी चिन्त्य हो जायगी।"

अरुणा ने उचटते हुए मन से कह दिया —"हाँ हो जायगी।" अब भी रञ्जना की समझ में नहीं आ रहा था कि आज अरुणा इतनी शिथिल तथा उल्लासहीन क्यों है ? तब उसके मुँह से निकल गया— "लेकिन इस बात की ओर हमारा ध्यान क्यों नहीं जाता कि वे इन दिनों कितने संकट से गुज़रे हैं !"

तब एक निःश्वास लेते हुए अरुणा के मुँह से निकल गया—"संकट में गुज़रने वाले लोगों की दुनिया में कमी नहीं है रञ्जना !"

एक प्रदीप ही नहीं, रञ्जना भी है। रञ्जना ही नहीं, अरुणा भी है। बात कहती-कहती अरुणा जो रञ्जना की आँखों की ओर देखने लगी तो स्वयं उसी का कण्ठ भर आया। बात की बात में दोनों परस्पर लिपटकर रो पड़ीं। अन्त में रात हुई। भाई की बातें सुनाती-सुनाती अरुणा बोली—"अच्छा रञ्जना, अगर एक बात मैं तुमसे पूछूँ, तो...... ?"

रञ्जना की आँखों में अब भी मोती झलक दे रहे थे। इसलिए अरुणा और आगे कुछ न कह सकी। कुछ ऐसी बात है कि जब हृदय अपना भेद बतलाने की भाषा नहीं पाता, तब नयन आप ही आगे बढ़कर उसका भेद खोल देते हैं। हाँ, तो जब अरुणा बात कहती-कहती रुक गई, तो रंञ्जना बोल उठी —"तुम्हें जो कुछ भी कहना हो, कह जाओ दीदी। यह मत सोचो कि उसे सुनकर मुझे कैसा लगेगा ! मैं अपने इन प्राणों की शपथ लेकर कहती हूँ, तुम आज अपना कोई भेद मुझसे छिपाओ मत। क्योंकि एक बात निश्चित है कि जो सफलता मुझे नहीं मिली, मैं उसके लिए तुम्हारा मार्ग कभी न रोकूँगी। पावन मानवता के नाम पर यह कलंक मैं अपने ऊपर कभी न आने दूँगी। अमृत का जो कलंक मुझे मिलता-मिलता रह गया, अपनी दीदी को भी मैंने उससे वंचित कर दिया—केवल ईर्ष्या-द्वेष में पड़कर—केवल अपने हृदय की ज्वाला शान्त करने के लिए।"

अब अरुणा के रुद्ध हृदय का बाँध टूट गया। सिसकियाँ ले ले सहस्र अमृत-धार बरसाती हुई वह बोली—"अगर कभी ऐसा अवसर आये रञ्जना कि यह दुनियाँ मेरी नारीसुलभ लज्जा की मर्यादा भंग करने लगे तो तुम इतना उससे कह देना—अरुणा अभी मरी नहीं है। अरुणा अभी जीवित है। वह जगज्जननी जाह्नवी की गोद में अब भी खेल रही है—अब भी हँस रही है।"

तब रञ्जना बोल उठी—"ऐसा मत कहो दीदी। ऐसा मत कहो। प्रदीप दद्दा तुम्हारे ही होकर रहेंगे, तब भी मैं यही समझूंगी, वे मेरे हैं। उनकी वाग्दत्ता होने का मेरा गौरव तो कोई मुझसे छीन पायेगा नहीं !"

तब आँसू पोंछती और धीरे-धीरे वहाँ से चलती हुई अरुणा बोली—"मैं जानती थी, तुम ऐसा ही बल देकर मेरी रक्षा करोगी।"

: ३७ :

प्रदीप एक तमोली की दुकान पर खड़ा पान खा रहा था और रञ्जना अपने भाई के साथ बाज़ार से कुछ कपड़े खरीदकर लौट रही थी। निकट आते ही उसने रिक्शा खड़ा करवाकर, बण्डल की ओर संकेत करते हुए, भाई से कह दिया—"इसे लिए हुए मैं कहाँ जाऊँगी, तुम यहीं बैठो। मैं अभी आयी।" और इतना कहकर वह प्रदीप के बराबर जा खड़ी हुई। बोली—"काँग्रेस टिकट पर खड़े होने के लिए मैं आपको बधाई देती हूँ।"

प्रदीप जैसे चौंक पड़ा हो ! बोला—"अरे, रञ्जना तुम हो ! मगर यह बधाई मुझे कैसी ! यह तो वास्तव में तुम अपने को दे रही हो।

तुम्हीं लोगों की दौड़-धूप का तो मुझे भरोसा है।"

रञ्जना कुछ संकुचित हो उठी। बोली—"मैं सदा सेवा के लिए तत्पर हूँ। मगर एक बात शायद आप नहीं समझ रहे हैं। नगर में इस बात की बड़ी चर्चा है कि इस समय भले ही कोई सेठ सामने खड़ा नज़र आये। यह भी हो सकता है, कोई कम्यूनिस्ट ही आपके विरोध में खड़ा दिखलाई पड़े। पर अन्त में आप निर्विरोध जाएँगे। अभी आपको इस बात पर भले ही विश्वास न हो, पर देख लीजिएगा, अन्त में होगा यही।"

प्रदीप पान लेकर रञ्जना को देने लगा और बोला—"राजनीति में केवल उद्देश्य निश्चित रहता है। पर मार्ग और साधन के सम्बन्ध में पहले से सब कुछ निश्चित होने पर भी उनकी प्रणालियाँ और प्रकार सर्वथा क्षणस्थायी होते हैं। उनकी गति-विधि काल के पदक्षेप तै किया करते हैं। इसलिए अवसर आने पर भी पूर्वनिश्चित कार्य-क्रम बदलने पड़ते हैं।...लो, पान तो खाओ।"

तब हँसती हुई रञ्जना बोली—"आप जानते हैं, मैं पान नहीं खाती।"

"ओ ! मैं भूल ही गया था। बहुत दिन हो गए कहीं भेंट न हो सकी। बहुतेरे लोग हैं, जो नित्य न सही, पर दूसरे-तीसरे कहीं-न-कहीं मिल जाते थे। आजकल वे सब भी......। अकेली हो क्या ?"

रञ्जना ने दायें ओर मुड़कर हाथ उठाते हुए संकेत से बतला दिया—"रिक्शा पर छोटा भाई वह बैठा है।"

तब प्रदीप बोल उठा—"अच्छा, अच्छा, ठीक है।...पढ़ाई से अब तो छुट्टी पा चुकी होगी ?"

रञ्जना संकोच में पड़ गयी। जी में आया, कह दे—'माना कि पढ़ाई से छुट्टी मिल गयी, पर इससे क्या ? आप भी तो मेरे घर पर कभी पधारने की कृपा नहीं करते।" पर वह ऐसी बात कहना नहीं

भी आप आपनी मर्यादा में एक इंच का भी बल नहीं पड़ने दे रहे हैं। ······नौकर तो कम कर दिये हैं शायद। खैर, कोई बात नहीं। भगवान चाहेगा तो सब ठीक हो जायगा।

कुलदीप बाबू ने सुन रक्खा था कि बलराम बाबू मिजाज़ के बहुत कठोर आदमी हैं। पर उन्होंने देखा, प्रदीप के आतिथ्य-सत्कार ने उनकी स्वाभाविक मानवी समवेदना को इतना तो जगा ही दिया कि उनकी भाषा संयत और अनुकूल बनी रही। लेकिन आज वे दुखी बहुत अधिक थे। विशेष रूप से यह सोचकर कि जो लोग महीनों मेरे यहाँ तकाज़ा नहीं भेजते थे, वे ही गोदाम में आग लग जाने पर शोर मचाये हैं। चाहते हैं, आज ही मेरा रुपया वसूल हो जाय। आखिर यह बात क्या है? क्या इसका यह स्पष्ट अर्थ नहीं कि वे पैसा तो अपना चाहते ही हैं साथ ही मेरा विनाश देखने को भी आतुर और व्यग्र हैं!

बलराम बाबू काफ़ी पी रहे थे और प्रदीप चुपचाप उनके पास खड़ा था। इतने में कुछ सोचते हुए कुलदीप बाबू बोल उठे—"कोई बात नहीं है बलराम बाबू, मैंने सब सोच लिया है। तीनों मकान मैं बेचे डालता हूँ। एक-आध दिन में लिखा-पढ़ी हो जायगी। दूकान किसी तरह बन्द न होगी, भले ही मुझे किराये के मकान में रहना पड़े।"

बलराम बाबू सुनकर सन्न रह गये। छड़ी की मुठिया घुमाते हुए क्षण भर बाद बोले—"एक बार रुपये का प्रबन्ध कर लेने पर फिर सब ठीक हो जायगा। वैसे मेरे लायक जो सेवा हो, उसके लिए मैं तैयार हूँ।"

कुलदीप बाबू ने लक्ष्य किया—"ये महाशय भी अन्दर से यही चाहते हैं कि इनकी जो कुछ भी अचल सम्पत्ति है, वह तुरन्त बिक जाय।"

इसी क्षण प्रदीप के मुँह से निकल गया—"मुझे भी एक मामले

में आप से सलाह करनी है बड़े दादा ! आज शाम को मैं आपसे मिलने वाला था। भाग्य से उससे पूर्व ही द्वार पर आपके चरणों की रज लेने का अवसर मिल गया।"

"कहो, कहो बेटे, तुम भी कहो।" कप खाली करते-करते बलराम बाबू बोल उठे।

प्रदीप ने कह दिया—"अगले चुनाव के लिए मुझे कांग्रेस टिकट मिल रहा है। पर मैं इसके लिए तैयार होने से इसलिए हिचक रहा हूँ कि इस समय घर की स्थिति मेरा साथ देने लायक नहीं है।"

अब बलराम बाबू उठकर खड़े हो गये और बोले—"किसी तरह एजंसी के रुपये का भुगतान अगर जल्दी हो जाता, तो बाजार पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ता। और उस हालत में मैं तो यही चाहता कि जरूर तुम आगे आ जाओ।"

कथन के साथ बलराम बाबू उठकर चलने लगे। कुलदीप बाबू पनडब्बे से पान निकालते हुए बोले—"अरे पान तो खाते जाइये बलराम बाबू, ऐसी भी क्या जल्दी !"

अब बलराम बाबू द्वार के बाहर थे और कुलदीप बाबू उनके पीछे।

क्षणभर बाद कुलदीप बाबू चारपाई पर जाकर मुँह ढककर लेट रहे और प्रदीप कमरे की खिड़की के सामने जाकर देखने लगा कि सड़क पर दूसरी ओर पड़ोस का लुहार दायें हाथ से धौंकनी उठाता-गिराता हुआ लोहा गरम कर रहा है।

तभी यकायक एक ठण्डी साँस भर कर प्रदीप सोचने लगा—दादा ही शायद ठीक कहते थे—संकट में कोई मित्र नहीं होता। और इसके साथ ही यह विचार भी उसके मन को उद्वेलित करने लगा कि मृत्यु की भाँति संकट का समय भी अनिश्चित होता है। वह कभी भी आ सकता है।

उस दिन कुलदीप बाबू सारी रात नहीं सोये। कभी लेटे-लेटे करवटें बदलने लगते, कभी पलँग पर ही उठकर बैठ जाते। उनके मन में अब एक गरल घुल रहा था, जिसे वे संसार को बतलाये बिना चुपचाप पी जाना चाहते थे। उन दिनों रात को थोड़ी सरदी पड़ रही थी। जब किसी तरह जी न माना, तो उन्होंने अपना ऊनी कोट पहन लिया और वे अपने कमरे में ही इधर से उधर टहलने लगे।

अब पाँच बज गये थे और मिलों का गम्भीर नाद थोड़े-थोड़े अन्तर से कानों के परदों पर गूँज रहा था। एक बार मन में आया पण्डित किशोरीलाल के घर चलें, किन्तु एप्रिल का आरम्भ था। रात के पाँच बजने का समय। एक विचार मन में आया, मन की व्याकुल अवस्था में भी मनुष्य को अपनी गति की साधारणता स्थिर बनाये रखने की आवश्यकता होती है। विश्व की सारी राजनीति आज केवल इस बात पर तुल गयी है कि काम वही करो जो तुम्हें करना है, लेकिन छिपाकर करो। किसी को बतलाओ मत। चाहे जो कुछ करो, लेकिन करो एक ऐसे चमत्कार के साथ कि संसार की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न हो जाय।

बस, कुलदीप बाबू ने अपना गरम कोट उतार डाला और अविचलित मन से अपने को लिहाफ़ में डालकर चुपचाप पलँग पर लेटे-लेटे भगवान भुवन-भास्कर के अरुणोदय की प्रतीक्षा करने लगे।

कुलदीप बाबू के मन में एक ज्वाला अवश्य सुलगती रहती थी किन्तु वह ज्वाला भी संहारक न होकर रचनात्मक थी। वे दृढ़ संकल्प के साथ खेल रहे थे। वे अपने दुर्भाग्य से लड़ना चाहते थे। संकट उपस्थित होने पर जिस संसार ने उनकी उपेक्षा की थी उसको वे कुछ सिखाना चाहते थे। यह सही है कि अब उनके पास रुपया न था। किन्तु यह भी सही है कि अब उनके पास एक दृढ़ संकल्प का बल था। वे मन ही मन बार-बार कहने लगते थे मैं टूट नहीं सकता, क्योंकि मैं

अटूट हूँ। मैं गिर नहीं सकता, क्योंकि मेरी टाँगों में बल है। मैं झुक नहीं सकता, क्योंकि मेरी कमर सीधी है। मैं मरूँगा नहीं। मुझे संसार को बताना है मैं क्या हूँ।

धीरे-धीरे सूर्य उदय हुआ। कुलदीप बाबू ने उठकर अपना कोट पहना और पैरों में सफ़ेद चूड़ीदार पाजामा। सिर पर गोल टोपी रखी और हाथ में छड़ी ली। प्रातःकाल होते-होते वे मकान से बाहर हो गये।

: ३४ :

उस दिन ज्यों ही वीरेन्द्र हेमा को लेकर जेतली साहब के यहाँ पहुँचा, त्यों ही उसे पता चला कि वे कुछ अस्वस्थ हैं। इसलिए थोड़ी देर बाद उनसे भेंट होगी। पर क्षण भर बाद ही एक सेवक ने दोनों के आगे एक छोटी टेबिल रख दी। फिर एक ट्रे में चाय के साथ टोस्ट-मक्खन। और मिठाई की एक प्लेट। तभी जेतली साहब एक लम्बा गाउन पहने गले में रेशमी मफ़लर डाले और सिर पर एक नोकदार श्वेत टोपी धारण किये हुए खरामा-खरामा आ पहुँचे।

पर "आप लोगों को अधिक प्रतीक्षा तो नहीं करनी पड़ी?" यद्यपि सामने पलङ्ग पड़ा हुआ था, पूछते हुए जेतली साहब उस पलङ्ग पर न बैठकर उस खाली पड़ी हुई सम्पूर्ण बेत की बनी कुर्सी पर जा बैठे, जो वीरेन्द्र और हेमा के सामने किन्तु बिल्कुल मध्य भाग में पड़ी हुई थी।

वीरेन्द्र ने उत्तर दिया—"करनी भी पड़ती तो अनुचित न होता।"

इतने में एक मृग-छौना आकर पहले द्वार पर खड़ा हो गया फिर गमलों में लगी एक पत्ती को अपनी थूथुन से सूँघने लगा।

जेतली साहब के मुँह से निकल गया—"ऐसा मत करो चक्षु-मित्र ! ये पल्लव यहाँ भक्षण के लिए नहीं लगाए गये हैं !"

हेमा के मुख पर हास मुद्रित हो गया और वीरेन्द्र बोला—"इसका नाम आपने खूब रखा है जेतली साहब, एकदम यथार्थवादी।"

इतने में वह मृग-बालक चिटककर लान पर जा पहुँचा और आली हरी अभिराम पत्तियों पर फौवारे से पानी छिड़कने लगा। अब जेतली साहब के मुँह से निकल गया —"आपको पसन्द आया ?"

"पसन्द न आता तो मैं कहता ही क्यों ?" वीरेन्द्र ने मुसकराते हुए उत्तर दिया।

तब जेतली साहब ने हेमा पर दृष्टिक्षेप करते हुआ कह दिया—"मुझे प्रसन्नता है कि आप को पसन्द आया। पर एक बात है; लेकिन जाने दो अब उसे नहीं कहूँगा।"

"मन में जब कोई बात आई है, तब उसे कह ही डालिए। कहते हैं—पेट में अपच हो, तो भोजन मत करो, मगर मन में अपच हो, तो दरवाज़े पर शहनाई बजवाओ।"

जेतली साहब पहले वीरेन्द्र की ओर इकटक देखते रह गये फिर बोले—"बात आपने लाख रुपये की कह डाली। लेकिन सारी मुश्किल यह है कि मैं इस युग का नवाब वाजिद अली शाह न हुआ।"

"आप जो इस समय हैं, वही मेरे लिये बहुत हैं। पर कहीं हम भूल न जायँ, इसलिये वह बात जिसे आप कहते-कहते रुक गये, अब कह ही डालिये।"

टोपी को सिर से उतारकर जेतली साहब ने पलङ्ग पर फेंक दिया और गाउन उतारकर कपड़े टाँगने की खूटियों में से एक के हवाले कर वे बोले—"बहुत साधारण सी बात है। लेकिन आती रहती है मेरे मन में बार-बार। यद्यपि उसके अन्दर कोई निहित हेतु नहीं है।"

अब हेमा चुप न रह सकी। साड़ी के अंचल को बायीं ओर थामती

हुई बोली—"बात यद्यपि मैं जानती नहीं हूँ, क्या है; पर उसकी भूमिका कम आकर्षक नहीं है।"

इतने में फ़ोन की घण्टी बज उठी और जब तक किसी ने रिसीवर नहीं उठाया, तब तक बजती ही रही।

क्षणभर बाद सेवक ने जेतली साहब के पास आकर कह दिया—"आपका फ़ोन है।"

जेतली साहब उठकर पास वाले कक्ष में जा पहुँचे, रिसीवर उन्होंने नाक और कान के सामने किया और कहना आरम्भ कर दिया—"हाँ, पहले मेरी बधाई स्वीकार करो और ढाई सेर रसगुल्ले साथ लेकर यहाँ आ जाओ। तुरन्त, अभी, समझे? हाँ, वे दोनों सौभाग्य से इस समय मेरे यहाँ पधारे हैं।···हा हा हा हा।···कोई बात नहीं, डोंट माइंड इट।···हाँ-हाँ, नहीं-नहीं, मैं आज ही भर हूँ यहाँ। कल मुझे सेशन अटैण्ड करना है।···अच्छा-अच्छा, देखो कोशिश करके देखता हूँ। वादा नहीं करता।"

जेतली साहब अभी अपनी कुर्सी पर बैठ भी न पाये थे कि इतने में एक रिक्शा बरसाती के अन्दर आकर खड़ा हो गया। क्षणभर बाद खादी की शेरवानी और खादी का ही चूड़ीदार पाजामा और सिर पर दुग्धधवल नोकदार टोपी धारण किए हुये एक व्यक्ति ने प्रवेश किया। तपाक से उसने जेतली साहब के चरणों की रज अपने भाल से लगाई और कह दिया—"मेरा नाम कुञ्जबिहारी है। मैं यहाँ स्थानीय श्रम-विभाग में कार्य करता हूँ। यदि आप मेरे लिए दो-चार मिनट का समय निकाल सकें, तो मैं आपकी इस कृपा के लिए जन्म-जन्मान्तर तक ऋणी रहूँगा। यद्यपि इस मामले में आज तक मैं किसी की एक पाई का भी देनदार होकर मरना महापातक समझता हूँ। मेरे साथ अन्याय हो रहा है। मैं आप से न्याय चाहता हूँ। मैं सत्य का पुजारी हूँ, इसीलिए मैं आपकी शरण में आया हूँ। आप चाहें तो सहज ही मेरा उद्धार कर

सकते हैं। पर अगर किसी संकोच के कारण आपने मेरी प्रार्थना पर ध्यान न दिया, तो उसका क्या परिणाम होगा, यह मैं नहीं कह सकता।"

कुञ्जबिहारी नें पहले तो अपनी बात धीरे-से कहनी प्रारम्भ की थी, पर उनकी वार्ता का स्वर कुछ तीव्र होने लगा, तो जेतली साहब उन्हें अलग ले गये। दोनों दूसरे कमरे में बैठ गये। क्षणभर के लिए वे वीरेन्द्र के पास आये और कहने लगे—"आप लोग चाय-पान कीजिये। मैं अभी आया।" क्षणभर बाद वे पुन: कुञ्जबिहारी से जा मिले।

जेतली साहब नें सारी बात सुनकर उत्तर दिया—"देखिये, कुञ्जबिहारी साहब, जिन साहब का पत्र आप ले आये हैं, जब तक मैं उनसे बात न कर लूँ, तब तक मैं आपको कोई निश्चित उत्तर नहीं दे सकता।"

"तो आप उनसे आज बात कर लेंगे ?"

"मैं उनसे आजकल में बात करने की चेष्टा करूँगा। लेकिन एक बात मैं आप से अभी से कह देना चाहता हूँ। वह यह कि अगर आपकी बात की सत्यता में रत्तीभर भी फेर-फार या बनावट का भान मुझे हुआ, तो मैं आपकी कोई सेवा न कर सकूँगा।"

"बात की सत्यता मैं सदा प्रमाणित करने को तैयार हूँ।"

"मैं आपके साहस की प्रशंसा कर सकता हूँ। लेकिन सूर्य्य को भी यदि यह प्रमाणित करने की आवश्यकता पड़े कि मैं सूर्य्य हूँ, तो क्या उसके लिए यह गौरव की बात होगी ? मैं कभी यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि कोई परीक्षक किसी लड़की को किसी प्रश्न-पत्र में उचित नम्बर केवल इस आधार पर न देगा कि किसी अन्य लड़की से पूर्व परिचित होने के कारण वह उसी का पक्षपात करेगा। फिर यह बात मेरी समझ में नहीं आती कि जो कार्य प्रदीप जी सहज ही कर सकते

थे, उसके लिए आपको मेरे पास दौड़ने की क्या आवश्यता थी। जबकि वे आपके इसी नगर के एक ज़िम्मेदार नेता हैं ?"

"आपको पता नहीं है शायद कि प्रदीप जी की स्थिति इस समय कितनी नाज़ुक हो गयी है ? नगर में जो अफ़वाहें उड़ती हैं, अगर आपको उनका ज्ञान होता तो आपको मालूम होता कि उनका नेतृत्व इस समय कितने खतरे में है।"

जेतली साहब के मन में आया—इस आदमी को तो कान पकड़कर बाहर निकाल देना चाहिये। पर आवेश को दबाते-दबाते तमतमाये हुए चेहरे की भृकुटियों में ग्रन्थि डालते हुए उत्तर दिया—"आपको और कुछ कहना है ?"

"कहना तो बहुत कुछ था पर इस समय इतना ही कहना चाहता हूँ।"

"तो अब आप जा सकते हैं। मुझे खेद है कि मैं आपकी कोई सहायता न कर सकूँगा।"

कुञ्जबिहारी को ऐसा जान पड़ा, जैसे किसी ने उसकी छाती में गोली मार दी हो। उसने कहाँ गलती की है, यह सोचना वह न जानता था। जानता वह केवल यह था कि जो व्यक्ति किसी पद पर नहीं, जिसके पास कोई विशेष वैभव और ऐश्वर्य्य भी नहीं, बाज़ार में जिसकी साख एक बार खो चुकी है, अब उसके पास ऐसी कोई वस्तु नहीं बच रही है जिसकी शक्ति के अवलम्ब का भरोसा किया जाय। वह उन व्यक्तियों में था, जो केवल अवसर से लाभ उठाना चाहते हैं। वे व्यक्तित्व और उसकी प्रतिभा का मान नहीं करते, मान करते हैं पद और प्रतीष्ठा का, अधिकार और उसकी परम्परा का। पद और प्रतिष्ठा से हीन हो जाने पर वे उसी व्यक्ति के प्रति उदासीन और उद्दंड हो जाते हैं, जिसकी सदा वन्दना और पूजा करते रहे हैं। इसलिए उसने अब प्रदीप से मिलना-जलना तक छोड़ दिया था। वह सोचने लगा—प्रदीप की स्थिति साफ़

बतला देने मात्र से ये महाशय इतने आवेश में आ गये कि मेरा अपमान कर बैठे ! इसीलिए तो जनता की दृष्टि में इन लोगों का मूल्य इतना घट गया है। अगर इस अपमान का बदला मैंने इन्हीं सिक्कों में चुकाया तो कुछ न किया। चुनाव के समय जब ये महाशय अपनी पार्टी के पक्ष में भाषण देने आयेंगे, तो चारों ओर से मैं इतना हुल्लड़ मचवा दूँगा, लगातार इतनी थपेड़ी पिटेगी कि बच्चू की बोलती बन्द न हो जाय तो मेरा नाम कुञ्जबिहारी नहीं। उस दिन पता चलेगा कि कुञ्जबिहारी किस धातु का बना है।

भावावेश में साइकिल पर तेज़ी से वापस जाता हुआ कुञ्जबिहारी यह भी नहीं देख सकता था कि सामने जा कौन रहा है। इसका परिणाम यह हुआ कि वह एक रिक्शा से टकराकर गिर गया। संयोग की बात कि उस रिक्शे में ही प्रदीप आ रहा था। रिक्शा रोककर जब वह उससे उतर पड़ा, तो कुञ्जबिहारी अपने पाजामे में लगी धूल झाड़ता हुआ, वह खरोंच देखने लगा जो पैंट के फट जाने पर दायें घुटने में आ गयी थी।

प्रदीप के मुँह से सहज भाव से निकल गया—"कहीं चोट तो नहीं आयी कुञ्जू ?"

कुञ्जबिहारी ने परिचित स्वर वाले व्यक्ति की ओर जो आँखें डालीं तो संकोच के कारण वह जैसे धरती में धँस गया। इस घटना से वह इतना खीझ उठा कि तत्कालीन प्रतिक्रिया भी न सम्हाल सका और बोला—"चोट आयी तो नहीं, पर अगर आ भी जाती तो मुझे उतनी लज्जा न होती, जितनी आपको आज अपनी गाड़ी के बजाय किराये के रिक्शे पर आते हुए देखकर हो रही है।"

प्रदीप कुञ्जबिहारी के इस स्वरूप से पूर्वपरिचित था। इसीलिए उसकी मीठी-मीठी बातों पर कभी-कभी उसे आश्चर्य भी हो उठता था।

अतएव उस समय इस अप्रासंगिक कथन के छिपे व्यंग्य पर उसे विशेष आश्चर्य नहीं हुआ। हाँ, एक बार अपने दादा का यह कथन उसे तुरन्त याद हो आया कि संकट के समय संसार में कोई मित्र नहीं होता। तात्पर्य यह कि प्रत्येक व्यक्ति को उस अवसर का सामना करने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिये, जब उसका पाँसा पलट जायगा, उसकी सारी योजनाएँ पग-पग पर विफल होती जायँगी। यहाँ तक कि उसके सगे आत्मीय बन्धु भी उसका अपमान करने या जली-कटी सुनाने से बाज न आयेंगे।

दिन बदल गये थे। पर प्रदीप की तेजस्विता में कोई अन्तर न पड़ा था। ऋतु अवश्य बदल गयी थी, लेकिन गगन की नीलिमा ज्यों की त्यों थी। अतः किसी भी प्रकार के संकोच का अनुभव किये बिना उसने उत्तर दिया—"बात सही होते हुए भी उस व्यक्ति के मुँह से शोभा नहीं देती जिसने भोजन की थालियों और मिठाइयों के दोनों को नाक से सूँघ-साँघ कर, जिह्वा को लप-लप हिलाते हुए लार टपका-टपकाकर अवसर आने पर कभी इसके कभी उसके आगे दुम हिला-हिलाकर ही छठे-छमाहे गाड़ियों पर बैठने में बड़ा आदमी समझ लेने की आदत डाल ली हो। मेरी गाड़ी बिक गयी है, तो फिर भी आ सकती है, पर कभी अगर तुम्हारी लाज बिक गयी, तो वह सात जन्म तक वापस न आयेगी। अगर मेरी इस बात पर विश्वास हो जाय, तो काम पड़ने पर चाहे जब मेरे पास फिर आ सकते हो। पर अगर आज की भाँति कभी इस विश्वास में अन्तर पड़ जाय, तो दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। अरुण से ही पूछ देखना। अपने जीवन-इतिहास के प्रारम्भिक दो-चार पृष्ठों से ही वह तुमको इतना तो समझा ही देगी कि समय बदल जाने पर सभी व्यक्ति तुच्छ नहीं हो जाते। कुछ लोग ऐसे भी इस जगत में बने रहते हैं जिनकी बात ही उनकी अक्षय निधि और

अचल सम्पत्ति होती है। धन का अभाव या आधिक्य उन पर कोई प्रभाव नहीं डाल पाता।

प्रदीप का उत्तर सुनकर पहले तो कुन्जबिहारी स्तब्ध, अवाक् और जड़ सा हो उठा। फिर सहसा उसके मुँह से निकल गया— "अरे आप तो बेकार बिगड़ उठे। मैंने तो सहज भाव से यों ही कह दिया था।" और इसके बाद झटपट उसनें साइकिल सम्हाली और बात की बात में नौ दो ग्यारह हो गया।

कुन्जबिहारी के चले जाने के अनन्तर जेतली साहब नाक को रूमाल से ढके हुए पुनः अपने कमरे में आ गये और बोले—"एक मनुष्य ही नहीं, संसार की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि प्रत्येक संकट अनेक प्रतिकूल सम्भावनाओं और अविश्वासों का अनायास जनक बन जाता है। यह आदमी जिसका नाम कुन्जबिहारी था केवल इस कारण प्रदीप के गौरव पर संशय और अविश्वास प्रकट कर रहा था कि उनके घरेलू और व्यावसायिक संकट ने उनकी सामर्थ्य, मान-प्रतिष्ठा और शक्ति को डावाँ-डोल कर दिया है। पर कुछ भी हो, यह मेरी समझ में नहीं आता कि कुछ दिनों के लिए अगर मेरे पास पैसा न रहे तो मेरी संस्कृति और नैतिक कार्यशीलता का पौरुष भी अपना ऊँचा स्तर झुका देने को विवश हो जायगा। क्यों वीरेन्द्र तुम्हारी क्या राय है? तुम इस विषय में क्या सोचते हो?"

वीरेन्द्र को वह दिन भूले नहीं थें जब वह अपने कालेज की फ़ीस के बहाने प्रदीप से पचास रुपये उड़ा ले आया था। उसे अब तक याद बना हुआ था कि रुपये देते समय प्रदीप नें यह भी कहा था हम एक बजे खाना खाते हैं, समय निकालकर आ जाना। इस प्रकार उसका विश्वास अब तक दृढ़ बना हुआ था कि प्रदीप स्वभाव का सरल और उच्च संस्कृति का व्यक्ति है। अतएव उसने कह दिया—"आर्थिक स्तर का आकस्मिक परिवर्तन साधारण रूप से मनुष्य का तात्कालिक दृष्टि-

कोण निस्संदेह बदल देता है। लेकिन प्रदीप जी का स्थान उन साधारण पुरुषों में नहीं। कुञ्जबिहारी ने उन पर अविश्वास किया है तो यह उसकी नीचता है। चाँदी-सोने के छोटे-बड़े टुकड़ों से वह मनुष्य का मोल करता है, वह साक्षर जानवर है।"

"साक्षर जानवर ! खूब !! वीरेन्द्र, तुमको मेरे यहाँ आना ही होगा। क्यों हेमा ? क्या कानपुर में तुमको इतना अच्छा लगने लगा है कि अब तुम कहीं जा ही नहीं सकती ? क्या तुम सोचती हो कि तुम्हारे यहाँ आ जाने से तुम्हारी व्यक्तिगत सुन्दरता नष्ट हो जायगी ?"

रूमाल मुँह से हटाकर हेमा बोली—"एक दो बार इस तरह का विचार मेरे मन में ज़रूर आया है, झूठ नहीं बोलूँगी। अपने पाप को लोग ज़मीन में गड़े हुए धन की भाँति छिपाकर रखना चाहते हैं। मैं उनमें से नहीं हूँ। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी के काम न आकर धातु के टुकड़ों के रूप में वह पूंजी धरती में ही समा जाती है। लेकिन यदि वह हमारे पाप का कोई पिण्ड होता है तो धरती भी अपना मुँह खोल देती है और झनझनाती हुई बेड़ियाँ और हथकड़ियाँ उसके पापकर्म को बाज़ार और सड़क पर ही नहीं, छोटे-बड़े मकानों के कोनों-कोनों तक प्रसारित कर देती हैं। खैर, मुझे तो आपकी कृपा की ही आवश्यकता है। इसलिए हम लोग बहुत जल्दी आपके यहाँ आ रहे हैं।"

कभी-कभी ऐसा भी होता था कि हेमा जब बोलने लगती तो बोलती ही चली जाती। वीरेन्द्र केवल उसकी ओर एकटक देखता रह जाता। कहाँ से, कैसे, किन प्रसंगों और अवस्थाओं से गुज़रते हुए हेमा ने यह अनुभव प्राप्त किया है, इसकी अन्तर्कथाएँ पूछने का साहस उसे न होता। आज भी कुछ ऐसा ही हुआ। बल्कि जब उसका कथन समाप्ति पर आया तब उसको कुछ राहत सी मिली।

इतने में जेतली साहब ने कमरे के द्वार की ओर दृष्टि डाली तो उन्होंने देखा—अरुणा, रंजना और प्रदीप खिल-खिल करते हुए अन्दर चले आ रहे हैं।

: ३५ :

मकान साफ़-सुथरा है। दो कमरे हैं, जिनके दरवाज़ों पर बेल की हरी-हरी डालियाँ और पत्तियाँ अपनी देह-लता फैलाये हुये आने-जाने वाले सम्भ्रान्त व्यक्तियों के केश-गुच्छ छू-छू लेती हैं।

हेमा बोली—"और तो सब ठीक है जेतली साहब! पर इस मकान में सोने के लिये खुली छत नहीं है।"

"मगर खुली छत का काम यह इतना बड़ा आँगन नहीं दे सकता?" जेतली साहब ने सहज भाव से एक कामचलाऊ प्रश्न किया था। हेमा यह जानती थी। पर बात की निकटता उसकी तत्कालीन सूझ के साथ कुछ इतनी मिल गई कि वह बिना किसी संकोच के बोल उठी—"दे क्यों नहीं सकता! 'पुष्पस्थानें अक्षतम् समर्पयामि' उस दिन एक विवाह-संस्कार के अवसर पर सुन ही चुकी हूँ। पर जैसे अक्षत अक्षत हैं, पुष्प पुष्प, वैसे ही घर का आँगन आँगन ही है। छोटी छालदीवारी से घिरी किन्तु अपनें आप में मन से भी अधिक खुली, सुनील अम्बर के नीचे, शीतल मन्द पवन के गन्ध-मुग्ध झकोरों और खिलखिलाती चाँदनी की रजत-रश्मि मालाओं से समर्थित छत की बात ही दूसरी है। अंगनेया तो हमारी सती-साध्वी नव वधू होती है जेतली साहब! लेकिन आपको तो मेरी सारी कथा मालूम ही है। जिन्हें मैं बाबू कहती हूँ, वे मेरे प्रेमी पहले हैं, स्वामी बाद को। अर्थात् उनके लिए मेरा स्वाभाविक धर्म जितना प्रेयसी का है, उतना पत्नी का नहीं।

क्या आप यह नहीं मानते कि जैसे पत्नी बनने की लाख चेष्टा करने पर भी मुझे आपका यह समाज उसका प्रकृत गौरव नहीं दे सकता, वैसे ही एक बार प्रेयसी रूप में स्वीकार कर लेने के बाद में उसका विश्व-वन्द्य गौरव भला कैसे छोड़ सकती हूँ ?"

जेतली साहब को जैसे काठ मार गया हो। चकित विस्मित वे सोचने लगे—अभी कुछ ही दिन पूर्व जब यह कानपुर में मिली थी, तब इसका स्वर कितना मन्द और वार्तालाप का प्रकार कितना सीमित था ! किन्तु देखता हूँ, आज इसकी वाक्यावली का जल्दी तार ही नहीं टूटता है। माना कि उत्तर में संकोच नहीं है, शील की मात्रा भी बहुत परमित है। पर उसकी जो अपनी विचार-धारा, निष्ठा और भावना है, उसमें प्रवाह और वेग कितना है ! अकृत्रिम तेज और निर्विकार मनोबल कितना अगम !

तब मोहित मन से जेतली साहब बोले—"बात तो तुमने ऐसी कही है हेमा कि मैं निरुत्तर हूँ, परन्तु पत्नी का गौरव एक बार प्राप्त कर लेने पर प्रेयसी के स्वच्छन्द जीवन के प्रति इतना अनुरक्त बना रहना अभिमान की बात जिन्हें होती है, लगता है, वैसी नारी तुम किसी प्रकार नहीं हो। विवाहिता नारी का सतीत्व भी आज एक बार तुमसे ईर्ष्या ही करेगा।"

हेमा जेतली साहब को एक बार इकटक देखती रह गयी। फिर अपनी उमड़ती हुई हार्दिकता के पंख खोलती-सी बोली—"बस दादा, तुम ऐसा ही आशीर्वाद सदा मुझे देते रहना। दु:ख में, सुख में, जीवन के नाना रंग और रूप के प्रकोष्ठ लोक में जहाँ कहीं भी मुझे सामने से गुज़रता हुआ देखना अपना यह वरद हस्त मेरे सिर पर रख दिया करना। इससे अधिक मुझे और कुछ नहीं चाहिये—कदापि नहीं चाहिये।"

जेतली साहब सोचते रह गये, कुछ बोल नहीं सके। और अन्तिम शब्द कहते-कहते हेमा के कमल-नयनों से मोती झरने लगे। तब भाव-

लीन जेतली साहब बोल उठे—"ऐसा ही होगा हेमा, विश्वास रक्खो, एसा ही होगा।" और इस कथन के साथ हृदय के भीतर एक आँधी-सी छिपाये जेतली साहब झट से चल दिये। चलते समय यह भी कहना भूल गये कि अब चलता हूँ हेमा।

कार्य से छुट्टी पाकर वीरेन्द्र जब घर आया, तब यह देखकर दंग रह गया कि मकान भर में इलेक्ट्रिक फ़िटिंग हो गयी है। यकायक उसके मुँह से निकल गया—"वाह! आज तो घर में एक के बदले चार चाँद दिखाई दे रहे हैं।"

निकट आकर मुस्कराई हुई हेमा ने वीरेन्द्र के कन्धे पर हाथ धरते हुए कह दिया—"आज तुम जल्दी कैसे आ गये! मैंने तो चाय का पानी भी स्टोव पर नहीं रक्खा।"

"आज से ठीक पाँच बजे हमारी छुट्टी हो जाया करेगी। छुट्टी तो वैसे साढ़े चार बजे ही हो जाने की बात है। पर यदि चलते-चलाते कोई पेपर आ ही जाय, तो हम केवल आध घंटे और रुकेंगे।...पर यहाँ इतनी जल्दी बिजली दौड़ कैसे गयी। जेतली साहब तो कहते थे—अभी महीनों लगेंगे।" वीरेन्द्र ने बिल्कुल साधारण भाव से कह दिया।

पर हेमा हँस पड़ी। बोली—"बिजली के कार्यालयों और विभागों की भी तो अनेक किस्में और धाराएँ होती हैं। वहीं से बटन दबा देने भर की बात रहती है।"

और इतना कहते-कहते हेमा ने वीरेन्द्र की हथेली में अपनी तर्जनी दबा दी।

थोड़ी देर बाद दोनों चाय पर बैठ गये। कई दिन से चाय के साथ हेमा थोड़ा हलुवा और नमकीन मठरी एक प्लेट में सामने रख दिया करती थी। आज वीरेन्द्र ने देखा, मठरी के स्थान पर खस्ता और हलुवा के स्थान पर मुलायम गुलाब जामुन विराजमान हैं। तब यकायक मुँह चलाते हुए उसके मुँह से निकल गया—"आज तो बड़े ठाठ नज़र आ रहे हैं। क्या बाज़ार से ले आयी थी?"

हेमा ने एकदम सच्ची बात कह दी—"जेतली साहब का भृत्य दे गया था।"

वीरेन्द्र चुप रह गया। पर हेमा बोली—"वे खुद भी दस मिनट के लिए आये थे।"

अब वीरेन्द्र ने प्रश्न कर दिया—"कुछ कह रहे थे ?"

"वे तो कुछ न कहते," हेमा वीरेन्द्र के दाँत से काटकर खायी साँख का टुकड़ा उठाकर अपने मुँह में रखते-रखते बोली—"मैंने ही एक साधारण बात के बहाने उनसे दो-चार बातें कर ली थीं।"

"किस विषय में ?" वीरेन्द्र ने पूछा।

हेमा वीरेन्द्र के प्याले में जग से चाय ढालती हुई बोली—"मैंने कहा—इस मकान में और तो सब ठीक है; केवल खुली छत का अभाव है।"

"अब तुम बहक रही हो हेमा। जेतली साहब हमको सुख-सुविधा के जितने साधन देते हैं, तुम उनकी सीमाओं को और भी अधिक फैलाती जाती हो। जानती हो, इसका क्या परिणाम होगा ?"

इस अवसर पर वीरेन्द्र गम्भीर था, हेमा पुलकित।

नीचे का होंठ दाँत से दबाते हुए हेमा ने उत्तर दिया—"जानती हूँ। लेकिन उस दिन तुम्हीं ने बतलाया था—महाप्राण गोर्की ने कहा था—संसार में पवित्र मैं केवल एक बात को मानता हूँ। वह है मनुष्य का अपनी उन्नति के प्रति असंतोष।"

"पर उनका यह अभिप्राय तो नहीं है कि उस असंतोष के द्वारा किसी व्यक्ति की सज्जनता से अनुचित लाभ उठाया जाय !" वीरेन्द्र ने चाय का प्याला समाप्त करते-करते कह दिया—"उनका यह अभिप्राय भी नहीं था कि उन्नति के विकास-क्रम में कोई लाभ कभी अनुचित होता है।"

"यहीं तुम गलती कर रही हो हेमा ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि कृतज्ञता, उपकार और आदान से निरन्तर दबा हुआ मनुष्य एक न एक दिन अपनी वह आत्म-निष्ठा भी खो देता है, जो उसके व्यक्तित्व का मूलाधार होती है।"

"मालूम है। साथ ही मुझे यह भी मालूम है कि कोई भी दृढ़ नीतिज्ञ कृतज्ञता, उपकार और आदान के भार को तभी तक स्वीकार करता है, जब तक वह देखता है—मेरी नैतिक आत्म-निष्ठा अभी पूर्ववत् स्थिर है। जिस दिन मैं देखूँगी, तुम मुझको अपने से दूर समझने लगे हो, मैं तुमसे अपना भेद छिपाने को तत्पर हो उठी हूँ, और जेतली साहब की हार्दिकता अब सज्जनता का अंचल छोड़कर पशु-पक्षी का क्रीड़ा-कौतुक बन गयी है, उस दिन सात फ़ायर का" कहते-कहते हेमा ने झट ड्रायर से एक रिवाल्वर निकालकर टेबल पर रख लिया और वाक्य पूरा करते हुए कह दिया—"रिवाल्वर मेरे सीने में ऐसी आवाज़ कर बैठेगा, जिसे सुनकर तुम्हारे कानों के परदे एक बार थरथरा उठेंगे।"

वीरेन्द्र अब उठकर खड़ा हो गया। उसकी मुद्रा अब बहुत गम्भीर थी। एक बार उसके मन में आया—'पता नहीं ग़लती मैंने की है, या अब हेमा करने जा रही है।' एक बार यह भी उसके मन में आया—'क्या ऐसा नहीं हो सकता कि हम पुनः कानपुर लौट जायँ और फिर उसी छोटे मकान के सीमित घेरे में रहकर संसार के दुर्लभ सौख्य की वे निधियाँ खोजें, प्राप्त करें और लुटायें, जो आज सर्वथा सुलभ होकर भी हमारे लिए निरन्तर चिन्तन का विषय बन गयी हैं।'

सन्ध्या के अभी छः नहीं बजे थे कि जेतली साहब का भृत्य आ पहुँचा और जेब से काग़ज़ का एक टुकड़ा निकालकर उसने वीरेन्द्र के हाथ में दे दिया। उसमें लिखा हुआ था—"गाड़ी एक जगह काम से गई है। इसलिए तुरन्त हेमा के साथ रिक्शे पर चले आइए। पिक्चर का प्रोग्राम है। पासेज़ मँगवा लिये हैं।—जेतली।"

चिट पढ़कर वीरेन्द्र ने हेमा के हाथ में दे दी। भृत्य साइकिल से आया था, उत्तर के लिए एक-आध मिनट खड़ा रहा। जब दोनों में से किसी ने कोई उत्तर न दिया, तो उसने पूछा—"साहब से क्या कह दूँ, बाबू ?"

वीरेन्द्र जब कुछ नहीं बोला, तो हेमा ने ही उत्तर दिया—"आज तो जाना नहीं होगा। बाबू अभी-अभी आफ़िस से आ रहे हैं, और मेरी तबियत आज ठीक नहीं है।" इतना कहकर उसने एक बार फिर वीरेन्द्र की ओर देखा, और कह दिया—"इसके जवाब में दो शब्द तुम खुद ही क्यों नहीं लिख देते ?" और तत्काल उसने राइटिङ्ग पैड लाकर उसके सामने रख दिया।

क्षणभर बाद भृत्य जब चिट लेकर चला गया तो वीरेन्द्र बोल उठा—"यह तुमने बहुत अच्छा किया हेमा ! प्रभाव में आकर अथवा कृतज्ञता के भाव से पिसकर जो लोग केवल अनुसरण करने लग जाते हैं, उनका व्यक्तित्व एक न एक दिन नष्ट होकर रहता है। सच पूछो तो यहाँ आकर हमारे ऊपर एक बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी आ गई है। प्रत्येक अगला पद हमें बहुत सँभालकर रखना है। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि हम एक विशेष लक्ष्य को लेकर यहाँ आये हैं। हाँ, आज का दैनिक तुमने देखा था हेमा ? उसके सम्पादकीय स्तम्भ में राजधानी में होने वाले उत्सवों की संस्कृति पर जो टिप्पणी की गई है, वह कितनी युक्तिसङ्गत है !"

हेमा उठकर खड़ी हो गई। बोली—"पढ़ा है। रात-दिन पढ़ती ही तो रहती हूँ। तुमने यह नहीं देखा कि मेरी बातों की जेतली साहब पर कैसी प्रतिक्रिया होती है ?"

दोनों में जिस समय यह बातें चल रही थीं उस समय द्वार के बाहर एक प्रौढ़ा स्त्री खड़ी हुई पुकार लगा रही थी—"वीरेन्द्र बाबू, अरे ओ वीरेन्द्र बाबू, बहूरानी ओ बहूरानी, तनिक किवाड़ तो खोल

जाव। दोनों हँसि-हँसि बताय रहे हैं। हमार गुहार कोऊ नाहीं सुनत।"

इतने में हेमा जब पाइप के पास आई, तो उसने लक्ष किया कोई द्वार पर खड़ा कुछ कह रहा है। तब झट जाकर उसने द्वार खोल दिया। द्वार खुलते ही उस नवागता प्रौढ़ा नारी ने हेमा को देखते ही आशीर्वादमयी भाषा में कहना आरम्भ कर दिया—"सबसे पहले मैं तुम्हें आशीष देती हूँ बहूरानी, दूधों नहाव, पूतौं फलौ। और यहि के बाद हमार यौ कहन कि जिताली साहब हमका भेजिन है, चौका बरतन का काम हम करित है। झाड़ू-बुहारी दोनों बखत। जात तौ हमार ठाकुर का आय, मुला पेट जो न करावै सो थोड़ा।"

हेमा को अपने वे दिन याद हो आये, जब···जब···! बात की बात में सारे दृश्य स्मृति-पट पर मुद्रित हो उठे। यकायक उसकी आँखें भर आईं। उसने उत्तर में तो कुछ नहीं कहा, पर वह यह सोचती रह गई पता नहीं कितने करोड़-अरब आदमी इस सारी सृष्टि में होंगे, जिन्हें केवल पेट के नाम पर नित्य अपना गौरव बेचना पड़ता होगा। पता नहीं कितनी नारियाँ······? और आगे न सोचकर बड़ी कठिनाई से अपने को स्थिर कर हेमा उस नारी का हाथ पकड़कर अन्दर ले आई। थोड़ी-सी मिठाई अब भी बाकी बची रह गई थी। वही उस प्रौढ़ा नारी के सामने रखते हुए उसने कहा—"तुम मेरी माँ के समान हो, इसलिए सबसे पहले जब तुम्हारा आशीर्वाद मुझे मिला है तो जिस काम से आई हो, उसके पहले कुछ मुँह मीठा कर लो। काम फिर बाद में छूना। हाँ, आज से तुम्हें मैं चाची कहूँगी। लेकिन चाची, वैसे तुम्हारा नाम क्या है? और जेतली साहब ने जब तुमको भेजा है तो कोई परचा भी दिया होगा? पर अरे मैं तुमको पानी देना तो भूल ही गई" और इतना कहकर उसने पानी-भरा गिलास लाकर उसके सामने रख दिया।

ठकुराइन बोली—"राम करे तुहार सुहाग अमर होय, भगवान करे तुमका कौनो दुखु कबौं न होय। मुला मिठाई हम हियाँ न खाब। घर माँ याक नातिन है। हमरेहे साथ रहित है। मिठाई तौन वोहीक लै जाब।"

"अच्छा-अच्छा" हेमा बोली—"ठीक है। घर हीं ले जाना।" अब ठकुराइन को याद हो आया वह परचा जो जेतली साहब ने उसे दिया था। धोती के खूँट से खोलकर उसने हेमा को दे दिया। उसमें लिखा था—

वीरेन्द्र भाई,

दासी-कर्म के लिये यह ठकुराइन आ रही है। क्या देना होगा, सो हमसे तै कर लेना।

जेतली

चिट पढ़कर हेमा ने वीरेन्द्र को दे दी। वीरेन्द्र ने पढ़कर उसे जेब में रख लिया, फिर कुछ सोचकर अपने एक ट्रंक में डाल दिया।

जब वीरेन्द्र उस चिट को ट्रंक में डाल रहा था तभी हेमा ने पूछा—"इस ठकुराइन से क्या तै किया जाय ?"

"जो माँगे सो देना स्वीकार कर लो, फिजूल की पंचायत मुझे पसन्द नहीं है।"

हेमा झट लौट गयी। और ठकुराइन के पास जाकर बोली—"ठकुराइन चाची, हमारी मामूली-सी गृहस्थी है और हम केवल दो प्राणी हैं, फिर भी बतलाओ मुझे क्या देना होगा ?"

ठकुराइन मिठाई को धोती के खूँट में बाँधती हुई बोली—"परानी दुय होंय चाहे चार, कुछ परक नाहीं परत। रुपया हम चार लेब। यामें कौड़ी कम न होई।"

हेमा ने उत्तर दिया—"अच्छा-अच्छा ठीक है। मुझे तुम्हारी बात मंजूर है। जाओ काम शुरू कर दो आज से ही।"

ठकुराइन उठके काम में लग गयी।

वीरेन्द्र ने साइकिल उठायी। और दरवाज़े की ओर बढ़ते हुए वह बोला—"मैं एक घण्टे में आता हूँ" और इतना कहकर वह घर से बाहर हो गया।

साइकिल से वीरेन्द्र सीधा उस कोठे में जा पहुँचा, जिसमें जेतली साहब रहते थे। ज्यों ही वह जेतली साहब के पास पहुँचा, त्यों ही उन्होंने पूछा—"आओ वीरेन्द्र, कहो, सब काम ठीक से चल रहा है न ?"

वीरेन्द्र नें कहा—"आपकी कृपा से।"

जेतली साहब ने पूछा—"मकान में इलेक्ट्रिक फिटिंग के लिए मैंने कह दिया था। हो भी गयी है शायद।"

वीरेन्द्र ने उत्तर दिया—"हाँ, हो गयी है आपकी कृपा से।"

अब जेतली साहब ने पूछा—'हेमा को नित्य दासी-कर्म करना पड़ता था, हमारे यहाँ जो ठकुराइन काम करती थीं उसी को मैंने भेज दिया है। शायद गयी भी होगी।"

वीरेन्द्र के मुँह से निकल गया—"हाँ, मेरे घर से बाहर आने से पूर्व वह आ गयी थी। उसने काम भी शुरू कर दिया है आपकी कृपा से।"

इस बार जेतली साहब अपनी प्रतिक्रिया न सँभाल सके। और बोले—"देखो वीरेन्द्र, मुझे ग़लत समझने की कोशिश मत करो। यह बात-बात में कभी पहले कभी बाद में यह जो तुम कह रहे हो 'आपकी कृपा से, आपकी कृपा से,' कृतज्ञता के इस मौखिक विज्ञापन से मैं ऊब गया हूँ।"

वीरेन्द्र ने उत्तर दिया—"और मेरी स्थिति यह है कि मैं आपकी सहृदयता, सज्जनता और उदारता से ऊब गया हूँ। मैं निरन्तर यही सोचा करता हूँ कि मेरा इस जीवन में आपके ऋण से कैसे उद्धार होगा।"

बहुत दिनों के बाद एक सिगरेट सुलगाते हुए जेतली साहब बोले—

"पागल मत बनो वीरेन्द्र, मैंने तुम्हारे साथ कोई ऐसा उपकार नहीं किया, जिसके लिए कभी तुम्हें ऋणी बनने की बात सोचने की आवश्यकता हो। मुझे तुम लोगों की जोड़ी बहुत पसन्द आयी। क्यों पसन्द आयी ? यह मैं नहीं कह सकता। मैं शायद जानता भी नहीं हूँ। और अगर जानता हूँ, तो उसकी व्याख्या नहीं कर सकता। मैं यह कभी न चाहूँगा कि तुम मेरे लिए कभी कुछ करो, बल्कि अगर कभी तुमने कुछ करने की चेष्टा की तो उससे मुझे क्लेश ही होगा।"

वीरेन्द्र चुप रह गया। टेबिल पर एक पेन्सिल पड़ी थी। उसे उलटकर झूठ-मूठ टेबिल पर रोमन लिपि में हेमा, हेमावती, हेमाङ्गिनी, हेमलता, हेमकुमारी लिखता-लिखता वीरेन्द्र बोल उठा—"मुझसे कभी कोई ग़लती हो जाय तो मेरा ख्याल है आप मुझे स्पष्ट बतला तो देंगे?"

जेतली साहब मुस्कराने लगे। सिगरेट का दूसरा कश लेते हुए वे बोले—"ग़लती तो तुम नहीं करोगे यह मैं जानता हूँ, लेकिन ग़लतफ़हमी तुमसे हो सकती है। हाँ, अच्छी याद आयी आज। हमने सिनेमा का प्रोग्राम बनाया था पर तुमने मना कर दिया। क्या तबियत खराब है हेमा की ? मैं उसे देखने के लिए डाक्टर को साथ ले चलूँ ?"

संकुचित और अप्रतिभ वीरेन्द्र नें उत्तर दिया—"सच पूछिये तो तबियत को तो कुछ नहीं हुआ, पर मुझे इस समय हेमा को साथ लेकर आपके साथ चलने में कुछ असुविधा जान पड़ी। दिनभर आफ़िस में माथापच्ची करने के पश्चात् हममें इतनी शक्ति ही कहाँ रह जाती है कि सायंकाल किसी मनोरंजक कार्य-क्रम में सम्मिलित हो सकें? पर यही बात मुझे कल मालूम होती तो आज हम लोग इस समय बिल्कुल तैयार मिलते। फिर इस समय तो ठकुराइन के आ जाने से हमें जो सुविधा प्राप्त हुई है उसकी उपेक्षा हम कर ही कैसे सकते ? इसलिए यदि आपको कोई कष्ट न हो तो कल शाम की चाय हमारे यहाँ रही। कल

शनिवार भी है। हाफ़ डे होने के कारण हमें सुविधा भी रहेगी और सिनेमा के पासेज़ की तारीख बदलवाने में यदि आपको कोई संकोच न हुआ तो हम सिनेमा को भी चल सकेंगे।"

सिगरेट की छोटी सी टुकड़ी को ऐश-ट्रे में कूँचते हुए जेतली साहब बोले—"अच्छा-अच्छा मैं आऊँगा। जो हो तुम्हारे स्वभाव की यह स्वच्छता मुझे पसन्द आयी वीरेन्द्र। इस तरह की छोटी-छोटी बातें मैं कभी अपने मित्रों को नहीं समझा पाता। इसीलिए कभी-कभी उनके अविश्वास का पात्र भी बन जाता हूँ। काश, मैं तुम्हारे जैसा स्वभाव बना सकता।"

"आप तो मुझे लज्जित कर रहे ह।" वीरेन्द्र के मुँह से निकल गया। और वह कुर्सी से उठकर चलने ही वाला था कि जेतली साहब बोले—"ठहरो।" और इतना कहकर पास रक्खी हुई टोकरी खोलते हुए पाँच-छ: संतरे निकालकर वीरेन्द्र को दे दिये।

वीरेन्द्र बोला—"गजब करते हैं आप साहब। फिर मुझे ही बात कहनी पड़ेगी कि मैं आपके ऋण से कैसे मुक्त हूँगा।" और वह—— जब द्वार की ओर चलने लगा तो जेतली साहब उसके पीछे हो लिये और बोले—"तुम मेरे जीवन से परिचित नहीं हो वीरेन्द्र! अन्यथा जिस ऋण की बात तुम निरन्तर सोचा करते हो, उसके चुकता करने की बात सोचने में भी तुम्हें संकोच होता।"

वीरेन्द्र ने संतरे साइकिल की टोकरी में रख लिए और उसके मुँह से निकल गया—"आप मेरे लिए कल्पवृक्ष हैं।"

अब जेतली साहब अपने आपको अभिव्यक्त किये बिना न रह सके। वे बोले—"मैं वृक्ष नहीं, राजपथ का वह ठूँठ हूँ, जो कुछ वर्षों तक केवल इसलिए चुपचाप खड़ा रहता है कि यदि किसी भूखे अभावदृष्टि पथिक को अपने पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए कुछ लकड़ी की

आवश्यकता हो, तो वह उसके मन में यह प्रेरणा उत्पन्न कर दे कि जब चाहे तब वह उसको क्षत-विक्षत भी कर सकता है। प्रत्येक प्रहार पर वह यही समझेगा, यही मेरा सदुपयोग है और यही मेरी मुक्ति का मार्ग।"

अब साढ़े छः बज रहे थे। सांध्य प्रकाश की स्पष्ट छाप दिशि-दिशि पर विद्यमान थी। वीरेन्द्र ने इस बार जो जेतली साहब की ओर दृष्टि डाली तो देखा उनके नयन बोल रहे हैं, उनकी आँखों में आँसू छलक आये हैं।

: ३६ :

जब से प्रदीप की सम्पत्ति का सर्वनाश हो गया था, तब से कुञ्ज-बिहारी के मन में प्रदीप के प्रति एक उपेक्षा की भावना ने घर कर लिया था। वह कभी उसका नाम न लेता। अरुणा इसको बराबर लक्ष कर रही थी। अन्त में एक दिन उसने कुञ्जबिहारी से कह ही दिया—"जान पड़ता है, आजकल प्रदीप जी से तुम्हारा मिलना-जुलना नहीं होता दद्दा।"

कुञ्जबिहारी ने स्पष्ट कह दिया—"अब उनमें ऐसा दम ही क्या रह गया है, जो उनसे कोई काम निकल सके। देखती नहीं हो, सड़क पर चट्टियाँ चटकाते पैदल घूमा करते हैं।"

अरुणा को कुञ्जबिहारी का यह उत्तर सुनकर एक आघात लगा। वह उससे ऐसे उत्तर की कभी आशा न करती थी। घृणा की घृणा उसके मन में भर गयी। उसने उसे चुपचाप सुन भर लिया। अपना कोई मनोभाव उसने प्रकट नहीं किया। यह भी नहीं कहा कि यह तुम कह क्या रहे हो दद्दा!

तब कुञ्जबिहारी आप ही बोल उठा— "जो लोग भावुकता में आकर रिश्तों, नातों और आत्मीय-सम्बन्धों की लकीर पीटा करते हैं, मैं उनको बेवकूफ समझता हूँ। समय के साथ जो मनुष्य नहीं बदलता, समय स्वयं उसे पीछे छोड़ देता है। मुझे मालूम है कि प्रदीप जी को काँग्रेस का टिकट मिल गया है और यह एक ऐसा अवसर है कि अगर वे चाहें तो उनकी स्थिति सँभल सकती है। लेकिन वे आदर्शवादी व्यक्ति हैं और आदर्शवादी व्यावहारिक नहीं होता। अपनी भावुकता से वह अपना ही अनिष्ट कर डालता है। प्रदीप जी को चाहिये कि सबसे पहले वे अपनी स्थिति सुधारें अन्यथा काँग्रेस टिकट से खड़े होने पर भी उनकी हार निश्चित है। और कुञ्जबिहारी उस आदमी का साथ कभी नहीं देता, जिसकी हार निश्चित होती है। वह साथ देना जानता है लेकिन उसका, जो विजेता होता है। इसीलिए तुम्हारे सम्बन्ध में भी मैंने फिर आगे उनसे कुछ कहना उचित नहीं समझा। अपनी प्रतिष्ठा-हानि के कारण जो काम वे कर नहीं सकते, उसके लिए उनसे विनय करना मुझे उचित नहीं जान पड़ा।"

अरुणा को तब कुछ ऐसा प्रतीत हुआ मानो भाई के सामने इस विषय में मौन रहकर वह प्रकारान्तर से समाज के उस वर्ग का समर्थन करने जा रही है, श्वान-वृत्ति की भाँति वैभव और ऐश्वर्य के पीछे-पीछे लगे रहना जिसका स्वभाव बन गया है। उसने कहना चाहा— "जान पड़ता है कि तुम्हारी जगह कोई ऐसा आदमी बोल रहा है जो किसी मिल-मालिक का एजेण्ट हो। धनी-मानी समाज की प्रशंसा करके अपनी पाँचों घी में रखना जिसका पेशा बन गया हो।" किन्तु यह सोचकर कि कहीं बुरा न मान जाय, प्रसंग बदलकर वह बोल उठी— "यही वह समय था जब मेरा भविष्य बन सकता था। ख़ैर कोई बात नहीं। यद्यपि जो समाचार मिल रहे हैं उनसे तो यही ध्वनि निकलती

है कि अकस्मात् सारी सम्पत्ति स्वाहा हो जाने पर भी उनके चाचा ने बाज़ार में अपनी साख स्थिर रखकर बड़ी बुद्धिमत्ता और वीरता का काम किया है। इससे उनकी मान-मर्यादा घटी नहीं, बढ़ गयी है और कई ऐसी पार्टियाँ पैदा हो गयी हैं जो उनके लिए लाखों का माल उठा देने को तैयार हैं।" अपनी हार्दिक उपेक्षा प्रकट करते हुए कि अरुणा के इस कथन का कुञ्जबिहारी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, उत्तर में वह बोला—"तुमको कुछ नहीं मालूम है अरुणा! बाज़ार के समाचारों पर सहसा विश्वास कर लेना, हवा में किले खड़े कर लेने के समान है। जब तक काँग्रेस टिकट से खड़े होकर प्रदीप जी सदन में चले नहीं जाते, तब तक बाज़ार में किसी पार्टी का उन्हें कोई अवलम्ब नहीं मिल सकता।"

बारम्बार अरुणा प्रयत्न करती थी कि उसे प्रदीप के पक्ष में कुछ कहना नहीं चाहिये पर कुञ्जबिहारी बात ही ऐसी कह देता था कि अरुणा को उत्तर देने के लिए विवश हो जाना पड़ता था। अत: उसने कह दिया—"तो दद्दा, क्या तुम भी उसी आदमी को मान देना जानते हो जिसे समाज के धनी-मानी लोग मान देते हैं? क्या इसका मतलब यह नहीं है कि तुम प्रवाह और धारा के साथ बहते जाना पसन्द करते हो? ग़लत होने पर भी उसे रोकने या नया मोड़ देने का साहस तुम में नहीं है। मुझे तो ऐसा लगता है कि चुनाव के समय तुम प्रदीप का साथ देने के बजाय, उनके विरोधी पक्ष में दिखलायी पड़ो तो आश्चर्य नहीं।"

अरुणा की बात सुनकर कुञ्जबिहारी ठट्ठा मारकर हँस पड़ा, और बोला—"जग में सबसे बड़ा रुपैया, बाप बड़ा न भैया।" कुञ्जबिहारी के इस कथन के पश्चात् अरुणा जल उठी और बिना कुछ कहे उठकर वहाँ से चल दी। उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

इसके एक सप्ताह बाद की बात है। अरुणा ने देखा अभी सात नहीं

बजे हैं और दद्दा के कमरे में बड़ी चहल-पहल है। रामराज्य परिषद् की ओर से खड़े होने वाले नेता श्री रामप्रताप जी के नाम के हज़ारों टिकटों की गड्डियों का ढेर सामने लगा हुआ है। एक साहब टेबिल पर रखी हुई ऐशट्रे में सिगरेट की बाक़ी बची हुई टुकड़ी डाल रहे हैं। दूसरे साहब कश पर कश लगा रहे हैं। कभी-कभी कमरे में एक अट्टहास का स्वर गूँज उठता है, और कभी-कभी कुछ ऐसे वाक्य भी सुनायी पड़ जाते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि काम वास्तव में बहुत उत्साह के साथ हो रहा है। जैसे—"खाओ यार, तुम भी क्या कहोगे कि किसी अमीर से पाला पड़ा था।" कमरे में अब सौ कैंडल पावर का बल्ब लग गया था और एक नया रेडियो सेट दद्दा ने लाकर भाभी के कमरे में फिट कर दिया था। दूसरे दिन दद्दा ने अपने कमरे में टेलीफोन भी लगवा लिया। एक साथ वातावरण के इस परिवर्तन ने अरुणा के मानस को इतना अस्थिर कर दिया कि उसका घर में रहना दुष्कर हो उठा।

अब कुञ्जबिहारी ने अपने आफ़िस से छुट्टी ले ली थी, इसलिए दौड़-धूप करने अथवा चुनाव कार्यालय में बैठने की स्वतन्त्रता उसे प्राप्त थी। एक कार उसकी व्यवस्था के अनुसार सदा दरवाज़े पर खड़ी रहती। मकान के पास एक जलपान-गृह था। दिनभर में साधारण रूप से तीन बार चाय और उसकी कम्पनी वहाँ से बुला ली जाती। उसके पास जो तमोली की दुकान थी, उसके यहाँ से लगे-लगाये पान चले आते। कार्यकर्त्ता लोग काम करते-करते जब एकदम से शिथिल पड़ जाते तो उन्हें फूलबाग घूमने की सूझती। जो अपने घर के फालतू नहीं थे, वे तो आठ बजते ही अपने घर की राह पकड़ते। किन्तु जो इस अवसर का पूरा-पूरा शोषण करना चाहते थे, वे सैर-सपाटे के कार्यक्रमों में सदा आगे रहते। फूलबाग की सैर के सिलसिले में प्रायः सिनेमा का कार्यक्रम बन जाता और परिणाम यह होता कि एक छोटा-मोटा

मुसाफ़िरखाना कुञ्जबिहारी के कमरे में रात के बारह-एक बजे फिर आबाद हो जाता।

एक दिन जब कुञ्जबिहारी इधर-उधर से घूमकर लौटा, तो वह अपने चुनाव-कार्यालय में न जाकर सीधा अरुणा के पास आकर बोला—"मुझे मालूम हुआ है कि तुमने प्रदीप की ओर से कन्वेंसिंग करना शुरू कर दिया है और चुनाव-सभाओं का सङ्गठन, नेताओं का आवागमन, उनके स्वागत-सत्कार की व्यवस्था और इस सिलसिले में उनसे स्वतन्त्रतापूर्वक मिलना-जुलना प्रारम्भ कर दिया है। मुझे यह भी पता चला है कि तुम इस कार्य के सिलसिले में जेतली साहब की बैठकों में भी योग देने लगी हो। यह सब बातें मेरी प्रतिष्ठा में बट्टा लगाने वाली हैं। ऐसा ही था तो तुमने मुझसे पहले क्यों नहीं कहा, मैं रामप्रताप जी से तुमको मिलवा देता। अगर मैंने सुना कि कल से तुमने अपना रवैया नहीं बदला, तो इसका क्या परिणाम होगा, यह तुम जानती हो!"

कुञ्जबिहारी की इस बात को सुनकर अरुणा सन्न रह गई।

जब कुञ्जबिहारी ने देखा कि अरुणा ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। तब वह अपनी कलाई-घड़ी देखता बोल उठा—"अब रात के दस बज रहे हैं, और हमारे कमरे में भी कई लोग बैठे हुए हैं। मैं स्वयं भी इस मामले में, कम से कम इस समय, और कुछ कहने को तैयार नहीं हूँ। लेकिन इस बात का उत्तर कल सवेरे आठ बजे तक मैं जरूर चाहता हूँ, और इसके लिए तुम्हें रात-भर का समय देता हूँ।"

तब रात भर रोती रही अरुणा। रोते-रोते उसकी आँखें सूज गईं। क्या करे, क्या न करे! कुछ भी उसकी समझ में नहीं आ रहा था। जिस प्रकार का एकाकी जीवन वह बिता रही थी, वही उसकी अन्तरात्मा के लिए एक क्रन्दन बन गया था। पर कुञ्जबिहारी के इस

कथन के बाद तो वह उसके साथ किसी प्रकार रह ही न सकती थी। तब और उपाय न देख वह प्रातःकाल ही घर से बाहर निकल गई और आठ बजते-बजते सोसायटी के कार्यालय में पहुँचकर रंजना से जा मिली।

इस मिलन का एक आधार बड़ा मनोवैज्ञानिक था। अरुणा को किसी प्रकार यह मालूम हो गया था कि गोपीलाला अब प्रदीप के साथ रञ्जना का वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। यह एक ऐसी स्थिति थी कि अरुणा सोचती थी मुझे रञ्जना से मिलना ही चाहिए।

रञ्जना की मनःस्थिति अरुणा की अपेक्षा अब भी बहुत कुछ स्थिर बनी हुई थी। पिता ने अब प्रदीप के साथ उसका विवाह करने का विचार भले ही त्याग दिया हो, किन्तु वह इतना समझती थी कि प्रदीप के मन में उसने जो जगह बना ली है, वही उसकी एक चिरस्थायी आश्रयभूमि है। और इतना क्या कम है कि उस पर टिके रहने का अवसर कोई उससे छीन नहीं सकता ?

अरुणा जब उससे मिलने आयी, तो उसे आश्चर्य इसलिये और भी नहीं हुआ कि बुद्ध-दिवस मनाने की सूचना उसे दी जा चुकी थी और इस विषय में निश्चयात्मक बातें करनें के लिए उसका उससे मिलना सर्वथा स्वाभाविक था।

सामने पड़ते ही अरुणा बोली—"प्रदीप दद्दा के यहाँ फ़ोन हट जाने के कारण उनसे मिलना-जुलना दुष्कर हो गया, उससे सोसायटी के कार्य-क्रम तै होने में कठिनाई होती होगी, यह मैं जानती हूँ।"

रञ्जना ने रजिस्टर सामने रखते हुए कह दिया—"देख न लो, सूचना पर हस्ताक्षर शीला के हैं। अगर उसे उनको सूचित करने का ध्यान न रहा, तो हमारी स्थिति कितनी चिन्त्य हो जायगी।"

अरुणा ने उचटते हुए मन से कह दिया —"हाँ हो जायगी।" अब भी रञ्जना की समझ में नहीं आ रहा था कि आज अरुणा इतनी शिथिल तथा उल्लासहीन क्यों है ? तब उसके मुँह से निकल गया— "लेकिन इस बात की ओर हमारा ध्यान क्यों नहीं जाता कि वे इन दिनों कितन संकट से गुज़रे हैं !"

तब एक निःश्वास लेते हुए अरुणा के मुँह से निकल गया—"संकट में गुज़रने वाले लोगों की दुनिया में कमी नहीं है रञ्जना !"

एक प्रदीप ही नहीं, रञ्जना भी है। रञ्जना ही नहीं, अरुणा भी है। बात कहती-कहती अरुणा जो रञ्जना की आँखों की ओर देखने लगी तो स्वयं उसी का कण्ठ भर आया। बात की बात में दोनों परस्पर लिपटकर रो पड़ीं। अन्त में रात हुई। भाई की बातें सुनाती-सुनाती अरुणा बोली—"अच्छा रञ्जना, अगर एक बात मैं तुमसे पूछूं, तो...... ?"

रञ्जना की आँखों में अब भी मोती झलक दे रहे थे। इसलिए अरुणा और आगे कुछ न कह सकी। कुछ ऐसी बात है कि जब हृदय अपना भेद बतलाने की भाषा नहीं पाता, तब नयन आप ही आगे बढ़कर उसका भेद खोल देते हैं। हाँ, तो जब अरुणा बात कहती-कहती रुक गई, तो रञ्जना बोल उठी —"तुम्हें जो कुछ भी कहना हो, कह जाओ दीदी। यह मत सोचो कि उसे सुनकर मुझे कैसा लगेगा ! मैं अपने इन प्राणों की शपथ लेकर कहती हूँ, तुम आज अपना कोई भेद मुझसे छिपाओ मत। क्योंकि एक बात निश्चित है कि जो सफलता मुझे नहीं मिली, मैं उसके लिए तुम्हारा मार्ग कभी न रोकूँगी। पावन मानवता के नाम पर यह कलंक मैं अपने ऊपर कभी न आनें दूँगी। अमृत का जो कलंक मुझे मिलता-मिलता रह गया, अपनी दीदी को भी मैंने उससे वंचित कर दिया—केवल ईर्ष्या-द्वेष में पड़कर—केवल अपने हृदय की ज्वाला शान्त करने के लिए।"

अब अरुणा के रुद्ध हृदय का बाँध टूट गया। सिसकियाँ ले ले सहस्र अमृत-धार बरसाती हुई वह बोली—"अगर कभी ऐसा अवसर आये रञ्जना कि यह दुनियाँ मेरी नारीसुलभ लज्जा की मर्यादा भंग करने लगे तो तुम इतना उससे कह देना—अरुणा अभी मरी नहीं है। अरुणा अभी जीवित है। वह जगज्जननी जाह्नवी की गोद में अब भी खेल रही है—अब भी हँस रही है।"

तब रञ्जना बोल उठी—"ऐसा मत कहो दीदी। ऐसा मत कहो। प्रदीप दद्दा तुम्हारे ही होकर रहेंगे, तब भी मैं यही समझूंगी, वे मेरे हैं। उनकी वाग्दत्ता होने का मेरा गौरव तो कोई मुझसे छीन पायेगा नहीं!"

तब आँसू पोंछती और धीरे-धीरे वहाँ से चलती हुई अरुणा बोली—"मैं जानती थी, तुम ऐसा ही बल देकर मेरी रक्षा करोगी।"

: ३७ :

प्रदीप एक तमोली की दुकान पर खड़ा पान खा रहा था और रञ्जना अपने भाई के साथ बाज़ार से कुछ कपड़े खरीदकर लौट रही थी। निकट आते ही उसने रिक्शा खड़ा करवाकर, बण्डल की ओर संकेत करते हुए, भाई से कह दिया—"इसे लिए हुए मैं कहाँ जाऊँगी, तुम यहीं बैठो। मैं अभी आयी।" और इतना कहकर वह प्रदीप के बराबर जा खड़ी हुई। बोली—"काँग्रेस टिकट पर खड़े होने के लिए मैं आपको बधाई देती हूँ।"

प्रदीप जैसे चौंक पड़ा हो! बोला—"अरे, रञ्जना तुम हो! मगर यह बधाई मुझे कैसी! यह तो वास्तव में तुम अपने को दे रही हो।

तुम्हीं लोगों की दौड़-धूप का तो मुझे भरोसा है।"

रञ्जना कुछ संकुचित हो उठी। बोली—"मैं सदा सेवा के लिए तत्पर हूँ। मगर एक बात शायद आप नहीं समझ रहे हैं। नगर में इस बात की बड़ी चर्चा है कि इस समय भले ही कोई सेठ सामने खड़ा नज़र आये। यह भी हो सकता है, कोई कम्यूनिस्ट ही आपके विरोध में खड़ा दिखलाई पड़े। पर अन्त में आप निर्विरोध जाएँगे। अभी आपको इस बात पर भले ही विश्वास न हो, पर देख लीजिएगा, अन्त में होगा यही।"

प्रदीप पान लेकर रञ्जना को देने लगा और बोला—"राजनीति में केवल उद्देश्य निश्चित रहता है। पर मार्ग और साधन के सम्बन्ध में पहले से सब कुछ निश्चित होने पर भी उनकी प्रणालियाँ और प्रकार सर्वथा क्षणस्थायी होते हैं। उनकी गति-विधि काल के पदक्षेप तै किया करते हैं। इसलिए अवसर आने पर भी पूर्वनिश्चित कार्य-क्रम बदलने पड़ते हैं।...लो, पान तो खाओ।"

तब हँसती हुई रञ्जना बोली—"आप जानते हैं, मैं पान नहीं खाती।"

"ओ! मैं भूल ही गया था। बहुत दिन हो गए कहीं भेंट न हो सकी। बहुतेरे लोग हैं, जो नित्य न सही, पर दूसरे-तीसरे कहीं-न-कहीं मिल जाते थे। आजकल वे सब भी......। अकेली हो क्या?"

रञ्जना ने दायें ओर मुड़कर हाथ उठाते हुए संकेत से बतला दिया—"रिक्शा पर छोटा भाई वह बैठा है।"

तब प्रदीप बोल उठा—"अच्छा, अच्छा, ठीक है।...पढ़ाई से अब तो छुट्टी पा चुकी होगी?"

रञ्जना संकोच में पड़ गयी। जी में आया, कह दे—"माना कि पढ़ाई से छुट्टी मिल गयी, पर इससे क्या? आप भी तो मेरे घर पर कभी पधारने की कृपा नहीं करते।" पर वह ऐसी बात कहना नहीं

चाहती थी, जिससे उपालम्भ की गन्ध फूट पड़े। फिर उसे उस दिन की बातों का स्मरण हो आया, जब वह जेतली साहब के यहाँ गयी थी। वहाँ वीरेन्द्र और हेमा पहले से जमे हुए थे। उस समय वहाँ का वातावरण कुछ ऐसा मनमोहक था कि वह कई दिनों तक सोचती रह गयी थीं—"क्या जीवन को संगीत नहीं बनाया जा सकता ?"

इतने में प्रदीप बोल उठा—"तुमने कदाचित् लक्ष किया हो, हमारा समाज कितना आगे बढ़ रहा है ! उस दिन अरुणा ने अपने वार्तालाप में कुछ ऐसी बातें भी कह डाली थीं, जिनसे सिद्ध होता था कि वह विवाह के लिए बिल्कुल उत्सुक नहीं है।"

इधर अरुणा में उत्तरोत्तर एक परिवर्तन होता चला जा रहा था। वह यह कि कभी-कभी वह अपनी वास्तविक स्थिति छिपाने के लिए ऐसे काम कर बैठती थी, जिससे वह स्वयं सहमत न रहती थी। उस दिन भी कुछ ऐसी ही बात हुई थी। वह केवल यह देखना चाहती थी कि देखें, प्रदीप पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है।

रञ्जना फिर संकुचित हो गयी। उसकी समझ में नहीं आया कि प्रदीप की इस बात का वह क्या उत्तर दे।

तब प्रदीप ने इस प्रकरण को वहीं विलय करते हुए कह दिया कि तुम्हें स्मरण होगा, उस दिन हेमा ने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा था—

"समाज से आदर-सम्मान की उसे क़तई इच्छा नहीं है। इसीलिए निमन्त्रण मिलने पर भी वह किसी सार्वजनिक समारोह में नहीं आती। लोग इसका अर्थ यह लेते हैं कि सार्वजनिक भोजों और उत्सवों पर आकस्मिक मर्यादाभंग के अवसरों से बचने के लिए इस नीति का अवलम्बन सचमुच उपयोगी है। वे यह भूल जाते हैं कि जैसे कला के क्षेत्र में किसी नर्तकी के नैतिक स्तर का प्रश्न नहीं उठता, ठीक

उसी प्रकार सभ्यता के सतत विकासशील अहर्निशि प्रवहमान जीवन में उन विवशताओं का कोई भी अनैतिक मूल्य नहीं होता, जिनसे मनुष्य की एक जाति की जाति ही आहत, रुग्ण और मर्यादाहीन बन जाती है।"

प्रदीप के इस कथन पर रञ्जना कुछ संशय में पड़ गयी। उसकी समझ में नहीं आया कि यह बात इस समय इनके मन में उठी क्यों? तब कुछ हँसती-सी वह बोल उठी—"लेकिन इन सब बातों पर विचार करने के लिए...... ।"

"निश्चय ही यह उपयुक्त स्थल नहीं है।" बात को बीच से ही पूरा करते हुए प्रदीप जो बोला, तो रञ्जना ने रूमाल मुँह से लगाते लगाते कह दिया—"आपको पता है, सोसायटी के कार्यालय में कल सन्ध्या समय छः बजे जो बुद्ध-दिवस मनाया जायगा उसमें प्रमुख भाषण आपको ही देना है?"

"मुझे ऐसी कोई सूचना नहीं है।" प्रदीप ने सहज भाव से उत्तर दे दिया।

"सूचना-पुस्तक पर शीला जी के हस्ताक्षर हैं। आप उस समय घर पर उपस्थित न थे।"

"हो सकता है। पर भाषण की बात तो मुझसे मिलकर पहले से तै कर लेनी चाहिए थी?"

"आप घर पर उपस्थित न मिलें तो किया क्या जाय! फ़ोन की सुविधा भी तो अब आपके यहाँ नहीं रह गयी!"

प्रदीप के मर्म-स्थल पर पुन: जैसे किसी ने बाण मार दिया हो। बिना यह विचार किए कि वह क्या कह रहा है, किससे कह रहा है, प्रतिक्रिया में पड़कर उसके मनोभावों की कैसी भाषा बन रही है, वह बोल उठा—"तो भाषण के लिए तुम किसी बड़े आदमी को बुला लो रञ्जना, जिसके पास अपना प्रेस हो, अपना पत्र हो, अपनी गाड़ी और फ़ोन हो। मेरे

पास ऐसा कोई वैभव नहीं । मेरी व्यक्तिगत उलझनें भी कम नहीं हैं । मेरा क्या ठीक मुझे समय मिला मिला, न मिला न मिला ।"

प्रदीप का यह उत्तर सुनकर रञ्जना स्तब्ध हो उठी । उसने कभी कल्पना भी न की थी कि उसकी बात का वे यह अर्थ लगा लेंगे । पर प्रदीप के शब्दों में जो वेदना छिपी हुई थी, रञ्जना एक बार उससे मर्माहत हो उठी ।

इतने में नम्बर दो की बस आ गयी और प्रदीप झट आगे बढ़कर उस पर जा बैठा । रञ्जना के मन में आया कि वह तुरन्त उसके निकट जाकर कह दे—"मेरी बात का जो अर्थ आपने लगा लिया, उसकी मुझे आपसे कतई आशा न थी । मुझे यह भी नहीं मालूम कि मेरी सीमा में आ सकने वाला आपसे अधिक बड़ा आदमी मेरे लिए इस संसार में कौन है, फिर उन लोगों के वैभव का मेरे सामने मूल्य भी क्या है, जिसका उपयोग सार्वजनिक सेवा के लिए न होकर व्यक्तिगत प्रचार, प्रदर्शन और कोरी शान दिखलाने के लिए होता है । संयोग से पहले आपसे भेंट न हो सकी, पर अब तो मैं आपसे विनयपूर्वक कह रही हूँ । यदि आप इस अवसर पर न आये, तो मुझे बड़ा दुःख होगा ।"

पर इतने में बस चल दी और रञ्जना अपनी बात कह भी न सकी । इस अवसर पर एक बार यह भी उसके मन में आया—"क्या इसी प्रकार मैं अपने मन की कोई बात कभी इनसे न कह पाऊँगी ?" मूढ़ की भाँति वह क्षणभर वहीं खड़ी रही, फिर धीरे-धीरे अपने रिक्शे की ओर चल दी ।

सन्ध्या समय जब प्रदीप आर्य नगर से अपने घर लौट रहा था, उसे बस-स्टाप के रास्ते में ताँगे पर जाती हुई अरुणा दिखलायी पड़ी । तदनन्तर अरुणा की दृष्टि भी प्रदीप पर जा पहुँची और फलतः वह तांगा मोड़कर प्रदीप के पास आ खड़ी हुई ।

अरुणा ने देखा—प्रदीप ने आज शेव नहीं किया है। कपड़े भी एक दिन के पहने हुए हैं। न्यूकट ब्राउन जूतों पर वह चमक नहीं है, जो गाड़ी से उतरते क्षण प्रायः दिखलायी पड़ती थी। तब वह सोचने लगी—यही वह समय है, जब मुझे आगे बढ़ना चाहिए। यही वह अवसर है, जब मुझे अपने जीवन का मार्ग तै कर लेना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि ये रञ्जना से प्रभावित होकर उसकी ओर खिंच जायँ। यद्यपि अपनी व्यावसायिक नीति के कारण गोपीलाला एक बहुत बड़ी मनोवैज्ञानिक भूल कर बैठे हैं पर उनकी नीति का रञ्जना के प्रणय-सम्बन्ध पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। अतः प्रदीप के निकट पहुँचती हुई वह बोली—"तबियत तो ठीक है ?"

प्रदीप ने उत्तर में कुछ न कहकर किंचित् मुसकरा भर दिया।

तब डार्क चश्मे के भीतर से उसकी आँखों में आँखें डाल आप ही अरुणा बोल उठी—"बहुत दिनों बाद दिखाई पडे हो। इसलिए हो सकता है कि मुझे ही कुछ भ्रम हो रहा हो। पर जान यही पड़ता है, जैसे कहीं कुछ गड़बड़ हो गया है।"

अब प्रदीप को बोलना पड़ा—"कहीं से कुछ भी गड़बड़ नहीं हुआ है अरुणा ! और पारिवारिक श्रीसमृद्धि में कुछ आकस्मिक उलट-फेर के कारण मनके ऊहापोह यदि चेहरे पर आ भी गये हों, तो भी चिन्ता की कोई बात नहीं। इतिहास में ऐसे संकट सभी महापुरुषों पर आ पड़े हैं। फिर भी उन संकटों को सहन करते-करते उन्होंने अन्त तक अपना गौरव अक्षुण्ण ही बनाये रखा है। मैं उनके सामने कोई चीज़ नहीं हूँ। मैं अभी से ऐसा कोई दावा भी नहीं कर सकता। समय अपने आप सब बतला देगा।"

तब हँस पड़ी अरुणा और कहने लगी—"सो तो वह अभी से बतला रहा है। जिसने बाजार के ऋण से तत्काल मुक्ति पाने के लिए अपनी

सारी सम्पत्ति एक दिन के अन्दर लुटा दी हो, उसके गौरव को कभी हानि पहुँच नहीं सकती, यह मेरा अटूट विश्वास है। लेकिन यहाँ खड़े क्यों हो ? चलो, घर ही जा रही हूँ। कल बुद्ध दिवस के उपलक्ष्य में लाउड स्पीकर तै करने आयी थी।"

तब प्रदीप बिना कुछ कहे अरुणा के ताँगे पर बैठ गया। रास्ते में एक बार अरुणा ने कहा—"और तो सब उचित ही हुआ, पर मुझे ऐसा जान पड़ता है, फ़ोन हटाकर आपने हम लोगों के साथ अन्याय किया है।"

"काल किसी के साथ न न्याय करता है, न अन्याय।" प्रदीप जब उत्तर देने लगा, तब अरुणा इधर-उधर से ध्यान हटाकर केवल उसके मुँह की ओर देखती रही। बात करते समय ऐसा कुछ प्रतीत नहीं होता कि दुःख की घनी छाया ने कहीं इन्हें छू भी पाया हो। कभी-कभी भृकुटियों की पतली नोक कुछ कहती जान पड़ती है और नासिका के ऊपर यह जो गाँठ सी बन जाती है वह तो एक सफल विद्रोही का लक्षण है।

प्रदीप बराबर कहता चला गया—"मानवी सहानुभूति का जहाँ तक सम्बन्ध है, सभी आत्मीय बन्धु मुझ पर आये संकट की बात सुनकर दुःखी हुए होंगे। किन्तु एक बात तो मानोगी अरुणा कि मानवता नाम की वस्तु—एकदम निष्क्रिय नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ लोग—अधिक नहीं तो दो ही एक—ऐसे होते हैं, जो केवल कुछ शब्द-व्यय करके शान्त नहीं हो जाते। क्रियात्मक रूप से भी कुछ-न-कुछ करते हैं। पर हमारे बीच तो दुर्भाग्य से ऐसे-ऐसे आत्मीय लोग हैं, जो इस संकट को अपने लिए एक व्यावसायिक सुअवसर मानने में ज़रा भी नहीं हिचके। मेरी समझ में नहीं आता कि हमारा समाज उत्तरोत्तर जिस दिशा की ओर बढ़ा चला जा रहा है, सभ्यता वहाँ साँस किस तरह लेगी। ऐसे विषैले वातावरण में पहुँचकर उसका दम घुट जायगा।

उत्तर में अरुणा कुछ कहने जा रही थी कि इतने में उसका घर आ गया। प्रदीप का घर उससे भी आगे पड़ता था। अत: जब ताँगे पर से अरुणा के उतरने का अवसर आया तो वह बोली—"चलो, अब दस-पाँच मिनट को मेरे यहाँ भी होते चलो। कुछ ठीक है! एक जमाना बीत गया और कभी ऐसा अवसर न आया कि रास्ता भूलकर ही कभी मेरे द्वार पर आ खड़े होते।"

बात का प्रकार समझकर प्रदीप अवाक् हो उठा।

एक फीकी मुसकराहट के अनन्तर वह गम्भीर हो गया और उभरते नि:श्वास को दबाता हुआ बोला—"वह दिन चला गया अरुणा, सदा के लिए चला गया। वह मान और महत्व मुझसे सदा के लिए दूर हो गया!" इतना कहते-कहते वह थोड़ा रुक गया, फिर बोला—"काश! तुम्हें पता होता कि अपमान और आघात के घूंट कितने कड़ुवे और विषाक्त होते हैं। लेकिन...लेकिन आज तुम अपने घर मुझको मत ले चलो। मैं फिर कभी आऊँगा" और इतना कहते-कहते वह वहीं ठहर गया।

अरुणा भी वहीं खड़ी हो गयी। उसे ऐसा जान पड़ा कि उसका सोचा और स्थिर किया हुआ सब कुछ फिर धूल में मिला जा रहा है। एक बार उसके मन में यह भी आया कि "यह मेरी उस बात का उत्तर तो नहीं है जो मैंने उस दिन कही थी, जब यह मुझे कालेज के उत्सव में भाग लेने के सिलसिले में बुलाने और साथ ले जाने के लिए आये थे।" वह कुछ अस्थिर हो उठी और अपने आप को सँभालती हुई बोली—'नहीं, थोड़ी देर के लिए आज तुमको मेरे साथ चलना ही होगा।"

"क्यों, ऐसी क्या बात है?" आश्चर्य के साथ प्रदीप ने प्रश्न कर दिया।

"बात कुछ भी नहीं है। और बहुत कुछ है। अगर आज तुमने मेरा अनुरोध स्वीकार न किया तो......।"

"तो क्या होगा ?" सहसा प्रदीप पूछ बैठा।

पहले होंठ दबाती-सी अरुणा कुछ आवेश में आती बोली—"होगा कुछ नहीं; केवल एक जान चली जायगी। संसार का कोई भी काम बन्द नहीं होगा, केवल एक प्राणी उससे विदा हो जायगा। अगर तुम ऐसा चाहते हो तो न चलो। मैं अब और आग्रह न करूँगी।"

"ओ! तब तो बड़ा गड़बड़ हो जायगा।" कहता हुआ प्रदीप पहले विवश-सा होकर हँस पड़ा, पर इसके साथ ही अरुणा के साथ चल दिया।

थोड़ी देर में ज़ीना चढ़ता हुआ जब वह अन्तःपुर के ठीक द्वार पर जा पहुँचा, तो पुनः हँसता हुआ बोला—"बस, उस दिन मैं यहीं से लौट गया था। आज भी जी में आता है, यहीं से लौट जाऊँ। उस दिन तुम्हारी इच्छा से गया था, आज अपनी इच्छा से जाऊँगा।"

अरुणा कुछ आगे बढ़ गयी थी।

महरी दासीकर्म से निवृत्त होकर किवाड़ बन्द करने जा रही थी। किन्तु तत्काल अरुणा को सामने देख बोल उठी—"अरे तुम आ गयी बड़ी बेटी ? बहू को लेकर बबुआ कहीं निमन्त्रण में गये हैं। तुमको तो सब मालूम ही होगा, अब मैं जाती हूँ।" इतना कहकर वह दूसरे दरवाज़े से बाहर चली गयी।

तब अरुणा पुनः लौटकर वहीं जा पहुँची, जहाँ दरवाज़े पर प्रदीप खड़ा था। बोली—"बेखटके अन्दर चले आओ! आओ! आओ न ? अरे! तुम तो खड़े हो ?" बात कहते-कहते अरुणा मुसकराती जाती थी। क्षण-क्षण पर वह सोचने लगती थी—ऐसा सौभाग्य जीवन में कब-कब आता है।

प्रदीप संकोच के साथ बोला—"नहीं, अब मुझे जाने दो अरुणा ! जब घर में कोई नहीं है तब मैं यहाँ ठहर नहीं सकूँगा।" वह घूमकर वापस जाने को उद्यत हुआ ही था कि अरुणा बोली—"सिर्फ़ दस मिनट। चलो अन्दर चलो।" और उसने प्रदीप को अपने शयनकक्ष में ले जाकर कुर्सी पर बैठाते हुए पंखा खोल दिया। निमन्त्रण में प्राप्त हुई मिठाई से भरी हुई एक तश्तरी अलमारी में रक्खी थी और शीशे के एक प्लेट में दाल-सेव और मठरी की साँखें। वही उसने दो प्लेट्स में लगाकर प्रदीप के सामने छोटी टेबिल पर रख दिया। फिर उस कमरे से बाहर निकलते हुए कह दिया—"पानी मैं अभी लायी।"

तुरन्त प्रदीप बोल उठा—"मगर सुनो, मैं कुछ खाऊँगा नहीं। मुझे बिल्कुल भूख नहीं है।"

उस समय अरुणा का एक पैर देहरी के भीतर था, एक बाहर। थोड़ा भी विचलित हुए बिना उसके मुँह से निकल गया—"तो क्या तुम मेरे ही घर पर मेरा अपमान करने के लिए मेरे साथ चले आये हो ! रूखा-सूखा बिना कुछ खिलाये हुए मैं अपने मान्य अतिथि को यों ही चला जाने दूँगी, तो जानते हो, मेरे प्राण महीनों और वर्षों विकल और व्यथित होकर कितने छटपटाते रहेंगे। मेरी समझ में नहीं आता, आखिर तुम मुझे इतना तंग क्यों करते हो ?" कहते हुए अरुणा बड़ी मुश्किल से आँसू रोक पायी। उसे अपने मनोभावों को शब्दों का रूप देने में बड़ा संकोच हो रहा था। पर वह एक साहसी नारी थी, जिसका विश्वास ही यह था कि विजय उसी को मिलती है जो पहले आगे आता है।

उत्तर में प्रदीप ने पेड़े का एक टुकड़ा मुँह में डालते और मुसकराते हुए कह दिया—"अच्छा जाओ, पहले पानी ले आओ।"

झट गिलास में पानी लाकर अरुणा ने प्रदीप के सामने रख दिया।

पर पुन: यह कहकर वह तुरन्त दूसरे कमरे में जाने लगी—"मैं अभी आयी।"

पानी का एक घूँट पीकर प्रदीप कुरसी से उठ खड़ा हुआ और बोला—"मगर सुनो।"

मुसकान में आश्चर्य का पुट देती झट अरुणा लौट पड़ी। बोली—"क्यों, क्या बात है ? तुमसे दो मिनट स्थिर होकर बैठा भी नहीं जाता ?"

तब प्रदीप पुनः कुरसी पर बैठ गया। इस समय उसका मन उड़ा-उड़ा फिरता था। उसकी समझ में नहीं आया कि आज इस अरुणा को हो क्या गया है। कुछ ऐसी बात थी कि अकस्मात् आगत उल्लास की घड़ियों में प्रदीप को ध्यान आता था उन आश्रितों का, जो उससे विलग हो जाते, या जिनके सम्बन्ध में दु:खी होने की उसे आशंका होती। अत: उसे ध्यान आ गया रसोइया महराज का। कैसी श्रद्धा के साथ वह मेरी प्रतीक्षा में बैठा रहता था। बेचारे ने कहीं दूसरी जगह नौकरी न खोजी। चलते समय केवल इतना कह गया—"अब तो तभी आऊँगा, जब सरकार के दिन फिरेंगे।" फिर पीरू, प्यारे, कलुआ—सबके सब उसके सामने रोते–आँसू पोंछ-पोंछ कर बिदा लेते जैसे साक्षात् सामने दिखलाई पड़ने लगे। तब इसी क्रम में वह सोचने लगा—दु:ख ही दु:ख जिस व्यक्ति के चारों ओर दिखलायी पड़ता हो, उसके लिए यह अरुणा आत्मीयता का मोहावरण लेकर एक ही साथ क्यों मुझे इस तरह ढक लेना चाहती है ? जब-जब इस अरुणा से उसका साक्षात्कार, भेंट और विवाद हुआ है, तब-तब वह उसे जैसी प्रतीत हुई उसकी सारी दृश्यावली अब उसके समक्ष क्रम-क्रम से आन लगी।

इतने में एक छोटी-सी पतली बैंक की लाल पासबुक और उसके साथ एक चेक हस्ताक्षरसहित लाकर उसने प्रदीप के सामनें रख दी।

यह सब देखकर प्रदीप अवाक् हो उठा और बोला—"यह क्या ?"

अरुणा की आँखें भर आयीं और उसने कह दिया—"पिता जी जिस क्षण के लिए यह रुपया दे गये थे, वह क्षण अब बीत चुका है। यह रुपया, देखिये, ज़्यादा नहीं—दस हज़ार है सिर्फ़। मेरी विनय है, तुम आज इसे ले लो, हस्ताक्षर मैं पहले कर चुकी हूँ। केवल तुम्हारा नाम भर लिखना पड़ेगा।"

तब झट प्रदीप कुरसी से उठकर कमरे के बाहर आ गया और उसके मुँह से निकल गया—"तुम पागल हो गयी हो अरुणा ! भला ऐसा कैसे हो सकता है ?"

अरुणा बिल्कुल प्रदीप के निकट आकर खड़ी हो गई और उन्मद भावना से उसकी आँखों में आँखें डालती हुई सी बोली—"हो क्यों नहीं सकता ? अभी तुमने ही तो कहा था—मानवता निष्क्रिय नहीं होती। इतनी जल्दी भूल गये ! मेरी समझ में नहीं आता, अब तक तुमने मुझे समझा क्या है ? मेरा अपना जो कुछ भी है क्या तुम समझते हो वह किसी दूसरे का है ?"

तब घूमकर प्रदीप दरवाज़े की ओर बढ़ता हुआ बोला—"इन सब बातों को एक बार सिर से सोचना होगा अरुणा। अभी वह क्षण नहीं आया कि......।"

बात को अधूरा छोड़कर जिस समय प्रदीप दरवाज़े पर पहुँच रहा था, उस समय कोई द्वार के उस पार खड़ा हुआ किवाड़ पर 'कुट-कुट' शब्द कर रहा था। पर तब तक अरुणा प्रदीप के पास आ गयी और मर्मस्पर्शी वाणी में बोली "तुम मुझको इतना जड़ क्यों समझते हो ? कम से कम मानवता की रक्षा के नाम पर ही तुम यह रक़म मुझसे लेते जाओ।" और अपने इस कथन के साथ उसने प्रदीप के बाहु पर अपना हाथ रखते-रखते कह दिया—'कहा मानो, इनकार मत करो।"

किन्तु उसी क्षण बन्द होंठों के बीच तर्जनी खड़ा करते हुए प्रदीप ने संकेत के साथ कह दिया—"शशी!" अरुणा अभिप्राय समझकर द्वार से कमरे की ओर भागती हुई तत्काल अन्दर चली गयी। पासबुक और चेक उसने झटपट अलमारी के अन्दर रखकर ताला लगा दिया। एक बार यह भी उसके मन में आया—"इस बात को सर्वथा गोपनीय रखने का भी एक अर्थ होता है।" तब उसका लोम-लोम सिहर उठा। परन्तु जिस समय अरुणा ताला लगा रही थी, उसी क्षण प्रदीप ने दरवाज़े की कुंडी खोल दी। अब उसके सामने अकस्मात् जो नारीमूर्ति उपस्थित हो गयी, उसको देखकर प्रदीप के मुँह से निकल गया—"लो, रञ्जना भी आ गयी।"

तभी ठिठककर विस्मय के आरोह में रञ्जना बोल उठी—"पर आप जा क्यों रहे हैं? बैठिये न?"

देहरी पर चढ़ती-चढ़ती उसकी साड़ी का पल्लू दायीं ओर से खुलकर पवन के झकोरे के साथ उड़ने लगा, जिसकी ओर लक्ष कर क्षण-भर के लिए प्रदीप कुछ सोच में पड़ गया। बल्कि अन्दर-ही-अन्दर कुछ घबरा भी उठा और बोला—"नहीं अब मैं जा रहा हूँ।" और उसने कुछ उच्च स्वर से कह दिया—"मैं जाता हूँ अरुणा!" फिर थोड़ा रुककर, रञ्जना की ओर उन्मुख हो अपने को सम्हालता हुआ-सा चिर-प्रसन्न मुद्रा में बोल उठा—"उस समय मैंने जो बात कही थी, तुमने उस पर कुछ बुरा तो नहीं माना?"

रञ्जना खिल-खिल करती हुई विमल हास के झकोरे में बोली—"उस समय उस बात को जितना बुरा माना था, इस समय इस बात का उतना ही भला मान रही हूँ। लेकिन आप तो शायद दरवाज़ा खोलने आये थे, मेरे आते ही चल क्यों दिये?"

प्रदीप को रञ्जना के इस उत्तर ने पकड़ लिया। अतः सरल भाव से

वह बोल उठा—"नहीं, मैं जाने के लिए आया था।" पर फिर गम्भीर होता हुआ बोला—"तुमको मालूम होना चाहिए, सब लोग जाने के लिए आते हैं। तुम भी जाने के लिए आ रही हो।"

उत्तर सुनकर रञ्जना ठगी-सी रह गयी।

इतने में अरुणा उसका हाथ-पकड़कर उसे भीतर ले चली, और प्रदीप धीरे-धीरे सीढ़ियाँ उतरने लगा। हृदय में आँधियाँ समेटे विमोहित और विचार-मग्न।

"मेरा अपना जो कुछ भी है, क्या तुम समझते हो, वह किसी दूसरे का है?...मेरी समझ में नहीं आता, अब तक तुमने मुझे समझा क्या है?···मानवता निष्क्रिय नहीं होती···तुम मुझको इतना जड़ क्यों समझते हो?···बहुत दिनों बाद दिखलायी पड़े हो...चलो अब दस मनट को मेरे यहाँ भी होते चलो। कुछ ठीक है। एक ज़माना बीत गया और कभी ऐसा अवसर न आया कि रास्ता भूलकर ही कभी द्वार पर आ खड़े होते!"

'यही वह नारी है, जिसने मुझे उस दिन अपमानित किया था।' पर मनुष्य अपमान उसी का करता है जिसके मान को महत्व देता है। इसने उस क्षण भी मेरे मान को महत्व दिया था, जब मेरी उपेक्षा की थी। और मैं आज उस समय उसकी उपेक्षा कर रहा हूँ, जब वह मानवता को सक्रिय बनाकर उस समय भी मेरी प्रतिष्ठा करने को तत्पर है जब मेरा मान धूल में मिल चुका है, मेरी प्रतिष्ठा मर चुकी है।

पर इस प्रतिष्ठा और श्रद्धा का महत्व क्या इसीलिये अधिक है कि इसके साथ दस सहस्र रुपये की एक निधि का सम्बन्ध है? और रञ्जना का महत्व क्या इसीलिए कम हो गया है कि उसके पिता गोपीलाला ने अपनी रक़म उस अवस्था में भी ले लेनी चाही, जब अपनी मानरक्षा के लये हमको अपना सर्वस्व बेचना पड़ रहा रहा था?

रञ्जना ने कहा था—उस समय उस बात का जितना बुरा माना था, इस समय इस बात को उतना ही भला मान रही हूँ।

अरुणा ने कहा था—.........

रञ्जना ने कहा था—.........

: ३८ :

हेमा बोली—"आप तो कुछ खा ही नहीं रहे। जान पड़ता है कोई चीज़ आपको पसन्द नहीं आयी। उड़द की बड़ियाँ, मूँग का दोसा, मटर की टिकिया कोई भी चीज़ आपको जँची नहीं।"

जेतली साहब ने सिर ऊपर नहीं उठाया। अमावट में भीगी और गली हुई पकौड़ी को चम्मच से उठाते हुए बोले—"आप भ्रम में हैं और मुझे दुःख है कि मैं आपका भ्रम दूर नहीं कर सकता।"

इतने में वीरेन्द्र मुँह पोंछता हुआ अन्दर आ पहुँचा और बोला—"जी में आता है कि दो-चार रोज़ के लिए कहीं बाहर चला जाऊँ।"

जेतली साहब ने गिलास उठाकर एक साथ दो-चार घूँट पानी गट-गट करते हुए पूछा—'क्यों?"

वीरेन्द्र ने तश्तरी में रखे हुए पान में से लौंग निकालते हुए उत्तर दिया—"सिम्पली टू अवाइड, ओः सारी। मेरा मतलब यह है कि मैं सभ्यता के ज़हरीले कीटाणुओं से बचने के लिए थोड़ा दम मारना चाहता हूँ।"

जेतली साहब ने टेबिल छोड़ते हुए उत्तर दिया—"स्वतः निर्मित और किसी अंश में कल्पित अशान्ति से कभी-कभी बड़े अनर्थ हो जाते हैं। सभ्यता के ज़हरीले कीटाणु? ह्वाट डू यू मीन।"

"आई मीन नथिंग बट फ्लर्टेशन एण्ड प्रास्टीच्यूशन इन द शेप आफ़ मॉडर्न सिवलीज़ेशन यू सी ?"

"फ़ार इन्स्टेन्स ?"

"लीजिये, उदाहरण भी लीजिये। कल हमारे आफ़िस में मिस एलिस के पीछे एक झगड़ा हो गया। नित्य वे मिस्टर चेटर्जी के साथ बैडमिण्टन खेलने जाती थीं। आज जब मिस्टर चेटर्जी समय पर नहीं आये, तो वे व्याकुल हो उठीं। इतने में एक ऐसे महाशय आ गए, जो मिस एलिस के पूर्वपरिचित थे और एंग्लो इण्डियन थे। वे एक मिनट का उनके पास आकर कुछ बात करने लगे। थोड़ी देर में मिस एलिस की गम्भीर मुद्रा मधुर-हास में परिणत हो गयी और वे उनके साथ चल दीं। दोनों कैण्टीन की ओर जाने लगे।

"इतने में मिस्टर चेटर्जी भी आ पहुँचे। ज्यों ही मिस एलिस ने उनको देखा, त्यों ही उनकी दशा शोचनीय हो गयी और वे कुछ साहस दिखलाती हुई बोलीं—"यू आर टू लेट नाऊ। प्लीज़ गो बैक एण्ड सी मी आफ़टर एट-थर्टी इन द काफे।"

"अब मिस्टर चेटर्जी की त्यौरियाँ चढ़ गयीं और उनके मुँह से निकल गया—"सिली।" और इसके साथ ही उस एंग्लो इण्डियन को घूरते हुए पूछा—'हू आर यू ?"

"इसका उत्तर उसने जो एक घूसा तानकर दिया, तो इसका परिणाम यह हुआ कि मिस्टर चेटर्जी और उस आगन्तुक में हाथा-पायी हो गयी। यह भी सुनने में आया है कि मिस्टर चेटर्जी जब अपने एक साथी के साथ हास्पिटल पहुँचे तब मिस एलिस अपनें उस पुरातन मित्र के साथ एक होटल में ड्रिंक कर रही थीं। पर 'फ़र्स्ट-ऐड' की खानापुरी होनें में रात के नौ बज गए। तब तक मिस एलिस भी अकेली भागती हुई आ पहुँची और चेटर्जी को इस दशा में पाकर रो पड़ीं।

थोड़ी देर बातचीत होने के बाद मिस एलिस ने चेटर्जी के कान में कोई ऐसी बात कह दी, जिसे सुनकर मिस्टर चेटर्जी अपना सारा अपमान और आघात भूल गए। थोड़ी देर में पुनः मिस एलिस की गोद में अपना सिर रखकर टैक्सी के अन्दर गद्दे दार सीट पर आराम से लेटे हुए वे हास्पिटल से विदा हुए।

"यह भी सुनने में आया है कि कोई सोलंकी साहब एक बैंक में काम करते हैं। उनके द्वारा मालूम हुआ है कि इस घटना के दूसरे दिन ही मिस एलिस के हिसाब में पाँच सौ रुपये की रक़म जिस चेक से जमा हुई है वह टाम्सन नाम के किसी एंग्लो इण्डियन की दी हुई है।

"आफ़िस के कुछ अनुभवी और पुराने साथियों ने बतलाया, यह कोई नई बात नहीं है। वर्षभर में दो-तीन बार इस तरह की घटनाएँ होती हैं और प्रत्येक बार पूछताँछ करने वालों को मिस एलिस का यही उत्तर मिलता है—"दिस इज़ फर्स्ट एण्ड लास्ट इन्सीडेण्ट इन माई लाइफ़।" और आपको यह जानकर खुशी होगी कि हमारे बास मिस्टर आर० आर० सक्सेना उनको अपनी खास स्टेनोटाइपिस्ट के रूप में नैनीताल लिये जा रहे हैं।"

सब कुछ सुनकर जेतली साहब मुस्कराते हुए बोल उठे—"तो आपको सक्सेना जी से ईर्ष्या क्यों हो रही है ?"

वीरेन्द्र तो इस पर कुछ विचार में पड़ गया। पर हँसती-हँसती हेमा बोल उठी—"बात यह है कि इधर कुछ दिनों से चेटर्जी हो गया है इनका दोस्त और वह बेचारा नैनीताल भला क्या खाकर जायेगा।"

तब जेतली साहब हँस पड़े। बोले—"ओः, तो आप मानवता के मरीज़ हैं ! बहुत खूब ! मेरी आपके साथ पूरी सहानुभूति है।"

अभी यह बातें हो ही रही थीं कि एक ट्रक उसी मकान के पास आकर रुक गया और मिस्त्री ने ड्राइवर के पास से उठकर द्वार पर

आकर कुँडी खटखटा दी। तत्काल वीरेन्द्र ने पूछा—"कौन ?"

मिस्त्री बोला—"मैं हूँ जुगल मिस्त्री, ज़रा सुनिये।"

वीरेन्द्र ने द्वार खोल दिया।

तब जुगल मिस्त्री ने कहा—"चौधरी साहब का हुकुम हुआ है कि फ़ौरन यहाँ ज़ीना बना दिया जाय। इसीलिए ईंटें आ गई हैं जो यहाँ अभी गरदी जायँगी। कुछ बोरियाँ सीमेंट की भी हैं। बाकी मौरम लाल और राबिस भी अभी आएगा। थोड़ी देर के लिए आप दरवाज़ा खुला रखिएगा, बस मुझे यही आपसे कहना है।"

वीरेन्द्र के मुँह से निकल गया—"चौधरी साहब ने यह बहुत अच्छा किया। यहाँ तो वे आते नहीं, अन्यथा मैं ही कह देता। आपको तो रोज़ मिलते होंगे। इसलिए अबकी बार जब भेंट हो, तो मेरी तरफ़ से उन्हें धन्यवाद दे दीजिएगा।"

मिस्त्री बोला—"मैं कह दूँगा। हालाँकि यह बात आप ही के कहने की है। मालिकों के रुख़ पर चलने वाले हम दास-वर्ग के लोग ठहरे। हमारे कहने-वहने की कोई क़ीमत नहीं है बाबू साहब !"

मिस्त्री के इस कथन पर वीरेन्द्र फीकी मुसकराहट के साथ हँस पड़ा। मिस्त्री चला गया। अब वीरेन्द्र ने दरवाज़े पर ही चिल्लाना शुरू कर दिया—"लो हेमा, तुम्हारी मुराद पूरी हो गई। दो दिन बाद हम लोग छत पर सोया करेंगे। ज़ीना बनने जा रहा है। चौधरी साहब ने ईंटें भेज दीं, बाक़ी सामान भी आ रहा है।"

इतने में जेतली साहब बोल उठे—"चलो, यह बहुत अच्छा हुआ।"

वीरेन्द्र और हेमा दोनों इस समय जेतली साहब के पास आकर खड़े हो गए। वे यह भली भाँति समझ गये थे कि जेतली साहब के संकेत पर ही यह सब हो रहा है। इसलिए वीरेन्द्र से बिना बोले न रहा गया। उसने कह ही दिया—"आप तो इस तरह बतला रहे हैं,

जैसे इस रचना में आपका कोई हाथ ही न हो।"

जेतली साहब गम्भीर हो गये। यकायक उनके मुँह से निकल गया—"ऐसी छोटी-मोटी बातों पर हम कभी ध्यान नहीं देते।"

साहब की मोटर-बाइक अन्दर रक्खी हुई थी। जब वे उसको स्टार्ट करने लगे, तभी हेमा के मुँह से निकल गया—"आज आपको मैंने बड़ा कष्ट दिया। हालाँकि आपने इसे कष्ट के रूप में नहीं लिया।" और वीरेन्द्र बोला—"आप तो हमारे निर्माता हैं। दूसरा कोई होता तो कुछ कहने की आवश्यकता भी होती, आपसे क्या कहूँ!"

जेतली साहब कुछ कहना नहीं चाहते थे। अतएव इस विषय को टालते हुए बोले—"इतना दूर चले आने के बाद सच पूछिये तो अब इन बातों में कुछ रस नहीं रह गया है। बारम्बार एक ही तरह की बातें सुनते-सुनते तबीयत ऊब उठी है। कोई नयी बात हो तो बात दूसरी है। है कि नहीं?"

इस पर वीरेन्द्र चुप रह गया। तब हेमा बोली—"पर मनुष्य के स्वाभाविक धर्म को रोकियेगा कैसे? आप जानते हैं, प्रत्येक कर्म की एक प्रतिक्रिया सर्वत्र और सब पर होती है। इसलिए यदि वह हम लोगों पर भी हो तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?"

अब जेतली साहब अपना मनोभाव न सम्हाल सके। बोले—

"आश्चर्य की बात है उसका आवश्यकता, आश्चर्य की वस्तु है उसका अस्तित्व, और सबसे अधिक आश्चर्य की वस्तु है उसका अर्थ। क्योंकि वह व्यर्थ और निरर्थक है।"

जेतली साहब के इस उत्तर पर वीरेन्द्र का चेहरा जैसे सफ़ेद पड़ गया हो और हेमा तो मूर्तिवत् जड़ बनकर रह गयी। इतने में दूसरा ट्रक भी आ पहुँचा।

अब जेतली साहब मोटर-बाइक पर सवार हो चुके थे। वीरेन्द्र उनके एक ओर था, हेमा दूसरी ओर। वीरेन्द्र ने दोनों

हाथ उठाकर उन्हे बिदा किया। दोनो एकदम से अवाक रहकर एक दूसरे की ओर देखते रहे। उस समय दोनों ही गम्भीर थे। बड़ी देर तक न हेमा ने वीरेन्द्र से कुछ कहा, न वीरेन्द्र ने हेमा से।

उस समय दिन के छः बज रहे थे और पता नही कहाँ से कोयल बोल रही थी—"कुऊ......कुऊ !"

: ३९ :

गोपीलाला को उनकी श्रीमतीजी ने जबसे सचेत कर दिया था, तबसे वे दूकान का सारा हिसाब-किताब अपने हाथ में रखने लगे थे। बड़ेसाहब को यह बात कुछ देर मे मालूम हुई कि हिसाब-किताब देखने के लिए उनकी माँ ने ही बाबूजी के कान भरे हैं। गोरखपुर के एक दूकानदार पर तीन हज़ार सात सौ पचासी रुपये की एक रकम बाकी थी और अब उसकी वसूलयाबी के लिए पन्द्रह दिन का नोटिस दिया जा चुका था। जिस दिन नोटिस की अवधि समाप्त होती थी, उसी दिन वह व्यापारी दूकान पर आ पहुँचा। बड़े साहब ने पहले तो उसको जल-पान कराया। उसके बाद पान खिलाया, फिर उसके बाद एक सिगरेट उसके आगे बढा दी। उसने जब वह सिगरेट होठो के बीच खोस ली, तो बड़ेसाहब ने लाइटर से उसको जला भी दिया। एक मिनट··· दो मिनट···तीसरे मिनट बड़ेसाहब बोले—"आप तो अभी बैठेंगे न ?"

व्यापारी ने उत्तर दिया—"हाँ साहब, बैठूँगा।"

अब बड़ेसाहब बोले—"तो फिर मै अभी आया।"

व्यापारी ने जवाब दिया—"अच्छी बात है। मै भी तब तक ज़रा आराम किये लेता हूँ, क्योंकि सफ़र में नीद नही आयी।"

तब बड़े साहब चले गये। व्यापारी सोचने लगा—'रक़म का भुगतान तो कर ही दूँगा, साथ ही नया आर्डर भी दे दूँगा। इस बार कुछ छपी हुई धोतियाँ और कुछ नकली जारजट की साड़ियाँ भी ले लूँगा।'

बड़ेसाहब बग़ल की दूकान में बैठकर फ़ोन करने लगे और थोड़ी देर बाद पुनः गद्दी पर आ जमे।

व्यापारी सो गया था। घण्टे भर बाद जो उसकी आँख खुली, तो वह भी गद्दी पर आ गया।

इतने में एक लालाजी बस्ता दबाये, छाता लिये हुए, सामने आ पहुँचे। आपको टोपी कुछ तिरछी थी और आप पान कुछ तबीयत से खाये हुए थे; यहाँ तक कि कुछ दाग़ आपके कोट पर भी पड़े हुए थे। मूछें घनी थीं और उनके किनारों पर भी पान की लार झलक रही थी। आते ही आपने 'नमस्ते' की और खड़े-ही-खड़े आप बोल उठे—"आज कई मुक़दमे हैं। बाबूजी को बिलकुल फ़ुरसत नहीं है; लेकिन उन्होंने कहलाया है कि गोरखपुर के लाला परसादीलाल के नाम जो रक़म पड़ी हुई है, उसकी नालिश की तारीख़ आज ख़तम होती है। आप हमको कुल ख़र्चा अभी दे दीजिये, ताकि नालिश दायर कर दी जाय !"

लालाजी का इतना कहना था कि बची हुई सिगरेट फेंकते हुए लाला परसादीलाल बोल उठे—"अरे साहब, इतना जुलुम न कीजिये। रुपया मैं ले आया हूँ। हिसाब कर लीजिये। अगर थोड़ा-बहुत रुपया बाक़ी रह जायगा, तो उसे बाद में अदा कर दूँगा और आज तो हमको काफ़ी माल भी लेना है।"

तब बड़े साहब की ओर देखते हुए लालाजी बोल उठे—"लाइये फिर हमारा मेहनताना तो दे ही दीजिये; क्योंकि यह देखिये, नालिश अर्जीदावा तो हमने तैयार ही कर लिया। स्टाम्प लगानाऔर बाबू साहब के दस्तख़त भर करवा लेना बाक़ी है।"

तब बड़ेसाहब की ओर दयनीय दृष्टि से देखते हुए लाला परसादी लाल बोले—"सेठ जी, अब यह सब भी होगा ! और मेरे सामने ! पीठ पीछे तो लोग बादशाह को भी गाली देते हैं, मगर सामने कोई अपने व्यापारी की ऐसी बेइज़्ज़ती नहीं करता ।"

तब बड़ेसाहब ने मुहर्रिर से कह दिया—"अब आप जाइये । इनको तंग मत कीजिये ।"

लाला माननेवाले जीव न थे । बोले—"तो हमारी तहरीर का मेहनताना तो दे ही दीजिये । बात यह है कि हम तो अपना काम कर ही चुके ।"

बड़ेसाहब ने कह दिया—"परसादी लाला, आपने हमें तंग तो बहुत किया । मगर ख़ैर, कोई बात नहीं । दो रुपये इनको दे दीजिये ।"

परसादी लाला भी कम घिसे हुए आदमी न थे । रुपया निकालकर बोले—"दो नहीं साहब, एक ले लीजिये ।"

लालाजी ने जवाब दिया—"आप यह भी न दीजिये । हम आपसे कुछ थोड़े ही माँगते हैं । हमको तो सेठजी से लेना है । हमें अगर मालूम होता कि आप ही लाला परसादीलाल हैं, तो हम यहाँ आपके सामने यह बात ही न छेड़ते । और रक़म में अपना और वकील साहब का आज का मेहनताना जुड़वाकर चले जाते ।"

तब बड़ेसाहब बोल उठे—"देखिये लाला परसादीलाल, अब आप चुपचाप दो रुपये इनको दे दीजिये । ज़्यादा झिक-झिक मुझे पसन्द नहीं ।"

इस बातचीत का परिणाम यह हुआ कि लाला परसादीलाल को दो रुपये देने पड़े ।

लालाजी ने ज्योंही पीठ फेरी, त्योंही बड़ेसाहब गद्दी से उठकर ऊपर के विश्रामगृह में जा पहुँचे । अपने नौकर से आपने कह दिया —"नीचे लाला परसादीलाल बैठे हैं, उनको यहाँ भेज दो ।"

दो मिनट बाद जब लाला परसादीलाल आये, तो उन्होंने कह दिया—"लाइये, दीजिये रुपये।"

लाला परसादीलाल ने एक बार सोचा कि गद्दी पर जहाँ मुनीम बैठे हैं, वहीं इन्होंने रुपये क्यों नहीं लिये? यहाँ बुलाकर क्यों ले रहे हैं! परन्तु उनको ख्याल आ गया कि अगर मैं इस विषय में इनसे कुछ कहता हूँ, तो बाद में कहीं ऐसा न हो कि फिर ब्याज छोड़ने को ये तैयार न हों।

मनुष्य की एक दुर्बलता अपने साथ कई प्रकार के पापों को समेट कर जीवित रहती है। लाला परसादीलाल भुगतान की रक़म बड़े साहब को देने लगे। कुल रकम तीन हज़ार सात सौ पचासी रुपये की थी। इसमें दो सौ पच्चासी रुपये के लगभग ब्याज के थे। लाला जी बोले—"क़सम से कहता हूँ कि अब कभी देरी न होगी, मगर कृपा करके ब्याज तो छोड़ दीजिये।"

अब सिगरेट को दियासलाई पर ठोंकते हुए बड़े साहब बोले—"ब्याज तो अब लाला जी आपको देना पड़ जायगा, पाई-पाई। वैसे हम अपने व्यापारियों के साथ कभी सख्ती करना पसन्द नहीं करते। हमारी चलती तो आज आप पर नालिश होने की नौबत थोड़े ही आती। मगर बाबू के स्वभाव को आप जानते हैं! वे अपने समधी तक को तो छोड़ते नहीं। आप क्या चीज़ हैं! लाइये लाइये, जल्दी कीजिये। कभी-कभी वे बारह बजे ही आ जाते हैं।"

लाला परसादीलाल सिटपिटा गये। कहीं ऐसा न हो कि वे इसी समय आ मरें! बोले—"तो फिर ऐसा कीजिये कि आधा ब्याज ले लीजिये और आधा छोड़ दीजिये। क्या बताऊँ, भतीजी के ब्याह में हम तो मिट गये साहब।"

कश लेते हुए बड़े साहब बोले—"अच्छा दीजिये, जल्दी कीजिये।"

और तब लाला परसादीलाल नें तीन हज़ार छः सौ बयालीस रुपये

आठ आने बड़ेसाहब को दे दिये।

आज एकादशी का दिन था। गोपीलाला आज के दिन दूकान न आते थे। परिणाम यह हुआ कि यह रक़म बड़ेसाहब साफ़ खा गये। शाम हुई और जब नयी ख़रीद की रक़म लाला परसादीलाल के नाम डाली गयी, तो मुनीम ने पूछा—"इनकी पुरानी रक़म ?"

बड़ेसाहब ने आँख दबाकर कह दिया—"वह हिसाब अब अलग रहेगा। उसके लिए मैंने उनसे काग़ज़ लिखवा लिया है।"

मुनीमजी ने कहा—"तो फिर यह रक़म चुकता समझ ली जाये और ब्यौरे में लिख दिया जाय कि तमस्सुक लिखवा लिया गया ?"

बड़े साहब बोले—"हाँ !"

दूसरे दिन जब गोपीलाला ने मुनीमजी से पूछा—"इस रक़म का क्या हुआ ?" तो उन्होंने जवाब दे दिया—"बड़े साहब ने स्टाम्प पेपर पर उनसे दस्तावेज़ लिखवा ली है।"

गोपीलाला चुप रह गये। परिणाम यह हुआ कि बड़ेसाहब की श्रीमतीजी की तगड़ी बन गयी। घर में खुशियाँ मनाई गयीं और दो-चार दिन तक बड़ी चहल-पहल बनी रही। तगड़ी आने पर बड़े साहब की माँ ने एक बार उसे चश्मा लगाकर देखा, फिर एक बार चश्मा उतारकर देखा। पहनना दूर रहा, कभी ऐसी तगड़ी उन्होंने हाथ से उठाकर देखी भी न थी। उनके मन में आया कि दो-चार दिन पहनने के लिये बहू से माँग लूँ, पर दो दिन-रात बहूरानी उसे पहने ही रहीं। जो कोई देखता, वही उसकी प्रशंसा करता। मँझले कान खुजलाते हुए बोले—"बाबूजी, भाभी ने अपने नैहर में जो तगड़ी पाई है, आपने देखी है ? बाबूजी, बहुत अच्छी बनी है ! अच्छा बाबूजी, जब हम बड़े होंगे, तब तुम ऐसी तगड़ी हमको भी बनवा देना, अच्छा !"

तब मुँह बनाते हुए गोपीलाला बोल उठे—"दुत् ! आदमी कहीं तगड़ी पहनते हैं राम-राम, शिव-शिव ! तुझे इतनी भी तमीज़

न आयी कि वह औरतों के पहनने का गहना है या आदमियों के पहनने का ! कोई सुने, तो क्या कहे ! राम-राम शिव-शिव मैं आज दिन-रात बल्कि कल इसी वक्त तक, पूरे चौबीस घण्टे तेरी यह बेवक़ूफ़ी की बात न भूलपाऊँगा। पूजा में विघ्न पड़ जायगा सो अलग। आश्चर्य नहीं कि माला जपते-जपते याद आ जाय। खाना खाते समय तक तो भूल नहीं पाऊँगा, जब आदमी का बच्चा बगुला बन जाता है। रात में सपना देखूँगा, तो भय है तेरी यह बेवक़ूफ़ी कहीं मुझे न बेवक़ूफ़ बना दे ! कहीं ऐसा न हो कि राम-राम शिवशिव मरते वक्त तेरी इस बेवकूफी का ख्याल आ जाय ! नहीं तो, स्वर्ग पर चढ़ते-चढ़ते नीचे इसी ज़मीन पर गिर पड़ूँगा, धम्म से ! अब जा यहाँ से, दो दिन तक शकल मत दिखलाना ! भगवान् न करे किसी के बेवक़ूफ़ सन्तान पैदा हो। जिसके बच्चे बेवक़ूफ़ पैदा होते हैं, मैं कहता हूँ, वह लाख अक़लमन्द हो, पर दुनियाँ विश्वास करेगी, राम-राम शिव-शिव ?"

इतने में कापियाँ, किताबें, गेंद-बल्ला लिये, थामे और लटकाये हुए सँझले आ पहुँचे। बोले—"बाबूजी, बाबूजी, आपको कुछ मालूम हुआ ? भाभी रात-दिन तगड़ी पहने रहती हैं। बाबूजी जब पाखाना जाती हैं, तब भी पहने रहती हैं। और बाबूजी जब रात को फुसुर-फुसुर सोती हैं, तब भी उसका पिण्ड नहीं छोड़तीं। अम्मा कहती हैं बाबूजी, कि इस तरह तो वह बड़ी जल्दी टूट जायगी।' और फिर कान के पास मुँह ले जाकर बोले—"और बाबूजी अम्मा यह भी कहती हैं कि इससे सवाई वज़न की तगड़ी वे आपसे बनवाकर मानेंगी। बाबूजी उन्होंने आपसे भी तो कहा होगा ?"

सँझले की बात सुनकर गोपी लाला जामे से बाहर हो गये। बोले—"क्या बकता है, बदतमीज़ कहीं का ? बहू को तगड़ी क्या बनी, घर भर के लिए एक तमाशा हो गया ! अभी मँझले आये, बोले हमको भी बनवा देना। अब तू सुनाने चला है कि अम्मा कहती हैं कि मुझे भी

चाहिये। और तुर्रा यह कि इससे सवाई। राम-राम, शिव-शिव ! हम तो इसी भर को हुए। जाओ, अपनी अम्मा से कह दो कि उसके मरने पर जो ख़र्च होगा, अगर उसको छोड़ना मंजूर हो, तो उसको तगड़ी अभी आज बन सकती है !" मगर ठहरो, मरने की बात उससे न कहना। राम-राम शिव-शिव मैं भी क्या बक जाता हूँ ! देखो तो, दिल धड़कने लगा हमारा !...जाओ अपना काम करो।"

शाम को जब गोपीलाला खाने बैठे, तो आज श्रीमती जी भी उनके पास आ पहुँचीं और पंखा हाथ में लेकर उनके ऊपर झलने लगीं।

गोपीलाला बोले—"आज बड़े भाग हैं बड़े की माँ। मगर किसी मतलब से ही मेरी यह ख़ातिरदारी हो रही है राम-राम शिव-शिव !"

श्रीमतीजी ने घूँघट को माथे पर ज़रा और नीचे खिसकाकर मुस्कराते हुए कह दिया—"तुम मुझसे मज़ाक मत किया करो रञ्जना के बाबू ! ऐसा मज़ाक अब इस उमर में हमें अच्छी नहीं लगता। कहते हो बड़े भाग हैं। शरम नहीं आती तुमको ऐसी बात कहते हुए। कभी ऐसी चीज़ बनवा दी होती, तो कहने में भी अच्छा लगता। क्या कभी तगड़ी पहनने के मेरे दिन न थे ? या आज भी अगर मैं पहनूँ तो बुरी लगेगी ? मगर तुम्हारे घर आकर मेरी कोई क़दर न हुई। लौंड़ी की लौंड़ी बनी रही। मुझसे तो नौकरानियाँ भलीं। कोई रास्ते में देखे, तो मानेगा कि यही बड़े की माँ हैं ?" और इतना कहती हुईं वे भीगे पलक और द्रवित कण्ठ से बोल उठीं—"अब इस ज़िन्दगी में मैं क्या तगड़ी पहनूँगी। तुम्हारी जगह अगर कोई दूसरा होता, तो इस घर में मेरा ऐसा अपमान···" और इतना कहते-कहते वे क्रन्दन करती हुईं बोल उठीं—"कभी न होता, इससे तो कहीं अच्छा है कि भगवान अब मुझे यहाँ से उठा ले !"

गोपीलाला खाना बन्द कर आधा गिलास पानी पी लेने के बाद

बोल उठे—"यह सब तुम क्या बके जा रही हो राम-राम···शिव-शिव···? तुम्हारे मारे तो खाना खाना भी मुश्किल है। बहू की तगड़ी क्या बनी, तुमको रोज़ मेरा भेजा चाटने का एक बहाना मिल गया ! चाहिये तो यह था कि इस पर तुम खुश होतीं; पर तुमने तो घर का ऐसा नक्शा बना रक्खा है जैसे घर में कोई गमी हो गई हो ! यह भी कोई बात हुई राम-राम···शिव-शिव। मेरा बस चलता तो मैं तुम्हें पैरों से लेकर सिर तक तगड़ी-ही-तगड़ी बना देता। हाथ-पैर ही नहीं, नाक और कान में भी तगड़ी पहनाकर मानता।"

गोपीलाला का इतना कहना था कि श्रीमती जी पँखे की डंडी को स्वामी की ओर उठाकर उसे हिलाती हुई बोल उठीं—"अरे जाव, बहुत बातें मारते हो। जोरू को गहना गढ़ानेवाले कोई और होते हैं ! वे डींग नहीं हाँकते, करके दिखला देते हैं। ···मुझको अगर इस हफ़्ते के अन्दर तगड़ी न बनी, तो आठवें दिन सबेरे उठते-उठते तुम हमारा मरा मुँह देखोगे। कहे देती हूँ। कोई बहाना नहीं सुनूँगी। दुकान का दिवाला जहाँ कल निकलता हो, वहाँ आज निकल जाय, मुझे परवा नहीं। जब तक इस घर में मैं मौजूद हूँ, मेरा हुक्म पहले चलेगा।" और इतना कहने के बाद वे फिर धीरे-धीरे बोलने लगीं—"मैंने तुमसे कितना कहा, कितना समझाया कि अपना बही-खाता रोज़ देखा करो। दुकान में रोज़ जाया करो। मगर तुमने सब गुड़ गोबर कर दिया। देखो रञ्जना के बाबू, मैं यह लोटा उठाकर गंगा की क़सम खाकर कहती हूँ, बड़े ने यह तगड़ी हम सब लोगों की आँखों में धूल झोंककर बनवाई है। मैंने इसका पता लगा लिया है। मैंने समधियाने की महरी को चुपचाप बुला कर अकेले में उससे पूछा था, तो बहुत झिझकती-झिझकती बोली—'अम्मा, बात तो ऐसी ही है, जैसी कि तुम कहती हो। बिटिया को उन्होंने नाती के जनम पर कुल ढाई सौ रुपये दिये हैं। बाकी रुपये

लल्ला ने दूकान से लगाये हैं। घर का बच्चा-बच्चा इस बात को जानता है। मगर कोई मुँह उठाकर कहने को तैयार नहीं है। लेकिन अम्मा, बात ज़ाहिर न होने पाये। नहीं तो मैं अपनी रोज़ी से भी हाथ धो बैठूँगी।'...यह हाल है तुम्हारे सपूत का! मैं कहती हूँ अब भी ग़नीमत है, अब भी कुछ गया नहीं है; घर की रक़म घर में तो है! मगर यही हाल रहा, तो एक दिन दूकान चौपट हो जायगी और तुम्हारे हाथ टका न लगेगा! तब तुम मत्थे पर हाथ धर कर 'राम-राम···शिव शिव' खूब अच्छी तरह से जपा करना। बस, मैं अब जाती हूँ। अब तुम जानो और तुम्हारा काम जाने।"

श्रीमतीजी का इतना कहना था कि गोपीलाला के हाथ का कौर मुँह की ओर न बढ़कर धरती पर गिर पड़ा। यकायक उनके मुँह से निकल गया—"राम-राम शिव-शिव तुम अपनी यह क्या लीला दिखला रहे हो? एँ! यही तुम्हारा सोने का संसार है?" और इन्हीं भावनाओं के साथ दो घूँट पानी पीकर वे चुपचाप भोजन से उठ आये थे।

अब गोपीलाला के सामने केवल दो कार्य रह गये थे—एक तो था रञ्जना का विवाह और दूसरा बड़ेसाहब के गोलमाल की जाँच। दूसरे दिन से वे इसी टोह में रहने लगे कि बड़े कब क्या करते हैं। पहले वे नियमित रूप से चार-पाँच बजे दूकान जाते थे, अब अनियमित रूप से कभी दस बजे, कभी बारह बजे, कभी तीन बजे और कभी सात बजे जाने लगे। उनकी दिनचर्या के इस आकस्मिक परिवर्तन का प्रभाव इतना बढ़ गया कि बड़े उनसे सदा सशंकित रहने लगे। अब गोपी लाला तालियों का गुच्छा सदा अपने पास रखते। चेक पर हस्ताक्षर वे स्वयं

करते। चिट्ठियाँ उन्हीं के हस्ताक्षरों से जाने लगीं और नित्य की डाक भी वे स्वयं देखने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि बड़ेसाहब और आगे हाथ न मार सके, पर रञ्जना का विवाह टलता चला गया।

इस विवाह के सम्बन्ध में सबसे बड़ी उलझन यह थी कि प्रदीप के घर की हालत अब बदल चुकी थी। कुलदीप लाला ने दिवाला तो न निकाला था; दूकान भी उनकी चल रही थी, पर अब वे किराये के घर में रहते थे। घर में सवारी के नाम पर ताँगा भी न था। नौकरों को पहले ही जवाब दे दिया जा चुका था। घर का रहन-सहन बिलकुल निम्नकोटि का हो गया था। यहाँ तक कि कहते हैं, उनके पहनने के कपड़ों से भी पसीने की बू आने लगी थी। लोग इधर-उधर काना-फूसी करते। बातें फैलतीं और गोपीलाला दूकान पर बैठे-बैठे चुपचाप सब कुछ सुनते रहते थे। सुनते तो रहते थे, पर कहते कुछ न थे। दूकान की जो रक़म कुलदीप बाबू के नाम पड़ी हुई थी, उसका भुगतान हो चुका था और वे निरन्तर यही सोचा करते कि अब किया क्या जाय? कभी-कभी उनके मन में आता कि अपनी रक़म को समय पर वसूल करके शील और मुरव्वत की भावना त्याग देने में उनसे ग़लती हो गई है और जब कभी यह बात उनके मन में आती, तब वे अपने आपसे लड़ने लगते—राम-राम शिव-शिव, यह भी कोई ग़लती है। विवाह और उसकी रस्में एक अलग चीज है और व्यापार बिलकुल दूसरी चीज! व्यापार के साथ मुरव्वत, शील और उदारता का बिल्कुल वैसा ही नाता है, जैसा चील के घर माँस की धरोहर का! यही न होगा कि हमको रञ्जना का विवाह दूसरी जगह करना पड़ेगा। लेकिन मैं दुकानदारी को कैसे चौपट हो जाने दूँ, व्यापार का सर्वनाश कैसे अपनी आँखों से देखूँ! मैंने ग़लती नहीं की राम-राम शिव शिव, मैंने कोई ग़लती नहीं की।

परन्तु यहीं, इसी स्थल पर, वे एकदम से घबरा उठते—'लेकिन

अब रञ्जना का क्या होगा ? प्रदीप की जो मूर्ति वह अपने मनोमन्दिर में एक बार स्थापित कर चुकी है राम-राम शिव-शिव, उसको वह कैसे निकाल देगी ? उसकी प्रतिष्ठा का अपमान करेगी ? उसकी जगह किसी दूसरे व्यक्ति को स्वामी मानकर उसकी प्रतिमा स्थापित करने का साहस वह कभी कर सकती है ? ऐसा कभी हुआ है ? ऐसा कभी हो सकता है राम राम शिव शिव ? ऐसा कभी नहीं हो सकता।

यह उलझन गोपीलाला को दिनोंदिन खाये जा रही थी। अब उनसे पूरा भोजन करते न बनता था। अब वे पूर्ववत् पूजन पर भी न बैठ पाते थे। कभी उनको जुकाम हो जाता, तो उसके अच्छा होने में पूरा सप्ताह लग जाता। सिर का दर्द तो उनको जब तब होता ही रहता था। कभी जो पेट भर भोजन कर लेते, तो दूसरे दिन प्रातःकाल भूख ही न लगती। कभी पेट गुड़गुड़ाता, कभी नित्यक्रिया की निवृत्ति में देर लग जाती और परिणाम यह होता कि उनका सारा दैनिक कार्यक्रम अस्तव्यस्त हो जाता।

यह सब कुछ था, लेकिन रञ्जना की समस्या तो उनको हल ही करनी थी। क्योंकि कभी-कभी यह भी उनके मन में आता कि जब मेरा शरीर टूट रहा है, जब जीवन की सरिता बहुत धीरे-धीरे बहने लगी है, जब जीवन में आनन्द, भोग और उत्साह हीं कहीं कुछ देख नहीं पड़ता, तब फिर आगे क्या होगा ? भविष्य का रूप क्या होगा ? अगर आज मुझको कुछ हो जाय, तो इन बच्चों का क्या होगा ! कौन उनकी नैया पार लगायेगा ? ये बड़ेसाहब और बहूरानी मिलकर उनका सारा अधिकार, उनकी सारी सम्पत्ति मुठ्ठी में कर लेंगी और ये बच्चे उनके गुलाम होकर रहेंगे, नौकर की तरह काम करेंगे। रञ्जना किसी मामूली क्लर्क को ब्याह दी जायगी, जहाँ उसका जीवन नरक-कुण्ड बन जायगा। रात-दिन वह मेरे नाम को रोयेगी ! तब वह कैसे सुख से सोयेगी ? कैसे उसका संसार बनेगा ? कौन कहेगा कि यह गोपीलाला

की बेटी है ! राम-राम शिव-शिव न जाने क्या होनहार है !'

पत्नी के उस दिन के कथन से प्रभावित होकर उन्होंने उसको तगड़ी इच्छानुसार बनवा दी थी और घर का विवाद एक प्रकार से टल गया था। इसलिए जब कभी श्रीमतीजी के साथ उसकी बैठक होती, तब वे रञ्जना के विवाह के अतिरिक्त और कोई बात न करते।

दिन चलते जा रहे थे। समय आगे बढ़ता जा रहा था। एक दिन श्रीमतीजी से बातें करते-करते गोपीलाला बोले—"अरे, रञ्जना की माँ, तुमसे आज मुझे एक बात पूछनी है। कभी तुमने रञ्जना का मन लिया है? प्रदीप के सम्बन्ध में वह अब क्या सोचती है? माना कि अब उसके घर की हालत पहले जैसी नहीं है, लेकिन कुलदीप लाला का व्यापार तो बन्द नहीं हुआ। दूकान तो चल ही रही है। बल्कि मैंने सुना है कि इस साल उनका आधा घाटा पूरा हो गया और अब उनकी हालत भी कुछ सँभल गई है। और मैंने तो यह भी सुना है कि प्रदीप को एम० एल० ए० बन जाने का पूरा मौक़ा मिल रहा है। अगर किसी तरह इस चुनाव में यह लड़का जीत गया, तो उसकी हालत फिर तो पहले से भी अच्छी हो जायगी। उसकी खोई हुई मान-प्रतिष्ठा फिर से लौट आयेगी। बल्कि ताज्जुब नहीं कि बढ़ ही जाय। राम-राम शिव-शिव...सब तुम्हारे हाथ में है। तुम सब कुछ कर सकते हो।...हाँ, तो रञ्जना की माँ, अब तुम क्या कहती हो? अगर हम कुलदीप बाबू के पैरों पर गिर पड़ें और कहें कि हमारा कसूर माफ़ कर दो, तो क्या तुम समझती हो कि वे मुझे दुतकार देंगे? ज़्यादा-से-ज़्यादा वे मुझसे यही कह सकते हैं कि तुम अवसरवादी हो। कल तुमने देखा कि कुलदीप बाबू कहीं टके-टके को मोहताज न हो जायँ, तो तुमने दूसरे-चौथे चक्कर लगाकर अपनी रक़म वसूल कर ली। और राम-राम...शिव-शिव... आज देखा कि ज़माना फिर पल्टा, समय ने फिर करवट ले ली, व्यापार फिर पहले जैसा चल पड़ा, एकाध मकान फिर ख़रीद लिया गया, तो

तुम फिर सामने आकर कुत्ते की तरह दुम हिलाने लगे ! सचमुच राम-राम···शिव-शिव बड़ी लज्जा की बात है ! आश्चर्य्य है कि मुझसे ऐसी भूल हो गयी। क्या दर्पण का रुख ही बिल्कुल ऐसा है या मेरी शकल ही कुछ ऐसी मनहूस बनी है राम-राम शिव-शिव ? लेकिन क्या आज की दुनियाँ के लिए यह कोई पाप है ? कौन नहीं ऐसा करता ? आज का बड़े-से-बड़ा आदमी, दुनियाँ का बड़े-से-बड़ा नेता, बड़े-से-बड़ा शासक बिलकुल इसी शकल का है। इसी तरह के चेहरे-मोहरे का···राम-राम शिव-शिव। नाम लेने से क्या फ़ायदा ! इसलिए मैं तुमसे पूछता हूँ रञ्जना की माँ, हमने जो ग़लती की है, हम उसे सुधार भी तो सकते हैं। इसमें कोई बुराई नहीं है। हमारा काम बन जाय, तो कुलदीप बाबू की दस गालियाँ भी हम सुन लेंगे।···तो बोलो, क्या कहती हो ? राम-राम शिव-शिव··· कभी-कभी मेरा दिल बहुत घबड़ाता है। क्योंकि तुम देख ही रही हो, मेरी तबीयत ठीक नहीं रहती ! कभी-कभी मुझे ऐसा जान पड़ता है कि अब दीपक का स्नेह चुक गया है ! अरे राम-राम शिव-शिव यह मैं क्या देख रहा हूँ, रञ्जना की माँ ! तुम रो रही हो ! नहीं नहीं, मेरी तबीयत बहुत ठीक है। मुझे कोई बीमारी थोड़े ही है। फिर चिन्ता की क्या बात है राम-राम···शिव-शिव ! रोओ मत, धीरज धरो, भगवान के बड़े-बड़े हाथ हैं, भक्त को पार करते उन्हें देर लगती है ? आँसू पोंछो, रोना बन्द करो। ठंडे दिल से विचार करके बताओ। हम लोगों को अब क्या करना चाहिये ?"

रञ्जना की माँ ने आँसू पोंछ डाले और उन्होंने कहा—"बहू हो या बेटी, इस तरह की बात मुझसे करते नहीं बनती। कौन जाने कि रञ्जना के मन में क्या है ? मैं तो सिर्फ़ इतना जानती हूँ कि वह शहर की पढ़ी-लिखी स्त्रियों और लड़कियों के बीच रहती है। बड़े लोगों से मिलती-जुलती है, पर यह मैं कैसे जान सकती हूँ कि प्रदीप लल्ला से उसका मिलना-जुलना होता है या नहीं ?"

तब गोपीलाला ने उनके निकट मुँह ले जाकर पूछा—"मगर बहू के द्वारा तो इस तरह की बातें उससे पूछी जा सकती हैं। एक बार तुम उसको समझाकर देखो। अगर बहू समझदार है तो अपनी ननद के मन का भेद लेने में उसे कोई कठिनाई न होगी !...अच्छा, जाने दो। तुम एक काम करो कि कल जब रञ्जना घर में न हो, तो तुम मुझको बतलाना। अब मैं इस विषय की छानबीन...राम-राम शिव-शिव...स्वयं अपने ढंग से करूँगा। प्रभू ! मुझको बल दो कि मैं इस भेद को जल्दी-से-जल्दी पा जाऊँ, मेरी लाज अब तुम्हारे ही हाथ में है राम-राम शिव-शिव ! रघुवर तुमको मेरी लाज......।"

और इतना कहते-कहते गोपीलाला अलमारी से करताल उठाकर गोस्वामी तुलसीदास का यही पद गाने लगे। वे तब तक इस पद को अपने अन्तस्तल के सम्पूर्ण प्राणमय स्पन्दन के साथ बराबर गाते रहे, जब तक कि उनके सभी बाल-गोपाल कमरे मे आकर उन्हें घेरकर खड़े नहीं हो गये !

: ४० :

जिस दिन से रञ्जना को यह विदित हुआ था कि प्रदीप के गोदाम मं आग लग गयी है, उसी दिन से उसका हृदय बैठ गया था। वह प्रकट रूप से रो तो न सकी किन्तु उसकी आत्मा अहर्निश रोती ही रहती थी। उसका वश चलता तो क्षति-पूर्ति के लिये वह अपने प्राणों की बलि दे देती ! किन्तु सबसे बड़ी कठिनाई तो यह थी कि वह सक्रिय रूप से प्रदीप के लिए कुछ कर न सकती थी। बाजार और नगर के सम्भ्रान्त जन-सम्पर्क में प्रदीप की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में नाना

प्रकार की किंवदन्तियाँ उठा और उड़ा करती थीं। रञ्जना उन्हें चुपचाप सुनकर रह जाती। एक बार उसने सुना कि उनकी गाड़ी भी बिक गयी, अब वे सदा पैदल ही चला करते हैं! और रञ्जना ने अपनी आँखों से देख लिया—प्रदीप किस तरह पैदल चलते हैं! उसे किसी से यह भी विदित हुआ कि कभी-कभी उनके घर साग तक नहीं बनता और रञ्जना ने अपनी आँखों से देख लिया कि अरुणा के यहाँ चाय पिलाने के सिलसिले में मिठाई और नमकीन के जो प्लेट्स प्रदीप के सामने रखे गये, वे वहाँ ज्यों के त्यों पड़े रहे! तब रञ्जना को यह भी समझने का अवसर मिल गया कि प्रदीप केवल भोगी ही नहीं, त्यागी भी है, बल्कि अरुणा के कमरे में जाकर टेबिल पर पड़ी खाद्य-सामग्री को देखकर उसके अन्तर्मन को एक प्रकार की तृप्ति ही मिली। विशेष रूप से यह सोचकर कि जब उनकी आर्थिक स्थिति अत्यधिक शोचनीय हो गयी है तब भी उनके जीवन के आदर्श ज्यों-के-त्यों स्थिर हैं। तब तो यह व्यक्ति मनुष्य नहीं देवता है।

किन्तु जब रञ्जना को यह विदित हुआ कि बाबू ने प्रदीप की इस अवस्था को देखकर, उनके साथ सहानुभूति प्रदर्शित करना दूर रहा, अपनी सत्रह हज़ार की रक़म को जल्दी-से-जल्दी प्राप्त करने के लिए सर्वथा अमानवी व्यावहारिकता का परिचय दिया, तब तो उसे अत्यधिक दुःख हुआ। यह एक ऐसी स्थिति थी जो उसके लिए सर्वथा असह्य थी। यह एक ऐसी पीड़ा थी जिससे वह रात-दिन छटपटाती रहती। यह एक ऐसी आँधी थी, जो रात-दिन उसके हृदय में चलती रहती, बन्द होने का नाम न लेती और मन्द पड़ना जानती न थी; अन्धकार जिसकी देह थी और क्रन्दन जिसकी वाणी। यह एक ऐसा हाहाकार था जो कभी शान्त ही नहीं होता था, अशान्त मन की आन्तरिक ज्वाला को जो सदा धधकाता ही जाता था।

एक बार तो रञ्जना के मन में आया कि वह आत्मघात कर ले, किन्तु फिर वह यह सोचने लगी कि मेरी इतनी जो शिक्षा हुई है, क्या उसका यही परिणाम होना उचित है ! इसका तो अर्थ यह निकाला जायगा कि मेरा दिल मोम का था और मैं कायर थी ! जीवन के चढ़ाव-उतार देखने और सहने की भी क्षमता मुझमें न थी ! तब तो सभ्य-समाज को यह भी सोचने का अवसर मिल जायगा कि आज की शिक्षा जीवन को निर्माण की ओर न ले जाकर विनाश की ओर ले जा रही है ! सभ्य जनता पर कितना ग़लत और भयावह, घृणित और कुत्सित प्रभाव मेरी उस मृत्यु का पड़ सकता है !

अब यहाँ यह प्रश्न उठना सर्वथा स्वाभाविक है कि इस अवस्था में रञ्जना के दिन कटते कैसे थे !

रञ्जना सोचती थी कि मानवता केवल मौखिक नहीं होती, मूक नहीं होती पंगु नहीं होती, बधिर और जड़ भी नहीं होती; वह सक्रिय और चेतन होती है। मैं यदि उनके लिए कुछ न कर सकी, तो मेरा यह शरीर निस्सार है, मिथ्या है। मेरा मन अकर्मण्य है, मेरा तन निकम्मा है। जिनको मैं चाहती हूँ, जिनको एक बार मैं वरण कर चुकी हूँ वे मेरे हैं, क्योंकि मैं उनकी हूँ। उनका जीवन मेरा निज का जीवन है। उनकी साधना और तपस्या मेरा स्वप्न, अभिमान और गौरव है। उनकी प्रत्येक साँस के साथ मेरे जीवन का, जीवन की प्रत्येक गतिविधि का, क्षण-क्षण के कर्म के मर्म का अत्यन्त घनिष्ठ और अटूट सम्बन्ध है। ये दिन न रहेंगे, लेकिन इन दिनों का इतिहास बना रहेगा। वे मुझे प्राप्त न हों, बला से ! वे दूसरे के साथ अपना प्रणय-सम्बन्ध स्थापित कर लें, परवा नहीं; लेकिन मैं उन्हीं के लिए जिऊँगी, उन्हीं के लिए मरूँगी ! मैं चुपचाप नहीं बैठूँगी ! कर्म ही मेरी गति है, कार्य ही मेरा जीवन। मुझे इस जीवन के लिए लड़ना पड़ेगा, खपना पड़ेगा। मैं संघर्ष से डरती

नहीं, उसको अपना जीवन मानती हूँ। मैं बोलूँगी कुछ नहीं, कार्य करूँगी, कार्य !

रातदिन रञ्जना यही सोचती रहती कि क्या मैंने जन्म इसलिए लिया है कि मैं किसी सेठ के घर जाकर उसके घर की दीवारों के अन्दर बन्द रहकर, सोना और रेशम पहनकर, पलँग पर पड़ी-पड़ी नौकरों पर हुकूमत करती रहूँ और जब कभी श्रीमान् सेठजी अन्त:पुर में पधारें, तब द्वार पर ही सबसे पहले उनकी आरती उतारूँ, उनके चरण धोकर अमृतपान कर जाऊँ, उनको खाना खिलाकर, हास क्रीड़ा-कौतुक और मनोविनोद से उनका मन बहलाकर, सन्तोषलाभ कर लूँ ! देह-धर्म के नाम पर, यौवन और तारुण्य के नाते, सर्वस्व उत्सर्ग करती हुई अपनी इहलीला समाप्त कर दूँ ? नहीं, सारा देश, देश की शिक्षित, अर्धशिक्षित, अशिक्षित जनता का मानस मेरा कर्मक्षेत्र है। मुझे अपने इस महादेश की संस्कृति के विकास के लिए जीवन की आहुति देनी है। मुझे मनुष्य के अधिकार के लिए लड़ना है, मुझे सदा देश के नव-निर्माण के लिए आगे बढ़ना है। मैं जितना आगे बढ़ आई हूँ, उसके पीछे मुझे नहीं देखना है। माना कि नग्न यथार्थ मेरे सामने है, लेकिन मेरी दृष्टि उससे भी आगे है। मैं उस आदर्श को देखती हूँ, जो यथार्थ से सदा आगे-आगे चलता है। यथार्थ तो वास्तव में आदर्श का अनुचर है—पिछलगुवा ! मैं परिस्थियों के बीच में पड़कर पिस जाने और दम तोड़ देनेवाली अकर्मण्य और कायर नारी नहीं हूँ ! यथार्थ के साथ समझौता करके मैं अपने आदर्श की लाज कभी न लुटने दूँगी ! बाबू ने अपनी रक़म उनसे ज़बरदस्ती वसूल कर ली, पर मेरी स्थिति पर विचार नहीं किया। हाय, अब मैं क्या करूँ ! अगर उनका इतिहास अपना यह काला पृष्ठ सदा के लिए छोड़ जायगा, तो उसी के आगे एक ऐसा भी पृष्ठ होगा, जिसमें रेखाएँ तो होंगी—रक्ताभ, किन्तु चमक होगी स्वर्णिम ! मैं कुछ ऐसा कर जाऊँगी, जिसे इस नगर की जनता इस पावन देश की संस्कृति

अपना गौरव समझेगी, अपने अभिमान का अनुभव करेगी ! मैं चुप नहीं रहूँगी, मैं चुप नहीं बैठूँगी, मुझे आगे बढ़ना है, मुझे सदा आगे बढ़ते जाना है।

रञ्जना रातदिन यही सोचा करती; वह इसी उधेड़बुन में रहती कि मुझे कल कोई ऐसा काम करना है कि परसों वे मुझको खोजते फिरें। उसको कभी-कभी अपने इस बचपन के से संकल्प पर हँसी भी आ जाती। वह अपने आपसे पूछती—क्या मैं कोई ऐसा कार्य कर सकूँगी ? तब उसे ऐसा प्रतीत होता, जैसे मेरे चारों ओर लड़कियों की पंक्तियाँ खड़ी हुई हैं। सबकी एक वेशभूषा है, एक-सी मुद्रा है, एक-सा शरीर है और सबकी एक ही आत्मा भी है। अरे, ये तो सब की सब रञ्जना हैं। पुकार-पुकार कर, हँस-हँस कर, खिलखिला कर, कलकल ध्वनियों के साथ, एक स्वर में, सम्मिलित और मिश्रित वाणी में कह रही हों—'तुम ऐसा कार्य कर सकती हो। तुम नित्य ऐसा कार्य कर रही हो और तुम सदा ऐसा कार्य करती रहोगी। तुम भारत की एक आदर्श नारी हो। परिस्थितियों के साथ समझौता करके जहाँ-की-तहाँ पड़ी रहना तुम्हारा धर्म नहीं है, ऐसी तुम्हारी प्रकृति नहीं है, ऐसा तुम्हारा स्वभाव और अभ्यास भी नहीं है।'

रञ्जना सबेरे उठती और नित्यकर्म से निवृत्त होकर अरुणा के यहाँ चली जाती और उसके सामने पड़ते ही कह उठती—"दीदी, अरे तुम अभी तक तैयार ही नहीं हुई ? तुम्हारी आँखों में तो नींद भरी हुई है ! ह...ह...ह...ह...! क्या रात को तुम्हें नींद नहीं आई ?...हटो, तुमको तो आलस्य सता रहा है ! आखिर तुम्हारा मंशा क्या है ? तुम मरी-मरी-सी क्यों दिखलाई पड़ रही हो ? तुमको यह सूझा क्या है ? उठो, स्नान करो, कपड़े बदलो। देखो, सेठ रामगोपाल की गाड़ी मैं ले आई हूँ। कल शाम को मैं उनके यहाँ गई थी, उनकी वह जो बड़ी लड़की करुणा है न, मैं उसको एक घण्टे प्रतिदिन पढ़ाने लगी हूँ। वह इण्टर की

छात्रा थी, लेकिन इंगलिश बोल न पाती थी ज़रा भी। सात दिन के अन्दर मैंने उसको ताबड़तोड़ इंगलिश बोलना सिखला दिया।

"अरे, तुम हँस रही हो ! अच्छा, हँस लो। मगर सुनो, उनके बाबूजी को यह मालूम हो गया है कि शिक्षण-कार्य में मैं कितनी कठोर और सफल हूँ।

"तब उन्होंने आज स्वयं मेरे पास आकर कहा—"बेटी, तुम पैसे की चिन्ता न करना। यह मत सोचना कि मैंने जो तुमको देना तय किया है, ओनली फ़िफ़्टी रुपीज़, वही तुम्हारी इस शिक्षण-प्रतिभा का उचित पुरस्कार है। मैं तुमको सौ भी दे सकता हूँ और ज़रूरत पड़े तो पेशगी भी दे सकता हूँ।"

"तुम जानती हो दीदी, मैंने उनको क्या जवाब दिया ?"

मैंने उनसे कहा—"चाचाजी, मुझे रुपये नहीं चाहियें। मुझे तो आपकी कृपा चाहिये।"

तब वे हँसने लगे और बोले—"साफ़-साफ़ कहो। आज के ज़माने में कोई कृपा मौखिक नहीं होती। वह अपना एक रूप चाहती है, व्यवहार चाहती है। तो बोलो, तुम उस कृपा का कौन-सा रूप चाहती हो ? मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ ?"

तब संकोच त्याग कर मैंने उनसे कह दिया—"आपको मालूम है, हमारे नगर में जो एक सीट खाली हुई है, उसके लिए दद्दा खड़े हुए हैं। मुझे उनके लिए मतसंग्रह करने पड़ते हैं। आप जानते हैं, यह कार्य सवारी के बिना नहीं हो सकता। फिर हम लोगों के पास इतने पैसे कहाँ हैं कि ताँगे के किराये में बीस-बीस रुपये प्रतिदिन शाम को चुका सकें। इसलिए मैं चाहती हूँ कि आप दस दिन के लिए मुझे अपनी कार दे दें।"

सेठजी विचार में पड़ गये। बोले—"कार ! मगर...।"

इतने में मैं बोल उठी—"अगर-मगर मैं कुछ नहीं सुनूँगी चाचाजी।

जैसे एक लड़की आपकी करुणा है, वैसे ही दूसरी लड़की मैं रञ्जना भी तो हूँ। मेरी इतनी-सी प्रार्थना आप स्वीकार नहीं करेंगे ? जब कि अभी आप कह रहे थे कि आज के युग में प्रत्येक कृपा अपनी एक काया रखती है। बस दीदी, अब और ज़्यादा तुमको क्या बतलाऊँ ? फल यह हुआ कि इस समय उन्हीं की कार दरवाज़े खड़ी है। चलो, उठो, बक अप ! मेक हेस्ट ! जल्दी करो दीदी, जाओ, तब तक मैं यहाँ बैठकर कुछ चिट्ठियाँ लिख लूँ।" और इसके बाद उसने दस मिनट के अन्दर अरुणा को साथ के लिए तैयार कर लिया।

रञ्जना सेठ रामगोपाल की कार लिये हुए दिन भर स्त्री-समाज में घूमती रही। नगर की हर एक लेडी-डाक्टर, हर एक लेडी-प्रिन्सिपल, हर एक अध्यापिका और हर क शिक्षित महिला के पास वह अरुणा के साथ-साथ गयी और घर में तब वापस आयी, जब थककर चूर-चूर हो गयी।

अरुणा को कहीं-कहीं रञ्जना ने वार्तालाप में हिचकते हुए पाया। क्योंकि वह यह कभी भूल ही न पाती थी कि मैं एक रूपसी नारी हूँ। देहयष्टि के सौंदर्य में मेरी क्षमता सम्पूर्ण नगर में विख्यात है। अतएव वह लाड़ और प्यार की लोच के साथ नाते बनाने, आत्मीयता स्थापित करने और अवसर पर अपना काम साधन कर लेनें में प्रायः संकोच करने लगती थी। किन्तु रञ्जना यह भूल जाती थी कि वह एक कुमारी है, युवती है और उसकी प्रत्येक बात का एक अर्थ होता है, मूल्य होता है, अभिप्राय और मन्तव्य होता है। वह जिस नारी से मिलती, उसको या तो अपनी दीदी बना लेती या चाची। उसे सम्बन्धित व्यक्ति के कार्य से अपनी व्यावहारिक क्षमता विज्ञापित करने में संकोच के स्थान पर उत्साह रहता और रुचियों तथा कार्य की नयी-नयी दिशाओं के सम्बन्ध में अपनी नयी शैलियों का संकेत देने में सदा प्रसन्नता होती। वह दस-पन्द्रह मिनट के अन्दर एक ऐसा वातावरण बना लेती कि घर

की लड़कियाँ और बहुएँ, प्रौढ़ महिलाएँ और वृद्धा नारियाँ, उसे अपने घर और कुटुम्ब का एक सदस्य मानने लगतीं। धीरे-धीरे उसका कार्य-क्षेत्र घरों से लेकर सम्पूर्ण राजमार्गों और मुहल्लों की ओर बढ़ने लगा और एक सप्ताह के अन्दर चारों ओर रञ्जना और अरुणा, अरुणा और रञ्जना की चर्चा होने लगी।

"ग़ज़ब का काम करती हैं साहब ये दोनों लड़कियाँ !" एक साहब अपने एक मित्र से कह रहे थे—"मेरी लड़की सुभद्रा टेन्थ में पढ़ती है। उसको चित्र बनाने का शौक़ है। वह उस दिन बैठी हुई हंस का चित्र बना रही थी। और सब कुछ तो ठीक बनता था, लेकिन हंस की एक ही प्रकार की गर्दन बनाना वह जानती थी। रञ्जना ने पेन्सिल हाथ में लेकर एक-एक मिनट के अन्दर पाँच-छै प्रकार की ग्रीवाएँ बनाकर दिखला दीं। इसका फल यह हुआ कि मुझे अन्त में यह कह ही देना पड़ा कि सप्ताह में एक दिन अपना थोड़ा-सा समय तुमको इसके लिए देना ही पड़ेगा बेटी ! इसके उत्तर में जानते हो रञ्जना ने क्या जवाब दिया ?

"मैं तीन महीने के अन्दर इसका बनाया हुआ चित्र 'कर्मयुग' में छपवा दूँगी। विश्वास कीजिए, मैं झूठ नहीं बोलती।" और इसके बाद उसने कहा—"लेकिन चाचाजी, मेरा सौदा ज़रा मँहगा है। आप सोच लीजिये !" तब भाई मेरे, मेरे मुँह से निकल गया—"मैं इसके लिए तुमको भरपूर पुरस्कार देना स्वीकार करता हूँ। जो कुछ माँगो, सो ! बस ?" तब रञ्जना मुँह बनाकर हँस पड़ी, बोली—"उँहुँक, आप जानते हैं, कला का क्या पुरस्कार होता है ?" मेरी समझ में नहीं आया कि मैं इस प्रगल्भ लड़की को उस समय क्या उत्तर दूँ। तब वह आप ही बोल उठी—"अरे, आप तो सोच में पड़ गये ! चाचा जी, मैं आपसे रुपए नहीं माँग रही हूँ। मैं तो आपकी कृपा का प्रमाण-पत्र चाहती हूँ।" और यार, मैं तुमसे क्या बताऊँ कि मैं उस कल की छोकरी

के सामनें बिलकुल अवाक् हो गया। लेकिन एकदम चुप लगा जाने से मुझे जब हीनता का बोध होने लगा, तब मैंने स्पष्ट कह दिया—"पहेली मत बुझाओ बेटी साफ़-साफ़ कहो, तुम चाहती क्या हो ? और तब मिस्टर धवन, उसने कह दिया—"मैं अपने नगर की लाज बचाने के लिए आपसे एक भिक्षा चाहती हूँ। आप जानते हैं, नगर में यह जो कोलाहल मचा हुआ है, इसमें आपको सम्पूर्ण परिवार और मित्रवर्ग के मत दिलवाने हैं। मेरी प्रार्थना है कि आप काँग्रेस टिकट से खड़े होने वाले प्रदीप दद्दा को अपने समस्त मत दिलवानें का वचन दें।"

"इस प्रकार भाई मुझे उसको वचन देना ही पड़ा।"

एक दिन इन दोनों लड़कियों नें लेडी-डाक्टर्स के यहाँ धावा बोल दिया। कार पर बैठी हुई रञ्जना ने कहा—"दीदी, तुम मुझसे कुछ नाराज़ रहती हो ? तुम समझती हो कि मैं जो कुछ कर रही हूँ, वह अपने लिए कर रही हूँ ?"

अरुणा बोली—"रञ्जना, तुमसे मेरा कुछ छिपा है क्या ?"

रञ्जना ने पूछा—"छिपा नहीं है, तो तुम आगे-आगे क्यों नहीं रहती ? मेरा अवलम्ब क्यों चाहती हो ? जहाँ बोलूँ, वहाँ पहले मैं, जहाँ चलूँ, वहाँ पहले मैं। यहाँ तक कि यदि कहीं चाय और जलपान करूँ, तो भी पहले मैं। यह स्थिति अब मेरे लिए बड़ी चिन्ताजनक हो उठी है। आज सर्वत्र तुम्हीं को आगे रहना है। बिजली का हर एक बटन तुम्हीं को दबाना है। टेबिल की 'कालबेल' पर अँगुली तुम्हीं को रखनी है और हर एक बन्द घड़ी की चाभी तुम्हीं को भरनी है। जाह्नवी के तट पर जलराशि के भीतर पहले पैर तुमको डालने हैं। सुईंग मशीन के पावदान पर पहला पैर तुम्हीं को हिलाना है। वीणा की पहली झंकार उत्पन्न करने के लिए मिज़राब का पहला स्पर्श तुम्हारी ही अँगुली करेगी। यहाँ तक कि तुम्हीं को यह तय करना पड़ेगा कि अपने उद्देश्यकथन की शैली क्या हो। तुम्हें पता है, तुम कहाँ चल रही

हो ? हमें आज लेडी-डाक्टर्स को हस्तगत करना है। बताओ हम उनसे कैसे बात करेंगे ?"

अरुणा हँस पड़ी। बोली—"मैं क्या जानूँ ? तूने अपनी प्रतिभा से मेरा मुँह बन्द कर रखा है। मैं तो कभी-कभी यह भी सोचने लगती हूँ कि अब मुझे तेरे आगे अपने आपको 'सरेण्डर' करना चाहिये। दिन थे जब मैं तुमसे ईर्ष्या करती थी। लेकिन दिन हैं कि मैं तुझे प्यार करने लगी हूँ। सचमुच रञ्जना, तू नहीं जानती, मेरे दिल पर क्या बीत रही है।"

और इतना कहते-कहते अरुणा के नयन बोल उठे।

रञ्जना बोली—"दीदी, तुमको क्या हो गया है ? क्या तुमको मुझमें कोई अन्तर देख पड़ता है ? दीदी, अन्तर की रन्ध्र जब तक हमारे मन में बनी है, तब तक हम जीवन में कभी सफल नहीं हो सकते। मगर आज यह सब सोचने के लिए समय नहीं है। इस विषय को हम दोनों फिर कभी तय कर लेंगी। आओ, अब हम फिर मुख्य विषय पर आ जाएँ ! ज़रा सोचो, हमें लेडी-डाक्टर्स का सम्पूर्ण सहयोग, उनके अपने वृन्द का, सम्मिलित सहयोग प्राप्त करने के लिए करना क्या चाहिये ?"

अरुणा बोली—"तुमने क्या सोचा ?"

रञ्जना हँस पड़ी। बोली—"दीदी, अब तुम मेरी परीक्षा ले रही हो।"

अरुणा के मुँह से निकल गया—"रञ्जना, परीक्षा नहीं, मैं तुमसे दीक्षा ले रही हूँ।"

अब रञ्जना खिलखिलाकर हँस पड़ी,—"बोली तुम मुझे लज्जित कर रही हो दीदी।"

अरुणा के मुँह से निकल गया—"मैं तुमसे हृदय की बात कहूँ

रही हूँ। जो कुछ कह रही हूँ, वह मेरी अन्तरात्मा का स्वर है।"

तब रञ्जना ने कहा—"सच्ची बात तो यह है दीदी कि अभी तक इस विषय में मैंने कुछ तय नहीं कर पाया है। कभी-कभी ऐसा होता है कि जब हम इन्टरव्यू के लिये किसी परीक्षक के सामने जाते हैं तब तक यह स्थिर कर ही नहीं पाते कि हमसे प्रश्न क्या होगा और हम जवाब क्या देंगे!"

अरुणा बोल उठी—"रञ्जना, मैं तुमसे हार मानती हूँ।"

रञ्जना ने उत्तर दिया—"यह तुम्हारी विजय का चिह्न है दीदी, प्रेम-मार्ग में। जीत उसी की होती है, जो हार मानने के लिए सदा तत्पर रहता है। जानती हो क्यों? क्योंकि प्यार हार और जीत से ऊपर होता है।"

अरुणा ने हाथ बढ़ाकर रञ्जना को गले से लगा लिया। बोली—"मुझे नहीं मालूम था रञ्जना, तेरा अन्तःकरण इतना निर्मल है!"

तब तक कार आगे बढ़ गई। अब वह लेडी डाक्टर मिसेज़ रंधावा के सामने जा पहुँची। मिसेज़ रंधावा ने इन दोनों लड़कियों को कुछ सहमी हुई दृष्टि से देखा और तुरन्त कह दिया—"टेक योर सीट्स माई डियर यंग सिस्टर्स!"

रञ्जना बोली—"दीदी, क्षमा करें तो कुछ विनय करूँ!"

मिसेज़ रंधावा बोलीं—"कहो।"

रञ्जना बोल उठी—"हम जिस धरती पर उत्पन्न हुए हैं उसका नाम है भारत और भारत की भूमि की जो एक सार्वदेशिक भाषा है, उसका एक नाम है—हिन्दी। इसलिए हमको अपने घर के बोलचाल में तो हिन्दी भाषा का ही हाथ पकड़ना पड़ेगा।"

मिसेज़ रंधावा हँस पड़ीं। बोलीं—"मगर आप जानती हैं कि हम लोग अँग्रेज़ी बोलने के आदी हो गये हैं। इसलिए जानबूझ कर कभी

अँग्रेज़ी नहीं बोलते । अभ्यास ही कुछ ऐसा है कि अँग्रेज़ी मुँह से फूट पड़ती है ।"

अब अरुणा बोल उठी—"आप तो हमको जानती न होंगी !"

मिसेज़ रंधावा इकटक अरुणा की ओर देखती रह गई और तत्काल बोल उठीं—"मैं एक आप को ही नहीं, आपकी इस बहन को भी जानती हूँ । आपका नाम है अरुणा और इसका नाम है रञ्जना !"

रञ्जना आश्चर्य में पड़ गई । बोली—"मगर हम लोग तो पहली बार आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं । फिर आपको हमारा नाम कैसे मालूम हुआ ?"

बगल में रखे और मुड़े हुए उस दिन के दैनिक पत्र में छपे हुए दोनों चित्रों को रंधावा सामने उपस्थित करती हुई बोलीं—"देखिये, इस युगुल जोड़ी को आज इस नगर में कौन नहीं जानता !"

अब अरुणा और रञ्जना आश्चर्य और हर्ष की मधुरिमा के साथ खिलखिलाकर हँस पड़ीं । बोलीं—"वाह ! यह खूब रहा !"

तब रञ्जना बोली—"दोदी, मैं इसी सोच-विचार में थी कि अपना मन्तव्य मैं आपसे कहूँगी कैसे ! पर देख रही हूँ कि स्वयं आपने मेरे मन्तव्य का मुँह खोल दिया है । इसको कहते हैं भाग्य !"

मिसेज़ रंधावा हँस पड़ीं और एक इंजेक्शन को तैयार करती हुई बोलीं—"नहीं रञ्जना, इसको कहते हैं चान्स, ओह सौरी, आई मीन टु से संयोग !"

अब अरुणा को बोलना पड़ा । उसने कह दिया—"दीदी मुझको भी कोई सेवा बताइये ।"

मिसेज़ रंधावा बोलीं—"मैं तुमसे बहुत बड़ी सेवा लूँगी अरुणा । लेकिन आज नहीं ! इस चुनाव के बाद ।"

अब रञ्जना की बारी थी । उसने कह दिया—"लेकिन सेवा के

कार्य में देर-दार करने का अभ्यास मुझे नहीं है दीदी। मैं तो आज ही से प्रारम्भ कर देना चाहती हूँ।"

मिसेज़ रंधावा अब सोच में पड़ गईं और जब तक वे कुछ कहें, तब तक रञ्जना बोल उठी—"देखिये, मेरी योजना यह है कि साल भर में मैं आपको बारह ऐसी पेशेन्ट देनें का वचन देती हूँ, जो गुप्त रोगों के कारण अपना जीवन नारकीय बनाये हुए हैं; यद्यपि वे सब की सब लखपतियों को ब्याही गई हैं और इसका श्रीगणेश मैं आपसे कर रही हूँ। ऐसी दो मरीज़ स्त्रियाँ आज ही शाम को आपके यहाँ विज़िट करने आयेंगी।"

अब मिसेज़ रंधावा के मुँह से निकल गया—"मैंने तुम्हारी बड़ी प्रशंसा सुनी है रञ्जना, मगर मैं यह नहीं जानती थी कि तुम्हारी प्रतिभा इतनी ज्वलन्त है। तुम सब कुछ कर सकती हो। तुम्हारे हाथ में बड़ी शक्ति है। अच्छा, इस वक्त तो हम एक पेशेन्ट को देखने जा रही हैं, इसलिए हमारी बैठक आज शाम को आठ बजे होगी। आप दोनों हमारे घर पर आयेंगी और वहीं खाना खायेंगी। हम मालूम है किस 'मिशन' से आप लोग घूम रही हैं। और अभी से कोई 'डेफ़िनिट' वचन देना तो मुश्किल है, लेकिन दस बीस 'वोट्स' तो मैं प्रदीपजी के पक्ष में अवश्य दूँगी। अच्छा, चेयरियो, मस्ट कम टु माई प्लेस !"

इस प्रकार रञ्जना ने रातदिन लगकर इस नगर में एक ऐसा शक्तिशाली, विश्वसनीय और आशाप्रद वातावरण उपस्थित कर दिया कि दूसरे दिन प्रदीप को स्वयं रञ्जना और अरुणा से मिलने के लिए विवश होना पड़ा।

और जिस क्षण प्रदीप रञ्जना के सम्मुख पहुँचा, रञ्जना सोचने लगी—सफलता उन्हीं लोगों को नहीं मिलती, जिनका संकल्प सक्रिय और साधार नहीं होता।

अभी सन्ध्या पूरी तरह हो नहीं पाई थी। चढ़ती धूप क्षितिज, वन, उपवन मैदानों और खेतों से होती हुई उतर चुकी थी और छाया की शीतल बाहें सघन विस्तृत केश-राशि के साथ घरों के अन्दर फैलाती जा रही थी कि धीरे-धीरे पानी के बड़े-बड़े बूंद हेमा के आँगन में टपाटप गिरने लगे। बूंदों का वेग बढ़ता चला गया। पवन के झकोरे और भी तीव्र हो उठे। खिड़कियाँ फटाफट खुलनें लगीं। किवाड़ तड़ाक फड़ाक खुलने और बन्द होने लगे। बौछारें आकर आँगन में पड़ी हुई धान्य और वस्त्र-सामग्री को भिगोने लगीं। कहीं कपड़े जल्दी से उठा लिये गये तो चारपाइयाँ पड़ी रह गयीं। कहीं लकड़ियाँ उठा ली गयीं तो फैले हुए अन्न के साथ-साथ नीचे पड़े हुए चद्दर भी भीग गये। रिक्शों में बैठी हुई सवारियाँ अपनी वेश-भूषा वर्षा की बौछारों से बचा न सकी। बसों में बैठे हुए लोग फैल गये; क्योंकि विराम-स्थलों पर आनेवाले नव-यात्री बस पर चढ़ते-चढ़ते इतने भीग गये कि उन्हें जगह देना अपने कपड़ों की स्वच्छता के लिए हानिकर हो उठा। उनकी यह प्रतिक्रिया देखकर वे मन-ही-मन क्षुब्ध होकर रह गये। कहीं अन्दर रसोई में पानी टपक रहा है, कहीं सोने का कमरा ही जलमग्न हो गया है। कहीं कोई बाबूसाहब द्वार के भीतर आते ही कपड़े उतारकर उनका पानी निचोड़ने लगे और कहीं खिड़की खोलकर किसी कवि ने राजमार्ग पर जाती हुई आधुनिका युवतियों का भीगे वस्त्रों से बोलता हुआ तारुण्य जो देखा तो वह मन-ही-मन ऐसी मधुर भावना से भर गया कि उनके ओझल होते ही दर्पण में अपना मुँह देखकर, और कुछ न बना तो पके हुए मुहाँसे ही चुटकी से फोड़ने को उद्यत हो उठा।

हेमा कमरे में बैठी हुई वीरेन्द्र की प्रतीक्षा कर रही थी । पराठे बन चुके थे, साग अँगीठी पर पकता हुआ टुन-टुन बोल रहा था ।

इतने में छाता लगाये अधभीगे पोस्टमैन ने किवाड़ों की साँस के भीतर से पत्र फेंकते हुए कह दिया—"चिट्ठी लीजियेगा हेमा देवी"

पोस्टमैन चला गया । आँगन अभी गीला था । चिट्ठी पानी में पड़कर भीग गयी । हेमा ने झट से उसे उठा लिया । पत्र सरकारी कार्यालय का था । हेमा ने बड़ी उत्सुकता से उसको भीतर ले जाकर तौलिया से सुखाने की चेष्टा की । फिर अँगीठी के पास ले जाकर आँच के साथ उसका सम्पर्क स्थापित कर दिया । दो एक मिनट के अन्दर जब पत्र सूख गया, तो उसने उसे खोला । जो कुछ उसमें लिखा हुआ था, उसको पढ़ते-पढ़ते पहले तो उसका मुख प्रसन्नता से खिल उठा । उसके मन में आया, जब भाग्य साथ देता है तो मृतात्माएँ तक उठकर खड़ी हो जाती हैं ।

पत्र सचिवालय के एक विभाग का था । स्टनो-टाइपिस्ट के पद पर हेमा की नियुक्ति हो गई थी । वेतन ८०) + २५) से आरम्भ करने का उसमें उल्लेख किया गया था । हेमा सोचने लगी—दो सौ उनके और एक सौ पाँच हमारे, तीन सौ पाँच—अर्थात् दोनों मिलकर दस रुपये दैनिक से ऊपर! किन्तु फिर हेमा के मन का सारा उल्लास कम्पित हो उठा । उसे ऐसा जान पड़ा—इस पत्र के सारे अक्षर धुल गए हैं, मिट गए हैं, साफ़ हो गये हैं और उनके स्थान पर एक चित्र आ गया है—फोटोग्राफ़ एक व्यक्ति का—एक नेता का, एक सर्वशक्ति सम्पन्न अधिकारी का । एक आँधी उसके मन के भीतर हहर-हहर कर उठी । वह सोचने लगी—क्या यह उनके उच्चचरित्र का एक प्रमाण है? या केवल उस सहानुभूति का एक प्रतिबिम्ब जो, एक समर्थ व्यक्ति दूसरे को निष्काम भाव से दिया करता है?

तब हेमा के मन में आया—वह इस पत्र को फाड़कर फेंक दे और और वीरेन्द्र से उसकी चर्चा तक न करे। किन्तु फिर वह इस विचार में पड़ गयी—क्यों उनसे कुछ छिपाया जाय ! तब गुमसुम हेमा पत्र हाथ में लिये हुए कमरे के भीतर टहलने लगी।

अब रात हो गयी थी। अँधियारा बढ़ गया था; लेकिन पवन अब भी गति पर था। यकायक द्वार का कपाट खुला—जोर के एक धक्के के साथ। हेमा सोचने लगी—क्या भाग्य ने स्वयं आकर मेरे मकान के द्वार खोल दिये हैं यह उसी का संकेत है?

इतने में बिल्ली दायें से बायें जाती हुई एक बार हेमा की ओर देखती चली गयी। तभी यकायक हेमा को ध्यान आ गया—अरे, साग तो पक गया होगा।

इतने में वीरेन्द्र आ पहुँचा। आज उसके हाथ में बिस्किट का एक डिब्बा था। रेनकोट के भीतर से हाथ निकालता हुआ वह आते ही बोला—"लो हेमा, तुम नित्य कहा करती थीं—नमकीन बिस्किट के बिना चाय में मजा नहीं आता।"

पर उसी क्षण वीरेन्द्र ने लक्ष्य किया—हेमा सदा की भाँति मुसकुराई नहीं। तब उसने पूछा—"क्यों, तबीयत तो ठीक है न?"

अब हेमा के अधरों पर हास खेलने लगा। बोली—"जाओ, तुम बड़े 'वो' हो"

वीरेन्द्र ने साइकिल को भीतर लाते हुए पूछा—"यह 'वो' किस चिड़िया का नाम है हेमा?"

हेमा हँस पड़ी। बोली—"उस कपोत का, जो समय-समय पर 'गुटर-गूँ' बोलता है।

वीरेन्द्र ने हैट उतारकर खूंटी पर टाँगते हुए जवाब दिया—"नों, नेवर......कबूतर—मैंने सुना है—बड़ा कामुक पक्षी होता है।"

एक बार आँखें मींचती और फिर खोलती हुई हेमा के मुँह से अनायास निकल गया—"और तुम?"

प्रश्न के साथ दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े। हेमा बोली—"पानी आज बहुत ज़ोर का हो गया। बहुत दिनों के बाद ऐसा मज़ा आया। खिड़की खोल देती थी, तो बौछार मुझे अपने में लपेट लेती थी। दरवाज़ा खोल देती थी तो सावन मेरे कमरे में घुस आता था। और सुनो, मैं तो एक बार तुम्हारी छतरी लेकर ज़ीने से ऊपर भी गयी थी। भीगते हुए आस-पास के मकानों और मुहल्लों को देख-देखकर हरे-भरे वृक्षों को झूम-झूमकर नाचते हुए पाकर, फिर भूरे-भूरे-से आकाश में से नन्हीं-नन्हीं बूँदों का झरना देखकर और फिर पानी बन्द हो जानें पर परिवर्तित वेश-विन्यास में उड़ती हुई सागरिकाओं पर दृष्टि डालते हुए मेरा जी इतना खुश होता था कि ऐसे समय तुम अगर चुपचाप कहीं से उड़कर मेरे सामने आ जाते, तो...।"

वीरेन्द्र ने पूछा—"तो?"

हेमा बोली—"तो क्या? कपोत की तरह तुम भी 'गुटरगूँ' करने लगते।"

वीरेन्द्र बोला—मगर हेमा, तुम अब सीढ़ी से बहुत चढ़ा-उतरा मत करो। मुझे बड़ा डर लगता है। समझती हो कि नहीं!"

"अभी से! अरे जाओ!" मुँह बनाती हुई हेमा बोली—"जैसे तुम्हीं शरीर-शास्त्र के बहुत बड़े पण्डित हो। अच्छा जाओ, कपड़े तो उतारो।" फिर यकायक कुछ ध्यान आ जाते ही हेमा हिरनी सी उछलकर भाग खड़ी हुई।"...अर्रर्र, साग कहीं जल न गया हो!"

वीरेन्द्र कपड़े उतारने लगा। नया रेडियोसेट अभी इसी मास उसने ख़रीदा था। झट से उसने आँन कर दिया, तो गीत की एक कड़ी उसमें से फूट पड़ी।

"जब दिन आगे बढ़ जाते हैं, तब बात पड़ी रह जाती है।

जब प्रात: करवट लेता है, तब रात पड़ी रह जाती है॥"

कपड़े उतारकर, कपड़े बदलकर, वीरेन्द्र बाथ-रूम की ओर जाने लगा।

हेमा थाली में खाना परोसने लगी। फिर उसे ध्यान आ गया—'चिट्ठी की बात इनसे मैं कहूँ या न कहूँ? मैं जानती हूँ ये यही कह देंगे, 'हमें उन्नति के प्रत्येक पग को सँभालकर आगे रखना ही होगा। आगत अवसर को किसी प्रकार भविष्य के हाथ से न जाने देना होगा।'

हेमा फिर अपने से लड़ने लगी। करछली से नीचे के साग को ऊपर और ऊपर के साग को नीचे करती हुई वह सोचने लगी—'लेकिन सारे प्रश्नों का जो एक—मुख्य—प्रश्न है वह तो यह है कि उन्नति की परिभाषा क्या है?'

हेमा मन-ही-मन कहने लगी—'हमको और करना ही क्या है? कुछ आमदनी और बढ़ा लेने से हमारा जीवन क्या इससे भी अधिक सुखी होगा?' फिर उसे ध्यान आ गया, महाप्राण गोर्की ने कहा था—'एक स्थान पर स्थिर रहना हमारा धर्म नहीं। हमें सदा आगे बढ़ते जाना है।'

अब कटोरी में साग परसती हुई हेमा स्वयं अपने आपसे कह रही थी—'हो भी सकता है। हम दोनों मिलकर अपनी गृहस्थी में जिस सौख्य का सञ्चार करेंगे, वह सञ्चयन हमारी मर्यादा की वृद्धि करेगा। हमारे यश की पताका···और।' मन-ही-मन इतना कहती हुई···'यश की पताका' शब्द पर वह थोड़ा रुक गयी। एक उदासी फिर उसके मन पर छा गयी। उसे अपने अतीत का ध्यान हो आया। तभी वह सोचने लगी—'उन्होंने एक दिन कहा था—'आगे बढ़नेवाले पीछे फिरकर नहीं देखा करते हेमा···।'

इतने में पड़ोस के मकान से एक आदमी ने द्वार पर खड़े होकर कह दिया—"वीरेन्द्र बाबू, आपका फ़ोन है।"

वीरेन्द्र ने बाथरूम से ही उत्तर दिया—"अरे हेमा, ज़रा देख तो सही, कौन बुला रहा है और क्या कह रहा है ?"

आम की मीठी चटनी में अदरक का पुट देती हुई हेमा बोल उठी—"अब पहले खाना खा लो, उसके बाद चाहे जो करना।"

सिर पर साबुन मलते-मलते वीरेन्द्र ने उत्तर दिया—"मगर जब किसी ने फ़ोन किया है, तो उसकी बात भी तो सुन लेनी चाहिए।"

हेमा बोली—"सुन ली बात। मैं जानती हूँ, किसका फ़ोन है।"

इतने में उस व्यक्ति ने कह दिया—"तो मैं क्या कह दूँ जाकर ?"

वीरेन्द्र ने उत्तर दिया—"मैं अभी आया. दो मिनट में।"

नौकर चला गया।

वीरेन्द्र लुंगी पहन चुका था। झट से बनियान पहनकर फ़ोन की बात सुनने जा पहुँचा—"हलो, एस, वीरेन्द्र स्पीकिंग, हाँ, हाँ, अच्छा, बहुत-बहुत धन्यवाद···ह···ह···ह···अरे साहब चाहे जिस दिन आकर खाइए मिठाई—एक नहीं, सात-सात। हाँ, मगर वो आजकल ज़रा कम बाहर निकलती है। यूँ ही, कोई ख़ास बात नहीं। और कभी होगी, तो उसका हर्ष और आनन्द आपसे छिपा रहेगा ! हाँ, हाँ, मुझे मालूम नहीं हुआ था। मैं तो अभी अभी आया हूँ। आज तो नहीं साहब, बड़ी देर के बाद पानी थमा है और हवा में जो सरदी सी घुलती जान पड़ती है, बड़ी प्यारी लग रही है। अच्छा, कल ज़रूर—सबेरे नहीं दादा, शाम को, सो भी आठ के बाद ! हाँ, हाँ, अच्छा, इस कृपा के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद।" और इसके बाद वह उछलता हुआ हेमा के सामने आ पहुँचा और बोला—"तुमको एक खुशखबरी सुनाऊँ। मुझको अभी मालूम हुआ है।"

हेमा ने तब आलमारी से चिट्ठी निकालकर वीरेन्द्र को देते हुए कहा—"लो देखो, इसके अन्दर भी एक कबूतर बोल रहा है गुटरू गूँ।"

धीरे-धीरे अरुणा को इस बात का आभास होने लगा था कि प्रदीप की विजय सन्देहास्पद है। धीरे-धीरे हमारे अन्दर एक कलुष अपना घर बनाने लगा है। स्वयं एक बार सफल हो जाने पर हम नहीं चाहते कि हमारा साथी भी सफल हो। उसके मुँह पर तो हम हाँ-हाँ करते जाते हैं, यहाँ तक कि उसके आयोजनों का कार्यक्रम तक बनवाते रहते हैं, किन्तु जब अपने भाग का कर्त्तव्य सामने आता है तब पतंग का मन्झा ही कन्ने से काट देते हैं।

संशय संकल्प की सफलता के लिये साँप के दाँत का विष होता है और साँप का विष उस तरह नहीं फैलता जिस तरह बिजली का बटन दबा देनें पर ज्वलन्त प्रकाश। ज्यों-ज्यों चुनाव का दिन निकट आने लगा, त्यों-त्यों अरुणा का सन्देह भी बढ़ने लगा। इस सन्देह का भी एक कारण था।

तात्कालिक सफलता के प्रति अत्यधिक मोह और भावी नवनिर्माण के प्रति थोड़ा भी संशय प्रायः जीवन के उन्नतिशील मार्ग में एक ऐंसा अवरोध बन जाता है, जो तुरन्त दिखाई नहीं पड़ता, लेकिन बाद में बहुत बड़े पश्चात्ताप की भूमिका बनकर रहता है। अरुणा कुछ इसी प्रकृति की नारी थी। उसके अन्तर्मन में यह बात भी घर कर गई थी कि अगर प्रदीप की विजय भी हो गई, तो इसका सारा श्रेय रञ्जना को होगा। मैं फिर भी उसके पीछे ही बनी रहूँगी। वह समझती थी कि दस हज़ार रुपये का दान मेरी जैसी स्थिति की नारी के लिए बहुत बड़ी वस्तु है। अगर प्रदीप उसको स्वीकार कर लेते, तो मुझे यह बात सोचने का भी गौरव होता कि इसी निधि के उपयोग ने उनको सफल

बनाने में प्रमुख सहायता पहुँचाई है। कभी-कभी यह बात भी उसके मन में आती थी कि उन्होंने जान-बूझकर अपने त्याग का उत्कर्ष मुझे दिखलाने की चेष्टा की है। क्या इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वे मेरी अपेक्षा रञ्जना को ही अधिक स्थिरता के साथ अपने मन में बैठा चुके हैं। यह एक ऐसी स्थिति थी, जिससे उसका मन बार-बार भड़क उठता था। जो मेरा नहीं बनना चाहता, उसकी सफलताओं का भी मेरे जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। मुझे देखना है कि अब वे कैसे सफल होते हैं।

अरुणा एक मेडिकल स्टोर में बैठी हुई थी। वहाँ श्रीमान् हरिप्रसाद भार्गव किसी को फ़ोन कर रहे थे। उनकी शब्दावली से कुछ ऐसा ध्वनित हो गया कि जेतली साहब प्रदीप के पक्ष में भाषण देने के लिये आयेंगे ही, यह निश्चित नहीं है।

नगर भर में 'जीपकार' घूम-घूम कर यह घोषणा कर चुकी थी कि परेड के मैदान में आज शाम को सात बजे जेतली साहब का एक महत्त्वपूर्ण भाषण होगा। परन्तु हुआ यह कि जेतली साहब कार से इस नगर में आये और दो घण्टे बाद वापिस लौट गये। न वे प्रदीप से मिले और न उनको उन्होंने अपने आगमन की कोई सूचना दी। परिणाम यह हुआ कि उस दिन परेड के मैदान में स्थानीय नेताओं के भाषण होकर रह गये।

कभी-कभी किसी से मिलने के लिये हम सदा उत्सुक तो बने रहते हैं, पर मिल नहीं पाते। इसलिये नहीं कि कोई हमें उनसे मिलने नहीं देता, वरन् इसलिये कि हम स्वयं उनसे मिलने की कोई चेष्टा नहीं करते। हीन भावनाएँ हमारे संकल्पों को अपने जबड़ों के नीचे दबा-दबा कर रखने लगती हैं। परिणाम यह होता है कि हम स्वयं आगे नहीं बढ़ते और सदा ही अपने विरुद्ध सोचते रहते हैं।

कभी-कभी अरुणा को जेतली साहब का ध्यान आ जाता। वह यह भी सोचने लगती कि प्रदीप का सान्निध्य और प्राण-सम्पर्क प्राप्त करने की अपेक्षा यदि वह जेतली साहब की ओर दृष्टि डालती तो अब तक न जाने कहाँ पहुँच जाती। जब से वीरेन्द्र लखनऊ चला गया था, तब से तो यह बात और भी स्पष्ट हो गयी थी।

थोड़ी देर बाद जब श्रीमान् हरिप्रसाद ने फ़ोन पर बातचीत की तो उससे यह प्रकट हुआ कि जैतली साहब उनके बँगले पर आ गये हैं। और इतना कहकर वह जब अपनी गाड़ी पर बैठने लगे, तो एक बार अरुणा की ओर देखकर बोले—"चलो अरुणा, तुमको घर छोड़ दूँ।"

कुछ सोचती हुई अरुणा बोली—"अच्छा हाँ, चलिये।" और वह श्रीमान् भार्गव के साथ उनकी गाड़ी में बैठकर चल दी।

अरुणा आज वर्षों से जो स्वप्न देखती आ रही थी अब वह टूट रहा था। उसने अपनी कल्पना में सोने का जो महल बनाया था, वह अब उसको पत्थर के कोयले की राख का ढेर और सो भी सड़क के किनारे बिखरा पड़ा हुआ जान पड़ता था। प्रतिकूल भावनाएँ पिस्टल की गोला की तरह उसके मस्तिष्क पर लगकर रक्त की धार सी छोड़ती हुई उसके सिर के भीतर घुसती जाती थीं।

"यह व्यक्ति कुछ अभागा है। पहले इसकी गोदाम में आग लगी, अब यह काँग्रेस के टिकट से जो एक सीट के लिये खड़ा भी हो रहा है तो इसकी विजय ख़तरे में है।" यह सोचकर वह एकदम से काँप उठी। एक बार तो उसे ऐसा जान पड़ा कि मैं पागल हो जाऊँगी। फिर उसे ध्यान आया कि एक असफल व्यक्ति के गले से लगकर मैं करूँगी भी क्या? पिछले वर्ष की सारी घटनावली उसकी दृष्टि-कल्पना के सम्मुख साकार हो उठी। उसने उनको प्राप्त करने के लिये क्या-क्या नहीं किया? किन्तु सब व्यर्थ! अब वह सोचने लगी कि वास्तव में जीवन की सारी कर्मधारायें पानी के बुलबुलों के समान हैं। उसे ऐसा जान पड़ा

कि वह मूर्छित हो जायेगी। बार-बार वह अपने से पूछती—"अगर उन्होंने मुझे स्वीकार कर लिया होता तो इस समय मेरी क्या स्थिति होती ?" मैं यही न सोचा करती कि मैं उस व्यक्ति की अंगना हूँ जो राजनैतिक क्षेत्र का एक हारा हुआ योद्धा है। और किसी युद्ध की हारी हुई सेना का घायल सिपाही भी शत्रु-देश की दया का पात्र बनकर हास्पिटल में एक चारपाई पा जाता है। लेकिन राजनैतिक क्षेत्र में तो जो नेता एक बार हार जाता है, एक बार जो जनता की दृष्टि से गिर जाता है उसकी स्थिति तो गरम दूध के गिलास पर पड़ी हुई उस मक्खी के समान होती है जो उँगली के नाखून से उठाकर फ़र्श पर फेंक दी जाती है।...मैं कहीं की न रहूँगी। मेरे मुँह पर कालिख पुत जायगी। यह कितना अच्छा हुआ कि उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार न की। यह कितना अच्छा हुआ कि उन्होंने अपने अंहकार के मद में पड़कर मेरा जो अपमान कर दिया, वही आज मेरा सौभाग्य वन गया ! मैं कितनी बच गयी !

आदर्श की छाया में पनपने और बढ़नेवाले व्यक्ति जीवन में केवल एक बार मरते हैं, किन्तु अवसरों की ताक में रहकर समय-समय पर अपना रंग बदलने वाले व्यक्ति जीवन में कई बार जीते और कई बार मरते हैं।

मिस्टर भार्गव जब अरुणा के मकान के पास पहुँचकर अपनी गाड़ी खड़ी करने लगे तो अरुणा बोली—"मैं भी चलूँगी वहीं चाचा जी। दो मिनट के लिये मुझे भी जेतली साहब से मिलना है।" दो मिनट बाद जब अरुणा जेतली साहब के सामने पहुँची तो उन्होंने चश्मे का लैंस साफ़ करते हुए कह दिया—"आओ अरुणा, तुम तो कभी दिखलायी ही नहीं पड़तों।" संकुचित अरुणा के मुँह से निकल गया—"मैं इस चुनाव में ज़रा...!"

जेतली साहब मुसकराते हुए बोले—"ज़रा क्यों, मैंने सुना है, बहुत बड़ा भाग ले रही हो।"

कोई उत्तर न देकर अरुणा उन लोगों की बातें सुनती रही, जो जेतली साहब से मिलने आये हुए थे। थोड़ी देर में जब सब लोग धीरे-धीरे चल दिये तब भार्गव जी ने जेतली साहब के लिये ट्रे में चाय भिजवा दी। सेवक लौटकर जा ही रहा था कि जेतली साहब बोले—"दूध कुछ कम पड़ जायगा। और देखो, एक कप और लेते आना। अरुणा, तुम चाय पियोगी न ?"

साहस के साथ सहास अरुणा बोली—"वैसे तो कोई इच्छा न थी; मगर अब आप की चाय का भी तो कुछ ख्याल...।"

"करना ही पड़ेगा" कहते हुए जेतली साहब हँस पड़े।

अरुणा ने चाय ढालने के लिए हाथ बढ़ाते हुए कह दिया—"आप तो मुझे लज्जित कर रहे हैं।"

जेतली साहब सिगरेट के पैकेट का पारदर्शक चिकना आवरण खोलते हुए बोले—"आजकल तुम कर क्या रही हो अरुणा ?"

अरुणा ने फीकी मुसकान के साथ उत्तर दिया—"महाजनो येन गतः स पंथः।"

फिर चाय कप में ढालकर अरुणा ने जेतली साहब के आगे बढ़ा दी और टोस्ट और मक्खन के प्लेट्स भी ट्रे से उठाकर उनके आगे रख दिये। इतने में नौकर दूध ले आया और श्रीमान् भार्गव ने एक नमकीन प्लेट लाते हुए कहा—"वाइफ इस समय एक रिश्तेदारी में गयी हुई हैं इसलिये इस समय कोई खास चीज़ तैयार न हो सकी।"

जेतली साहब बोले—"मैं तो वर्तमान को ही राजा मानता हूँ, बाकी सब तो कहने की बातें हैं। भविष्य कोई जानता नहीं और अतीत अनुचर होता है। इसलिये मिस्टर भार्गव, जो उपस्थित है वही बहुत ठीक है।"

जेतली साहब की इस बात को सुनकर अरुणा हँस पड़ी। बोली—"अज्ञात होने के कारण ही हम भविष्य के महत्त्व को किसी प्रकार गिरा

नहीं सकते, क्योंकि हम उसके निर्माता होते हैं। और दुनिया के लिये भले ही भविष्य अज्ञात हो, लेकिन एक विचारक और कर्मठ महारथी के लिये भविष्य कभी अज्ञात नहीं होता।"

जेतली साहब ने टोस्ट पर दाँत मारते हुए कह दिया "यों तो ज्योतिषी के लिए भी भविष्य अज्ञात नहीं होता।" फिर हा हा हा करके हँसने लगे और थोड़ा रुककर बोले—"जहाँ तक सिद्धान्त की बात है मैं तुमसे सहमत हूँ अरुणा। किन्तु सिद्धान्त और व्यवहार के बीच मे बड़ा अन्तर होता है। बहुतेरे सिद्धान्त पढ़ने, सुनने और सोचने में हिमालय जैसे ऊँचे उठे हुए जान पड़ते हैं। किन्तु काल के चरण उनको मिनटों में मिथ्या सिद्ध कर देते हैं। खैर, ये बातें तो सदा चलती ही रहेंगी। ये कभी समाप्त नहीं होंगी। पर मेरा मतलब तुमसे यह जानने का था कि आखिर तुम्हारा इरादा क्या है—अपने सम्बन्ध में तुमने तैं क्या किया है?"

अरुणा संकोच में पड़ गयी। वह गम्भीर हो उठी। फिर बोली—"इस समय तो मैं एक इण्टर कालेज में लगी हुई हूँ।"

जेतली साहब ने पहला प्याला समाप्त करते हुए पूछा—"एम० ए० में तुम्हारा डिवीज़न कौन सा रहा?"

अरुणा ने मुसकराते हुए कहा—"एक पर्चा ज़रा खराब हो गया था इसलिए पाँच नम्बरों से प्रथम श्रेणी पाती पाती रह गयी।"

चाय की चुसकी लेते हुए, जेतली साहब बोले—"हाँ, आजकल तो.........! मगर ऐसा ही था, तो तुमको पहले से प्रयत्न कर लेना था।"

अरुणा फिर गम्भीर हो गयी। कुछ सोचती सी बोली—"बात यह है दादा कि परिचय का लाभ उठाना मुझको नहीं आता। 'मेरा यह काम आप कर दीजिये' बस यही एक वाक्य कहना मेरे लिये कठिन है।"

जेतली साहब मुसकरा उठे।

अरुणा ने उनके प्याले को पुनः चाय से भरते हुए कहना चाहा—मैंने यह बात प्रदीप दद्दा से भी नहीं कही, जिनसे मेरा कुछ छिपा हुआ न था। पर यह सोचती हुई वह कुछ गम्भीर और उन्मन-सी भी हो उठी।

इतने में भार्गवजी बोल उठे—"जेतली साहब ऐसी सीधी और संकोचशील लड़की कानपुर के पढ़े-लिखे समाज में मुश्किल से मिलेगी।" और इतना कहकर जब वह भीतर जाने लगे तब जेतली साहब बोल उठे—"तुम अगर लखनऊ आना चाहो तो म तुमको एक इन्टर कालेज में प्रिन्सिपल की कुर्सी पर बिठा सकता हूँ।...अरे तुमने अपने लिये तो प्याला बनाया ही नहीं और मैंने भी बातों में कुछ ध्यान दिया नहीं। तो यह रहा तुम्हारे हिस्से का टोस्ट। और यह रहीं पकौड़ियाँ। माफ करना। बड़ी ग़नीमत हुई। ख़ैर कहो; मुझे ध्यान आ गया, नहीं तो इसी बात को हफ्तों सोचता रहता और जीवन-भर भूल न पाता।"

अरुणा से कुछ कहते न बना। तब जेतली साहब ने चाय की टेबल छोड़कर अपना अटैची खोला और एक राइटिंग पैड निकालकर अरुणा के सामने रखते हुए कह दिया—"आवेदन-पत्र अभी लिख तो दो, झट से।"

इतने में भार्गव साहब के फोन की घण्टी बज उठी। रिसीवर जो उन्होंने अपने कान से लगाया तो वे बोल उठे—"हाँ-हाँ, नहीं तो। यहाँ तो नहीं आये। हाँ-हाँ आने वाले थे, मगर अभी तक तो आये नहीं। अच्छा-अच्छा कह दूँगा। नहीं-नहीं आपका संदेसा मैं भला भूल सकता हूँ। आप विश्वास कीजिये यह तो बिल्कुल अपने घर की बात है।"

यह फोन कहीं से प्रदीप ने किया था और यह पूछताँछ जेतली साहब के सम्बन्ध में थी।

अरुणा ने जब आवेदन-पत्र लिख दिया तो जेतली साहब बोल

उठे—"मगर कितना अच्छा हो कि तुम मेरे साथ चली चलो। अगर तुमको कोई आपत्ति न हो। क्योंकि........."

अरुणा कुछ विचार में पड़ गयी।

और अरुणा को चुप देखकर जेतली साहब कमरे में टहलते हुए बोले—"जीवन में संयोग बार-बार नहीं आते अरुणा। और संयोगों से समय पर लाभ न उठाने वाला व्यक्ति जीवन में बार-बार रोता है।"

अरुणा अब भी तुरन्त कोई उत्तर न दे सकी। किन्तु थोड़ी देर बाद जब जेतली साहब लखनऊ को वापिस जाने लगे, तो अरुणा उनके साथ था।

: ४३ :

संसार में कुछ व्यक्ति एक विशेष प्रकृति के होते हैं। वे अपने मन में एक मोह पाले हुए रहते हैं। मान-अपमान, प्रतिष्ठा और कीर्ति-हानि के बीच में वे एक दीवाल बनाकर रहते हैं। वे प्रत्यक्ष हानि देखकर तिलमिला उठते हैं। ह्रास और अवनति का स्वप्न मात्र देखकर वे अप्रतिभ हो जाते हैं। उनका शौर्य और साहस, उनकी संलग्नता और प्रयत्नशीलता की भावना मर जाती है। जैसे दो व्यक्तियों में जो पहले तमाचा खा जाता है, प्रायः फिर उसका हाथ नहीं उठता और वह हाथा-पाई के युद्ध में प्रायः मार ही खाता रहता है। परन्तु दूसरे प्रकार के व्यक्ति इससे बिल्कुल विपरीत हुआ करते हैं। वे वीरता में, दर्प में, सर्प जाति के होते हैं कि एक बार छू भर जाने पर अपना दंशाक्रोश व्यवहार में लाये बिना चूकते नहीं। अपमान उनके साहस को कई गुना बढ़ा देता है, अप्रतिष्ठा उनको हानि नहीं पहुँचा पाती।

वे उस समय यह नहीं देखते कि परिणाम क्या होगा। ऐसे समय वे मरने-मारने पर तुल जाते हैं।

प्रारम्भ में प्रदीप ने देखा कि विजय हमारी निश्चित है। इसलिए प्रचार और मत-संग्रह का काम उसने जिन लोगों को सौंपा, उन पर उसका पूरा विश्वास था। पर कार्य ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया, त्यों-त्यों वस्तुस्थिति की नग्नता का बराबर परिचय मिलता चला गया। उसे यह भी विदित हो गया कि किन-किन क्षेत्रों में विजय निश्चित है और किन में अनिश्चित। इसी बीच उसे मालूम हुआ कि जेतली साहब का आश्वासन एक प्रवञ्चना, एक विश्वासघात, एक राजनीतिक दाँव और एक प्रहसन था। उसे यह भी पता चल गया कि शैतान के दाँत अब बहुत पैने हो गए हैं। हमारे ही बीच में ऐसे लोग हैं, जो अपने स्वार्थसाधन के लिए अपना चिरसंचित विश्वास भी चाँदी के चन्द टुकड़ों पर बेच डालते हैं। उसने अनुभव किया कि हमारे ही मित्रों में ऐसे व्यक्ति हैं, जो सामने तो आरती उतारते हैं किन्तु पीठ पीछे उपहास करने में कोई कसर बाकी नहीं रखते। परिस्थिति के इस मोड़ का यथार्थ अनुभव उसे तब हुआ, जब उन लोगों ने कन्नी काटना शुरू कर दिया, जो वे उसके सगे कहलाते थे। अपने स्वजातीय बान्धव, अपने साथ के उठने-बैठने वाले आत्मीय स्वजन, अपने भक्त और शिष्य लोग ! किसी ने वचन दिया कि हम प्रातःकाल आठ बजे आपको यहीं दिखलाई पड़ेंगे। परन्तु आठ बजे, नौ बजे, दस बजे और फिर रात के भी दस बज गए, किन्तु उनका पता ही न चला कि वे दिन-भर रहे कहाँ और गए कहाँ ? किसा ने वचन दिया—हमारी गाड़ी सवेरे तो नहीं, क्योंकि माता जी उस पर गंगास्नान को जाती हैं और नौ-दस बजे बाबू जी मिल जाते हैं, लेकिन हाँ ग्यारह बजे गाड़ी आपको ज़रूर मिल जायगी, बल्कि आपको द्वार पर ही खड़ी मिलेगी। परन्तु जब उन्होंने अपने नौकर को भेजा, तो उत्तर मिला—"क्षमा करें, आज तो गाड़ी खाली नहीं है।" किसी ने अपनी ओर से यह

प्रस्ताव किया था कि हम अपने चार कार्यकर्त्ता लेखक आपके यहाँ भेज देंगे, जो आपके टिकटों की खानापूरी का कार्य करेंगे। परन्तु फोन से पूछने पर मालूम हुआ कि उनमें से एक बीमार है, दूसरे अपनी धर्मपत्नी को लेने ससुराल गए हैं, तीसरे के यहाँ कोई मर गया है और बेचारे इस समय भैरोंघाट पर होंगे और चौथे के सम्बन्ध में यह कहा गया कि वे अभी बैंक से नहीं लौटे।

उस दिन अरुणा ने एक कोरा चैक उसके सामने रख दिया था। और अश्रुपूर्ण नेत्रों से उसने कहा था—"अगर आज तुमने मेरा अनुरोध स्वीकार न किया, तो होगा कुछ नहीं केवल एक जान चली जायगी।" किन्तु आज जब प्रदीप अरुणा के घर गया, तो उसे उत्तर मिला कि वह तो कल से घर लौटी ही नहीं; कहाँ गई कुछ पता नहीं !

इन परिस्थितियों ने प्रदीप के मन-प्राण को एकदम से हिला दिया था। उसकी अन्तरात्मा अब पुकार-पुकार कर उससे कहने लगी—"यह तुम्हारी परीक्षा का समय है। तुम कितने सजग रह सकते हो, अपने हृदय और मस्तिष्क को कितना संतुलित बनाए रखते हो, अपने पक्षवालों के विश्वास को कितना स्थिर, दृढ़ और जाकरूक बनाए रख सकते हो, इसकी जाँच का बस यही एक अवसर तुम्हारे सामने है। मित्रों के अन्दर उनकी भावनाओं के भीतर पड़ी हुई उन संभावनाओं और ग़लतफ़हमियों के निवारण की यही पावन वेला है, शत्रुओं का हृदय-परिवर्तन का यही एक मात्र शुभ मुहूर्त्त है। आज यदि तुम अपने मित्रों को स्थिर न रख सके, आज यदि तुम शत्रुओं का हृदय जीत न सके, तो तुम्हारा ज्ञान और अध्ययन, तपस्या और साधना, वक्तृत्वकला का अपना चिरसंचित गौरव, वाणी पर रहनेवाला सतत पूर्णाधिकार व्यर्थ है। चेत जाओ, प्रदीप ! अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। अपने मौखिक सहानुभूतिवाले

मित्रों से बचो, सक्रिय सहानुभूतिवाले साधारण मज़दूर गुमाश्ते, पल्लेदार, मुनीम, क्लर्क, रास्ते के दुकानदार, ताँगेवाले, कुली, बुकिंग आफ़िस के क्लर्क, रेल्वे स्टेशन के टी० टी० आईज़, पोस्ट आफ़िस बाबू, पोस्टमैन, तारघर के बाबू, सरसैयाघाट के पण्डे, रेस्तोराँ के ब्याय, होटिलों के बावर्ची, रिक्शावाले, भिन्न-भिन्न बाज़ारों के कर्मचारियों की अपनी-अपनी संगठित यूनियन के सदस्य, अपने भाषणों के श्रोतागण, नगर के दैनिक पत्रों के हाकर और मिलों, फैक्टरियों और सरकारी-अर्धसरकारी कार्यालयों के पदाधिकारियों, चक्की, आरामशीन, लोहेवाले, लोहे के काम करनेवाले मज़दूर, बरतनवाले, कपड़े की दूकानों पर कपड़ा दिखलाने वाले कर्मचारी, पाठशालाओं, विद्यालयों, मकतबों, हाई स्कूलों, इंटरमीडिएट कालेजों और डिग्री कालेजों के सम्पूर्ण अध्यापक आदि-आदि सम्पूर्ण जनता के प्रतिनिधियों तक तुमको स्वयं अपनी पुकार पहुँचानी है, अपना सन्देश भेजना है और उनसे वचन लेना है विनय से, प्यार से, उत्साह से, नातों से, आकर्षण की नाना शैलियों से और फिर भविष्य के आशाप्रद वचनों से उनका मन, हृदय, अन्तःकरण तुमको जीतना है—आकर्षित करना है। तुमको आज जन-जन के अन्दर यह भावना उत्पन्न कर देनी है कि नेता का धर्म जनता की सेवा है, नेता का कर्त्तव्य वाणी-विलास नहीं, कर्तव्य के क्षत्र में अपनी बलि, आहुति देना है। जो लोग वचन देने के बाद फिर कार्य के समय अवकाशाभाव का बहाना बनाते हैं, वे अवसरवादी हैं, धूर्त हैं ! यदि तुमको सच्चे स्वराज्य की स्थापना करनी है, तो अवसरवादियों के जाल से बचना सीखो। यदि तुमको इस महादेश में सत्य की पूजा, सत्य का गौरव और सच्चा न्याय स्थापित करना है, तो एक ही रास्ता आज तुम्हारे सामने है कि अपना मत उसको दो, जो सत्य की परीक्षा में सदा खरा उतरा है।

प्रदीप ने सोचा था कि उस दिन मतदाताओं को बुलाने के लिए

जो कार्यकर्त्ता भेजे जायंगे, उनके आवागमन में यथेष्ट व्यय होगा। उनके खाने-पीने का प्रबन्ध भी हमी को करना पड़ेगा। मतदाताओं में कुछ ऐसे व्यक्ति भी होंगे, जो अपने परिचितों और इष्टमित्रों को बुला लाने के लिए अपनी इच्छा प्रकट करेंगे। उनको सवारी से आने का खर्चा देना होगा। कुछ लोगों को समय-समय पर पान-बीड़ी, सिगरेट की तलब सताएगी। किसी को प्यास लगेगी और कुछ लोग ऐसे भी होंगे, जो दिन-रात काम करते-करते थक जायँगे। तब उनको दूध, लस्सी, पूरी-मिठाई खिलाने-पिलाने की भी आवश्यकता पड़ेगी। 'भूखे भजन न होंहि गोपाला।' चुनाव के काम में सोलह आने एकादशी का व्रत रखने से काम नहीं चलेगा। इसलिए दस हज़ार की वह निधि तो मेरे काम आ ही जायगी, जो उस दिन उसे अरुणा दे रही थी। एक बहुत बड़ा सहारा वह अपने हृदय में सुरक्षित किए बैठा था। किन्तु यह कैसी होनहार है कि बिलकुल ठीक अवसर पर अरुणा ने आज मेरा साथ देने से मुँह मोड़ लिया !

प्रदीप ज्यों-ज्यों इस विषय को सोचता था, त्यों-त्यों अशुभ और अमांगलिक कल्पनाएँ उसकी छाती पर भाले की तरह घुस-घुस जाती थीं। किन्तु स्थिति की इस भयानकता के समय भी प्रदीप के मन में साहस और उत्साह की एक अमर ज्योति जाग रही थी। एक दिन वह अपने एक गुरु के पास जा पहुँचा। वे नगर के एक सम्भ्रान्त प्रोफ़ेसर थे। प्रातः-काल सात बजते ही जब प्रदीप उनके पास पहुँचा, तो आचार्य दिवाकर न मुस्कराते हुए प्रश्न कर दिया—"कहो प्रदीप, आज कैसे आए ?"

प्रदीप ने उत्तर दिया—'गुरुवर का आशीर्वाद लेने आया हूँ। चुनाव का समय सामने है न !"

दिवाकर जी बोले—"तुम्हारी विजय निश्चित है प्रदीप ! तुमको कोई हरा नहीं सकता।"

प्रदीप ने उत्तर दिया—"लेकिन गुरुदेव, समय मेरे साथ प्रवञ्चना कर रहा है। काल मुझे खा जाना चाहता है। मेरे सगे-सगे से मित्र और आत्मीय अपने दिए हुए वचनों को भूल गए हैं और आपको यह तो विदित ही है कि हमारे घर की स्थिति भी अब पहले जैसी नहीं है। इस कार्य में आप जानते हैं कितना अधिक भव्य होता है। यह सही है कि काँग्रेस का अवलम्ब बहुत बड़ा सौभाग्य है मेरे लिए, किन्तु यह भी सही है कि जिस व्यक्ति को उसने अपना प्रतिनिधि बनाया है, उसके वचन और कर्म की एक लाग है, एक प्रतिष्ठा है। आपको पता है कि इस कार्य के निमित्त काँग्रेस से एक पैसा लेना भी स्वीकार नहीं किया। यह सही है कि काँग्रेस के मत के आगे, सिद्धान्त के आगे, अनुशासन के आगे मेरे हाथ बंधे हुए हैं, मेरा विचार-स्वातन्त्र्य बिक गया है, मैं व्यक्ति नहीं रह गया हूँ, मेरी वाणी संस्था की, संगठन की, और सम्पूर्ण देश की वाणी है; लेकिन मेरा अपना भी तो कुछ गौरव है ! मैं यह स्वीकार करता हूँ कि संसार में एक ही जाति है जो सबसे अधिक अहंवादी होती है और वह जाति या तो नेता की है या कलाकार की ! कांग्रेस टिकट के नाम पर जो लोग कांग्रेस का पैसा उड़ाते हैं, बेदर्दी और बेरहमी के साथ, स्वार्थों के मोह के साथ, अविवेक और आत्मीय सम्बन्धों के नातों के साथ, वे अपने को ही धोखा नहीं देते, वे देश-भर को धोखा देते हैं ! तो गुरुदेव, स्थिति यह है कि 'घन घमण्ड नभ गरजत घोरा, टका हीन डरपत मन मोरा' !"

आचार्य दिवाकर हँसे और बोले—"तो सरस्वतीकुमार को तुम लक्ष्मीचन्द्र कबसे समझने लगे ?"

प्रदीप ने उत्तर दिया—"वास्तव में मैं आपसे आर्थिक सहायता लेने नहीं आया था। मैं तो गुरुदेव के आशीर्वाद को प्रमाणित करने के कुछ उपयोगी साधन और उपकरण के अनुसंधान में आया हूँ।"

आचार्य दिवाकर प्रदीप की पीठ ठोंकते हुए बोल उठे—"तुम्हारे शिष्यत्व का मुझे बड़ा अभिमान रहा है प्रदीप ! और उस अभिमान की रक्षा होनी ही चाहिए ! बस, यही उत्तरदायित्व मैं इस समय अनुभव कर रहा हूँ।"

सामाजिक प्रतिष्ठा उसी व्यक्ति को वरण करती है, जिसकी भूमिका बहुत पवित्र और पुष्ट होती है। प्रदीप ने अब तक के जीवन में ऐसा कोई कार्य नहीं किया कि उसका वचन कभी पूरा न हुआ हो। उसने सदा ही ऐसे कार्यों में अपने को अग्रसर रक्खा था, जो पहले से प्रतिदान की थोड़ी भी आकाँक्षा नहीं रखते थे। बल यदि उनमें था, तो केवल आदान का।

अभी दो वर्ष नहीं हुए थे, आचार्य दिवाकर की बड़ी कन्या मानवती के विवाहोपलक्ष में प्रदीप एक-सौ-एक मुद्रा की भेंट कर गया था।—और इन्हीं गुरुदेव ने इस बात को दस-बीस स्थलों पर बड़े हर्ष और अभिमान के साथ कहा था—'मेरे शताधिक शिष्यों में ऐसा एक प्रदीप भी है।'

गुरुदेव को इस समय वह दिन याद आ गया, जब प्रदीप के इसी रुपए से उन्होंने विवाह की एक बड़ी रस्म पूरी की थी।

तात्पर्य यह कि अवलम्ब और सम्बल, सहायता और सहयोग समाज में उसी व्यक्ति को मिलता है, जिसकी प्रस्तावना उच्च श्रेणी की होती है। आदान कभी प्रतिदान की शर्त लेकर आगे नहीं बढ़ता। उसका भावना पवित्र होती है। किन्तु, इस जगत और समाज की रचना का यह एक बहुत बड़ा रहस्य है कि आदान अपने जीवन-काल में कभी निष्क्रिय नहीं रहता। वह अपना बदला प्राप्त करके ही शान्त होता है। बाज़ार की दुनियाँ जिसे 'लेन-देन' का खाता समझती है, सामाजिक संगठन के क्षेत्र में उसका स्वरूप इसी 'आदान-प्रदान' का रहता है। वह जितना भावनापूर्ण है, जितना मानवी सहानुभूति का एक सक्रिय

संकेत है, उतना ही समाज के वैज्ञानिक संगठन का एक विश्वसनीय वैज्ञानिक आधार भी है ।

आचार्य दिवाकर बोल उठे—"देखो प्रदीप, मेरे सामने समस्या तो बहुत बड़ी है, लेकिन यह आज पूरी होकर रहेगी । देखो, तुम बारह-एक बजे हमारे यहाँ आ जाना । तब तक हम कुछ टटोल रक्खेंगे । पहले से कहना ठीक नहीं होता । लेकिन शिष्य की मनोकामना पूरी होकर रहेगी ।"

गुरुदेव का यह उत्तर सुनकर प्रदीप ने अपना मस्तक उनके चरणों पर रख दिया । आचार्य दिवाकर ने अपने दोनों आजानुबाहुओं को उठाकर आशीर्वाद दिया—"विजय करो प्रदीप, संसार का दुःख-दैन्य दूर करने के लिए, तुम्हारी विजय जितनी आवश्यक है, उतना ही निश्चित भी है ।"

प्रदीप जब आचार्य दिवाकर के घर से विदा होकर राजमार्ग की ओर बढ़ा, तब उसने अनुभव किया कि मेरे वक्ष में सहस्र-सहस्र हाथियों का बल है, सिंहों का दर्प है, कल्पवृक्षों का अवलम्ब है । भगवान् मुझे बल दे कि सत्य और साधना के पुजारी का संकल्प पूरा होकर रहे ।

कर्मक्षेत्र की एक सफलता शत-शत सफलताओं को जन्म देती है । प्रदीप जब रिक्शे पर बैठा, तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे कोई उसके कानों में कह रहा हो—अरुणा, तुमने पहले भी मुझको नहीं समझा था और आज भी तुमने मुझको समझने में भूल कर दी ।

रिक्शा आगे बढ़ रहा था ।

इधर दो दिनों से सुरेन्द्र छुट्टी लेकर प्रदीप के यहाँ आ गया था । ऑफिस का सारा कार्य अब उसने अपने हाथ में ले लिया था । जन-सम्पर्क के केन्द्रस्थलों में टाँगने के लिए कुछ आदर्शवाक्य सुन्दर अक्षरों में लिखवाकर कार्डबोर्ड की दफ्तियों में लिखवा लिए गए थे । जैसे :

प्रदीप को मत इसलिए दीजिए—

कि वे जो कहते हैं, वही करके दिखला भी देते हैं !

कि देश की बेकारी और गरीबों की आहें उन्हें सोने नहीं देतीं !

कि वे राष्ट्र के गुप्त शत्रुओं के विनाश का ही स्वप्न देखते हैं !

कि वे सामाजिक संतुलन के एकनिष्ठ पक्षपाती हैं !

कि वे ग़रीब-अमीर, गोरे-काले, ऊँच-नीच के भेद को मानवता के विकास में सबसे बड़ी बाधा मानते हैं !

कि उनकी सहानुभूति बहरी, गूंगी नहीं; सदा सक्रिय और व्यावहारिक होती है।

कि वे जनता के चौबीस घण्टे के सेवक हैं, अवसरवादी नेता और धूर्त राजनीतिज्ञ नहीं !

अभी रात के आठ नहीं बजे थे कि एक कलकल ध्वनि के साथ रञ्जना अपने साथ की दस सखियों को लेकर आ पहुँची। और वीरेन्द्र को कलम चलाते हुए देखकर बोली—"ओह ! गुड, आप आ गए। सच जानिए, मैं नित्य आपका स्मरण कर लेती थी। दद्दा से मैंने कहा भी था कि ऐसे समय वीरेन्द्र भाई का आना बहुत आवश्यक है। आपको चिट्ठी तो मिली होगी उनकी।"

वीरेन्द्र ने पत्र समाप्त करते हुए अपने फाउन्टेनपेन को बन्द करके टेबिल पर रख दिया और मुस्कराते हुए कहा—"मिली थी।"

रञ्जना ने अपना बैग टेबिल पर रख दिया और कहा—"वह चिट्ठी आग्रह करके मैंने ही उनसे लिखवाई थी। दद्दा कहाँ गए ? हमको इस समय कुछ खिलाइए वीरेन्द्र भाई। हम सब थककर इस समय चूर-चूर हो गई हैं और मेरे तो सिर में दर्द हो रहा है। मगर आपने एक बहुत बड़ी ग़लती की। बतलाऊँ ?—आप हमारी बहन को अपने साथ क्यों नहीं ले आए ? आज यदि हेमा जी हमारे साथ होतीं, तो हमारा काम कितना आगे बढ़ गया होता ! अच्छा सुनिए, नोट कीजिए ! पचास

दरियाँ मय चादरों और गावतकियों के पन्नालाल-मुन्नालाल के यहाँ से कल प्रातःकाल, आठ बजे मँगानी हैं। हमारे हर पोलिंग स्टेशन पर पानी पिलाने के लिए दो-दो मन बरफ़ आनी चाहिए—कम-से-कम। और पाँच सौ लगे हुए पान तो सदा तैयार ही रहने चाहिएँ। जलपान के लिए नुक्ती लड्डु दो दो सिर्फ़! क्यों ठीक है न? हाँ, रुपए का प्रबंध कुछ मैंने कर लिया है। ज़्यादा तो नहीं, यह देखिए—पाँच हज़ार एक का चेक! और, बाकी बात फिर करूँगी। कुछ खिलाने का प्रबन्ध कीजिए—तुरन्त। रमज़ान भाई, अ...आप ज़रा बगल के रेस्तारों में जाकर कुछ नमकीन और कुछ ताज़े लम्बे गुलाबजामुन का आर्डर दे तो आइए। देखिए, यह सब तो पिएँगी दूध की लस्सी, और मैं पिऊँगी, टी-स्पेशल! साथ में टोस्ट मक्खन। एण्ड ह्वाट एबाउट यू?"

वीरन्द्र ने कहा—"मैं तो समोसे लूंगा। चाय भी चल जायगी।"

रञ्जना बोली—"बक-अप रमज़ान भाई। अच्छा, वीरेन्द्र जी, आप ज़रा निर्माण प्रेस को तो फ़ोन कीजिए। मगर ठहरिए, एक विज्ञप्ति अभी लिख दीजिए, उसका आशय यह होना चाहिए कि हमारे मतदाताओं को यदि कोई धमकी दे और नगर के अधिकारीवर्ग में से किसी भी व्यक्ति का अनुचित प्रभाव डाले, तो उसकी सूचना पाकर हमारा कार्यालय तुरन्त उचित कार्यवाही करेगा। ···आज मुझे कुछ ऐसे उदाहरण मिले हैं, जिनमें राष्ट्र-विरोधी भावनाओं का परिचय दिया गया है। इसलिए इस विज्ञप्ति द्वारा हम काँग्रेस के मतदाताओं को विश्वास दिला देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि वे निर्भय होकर अपना मतदान करें। संसार में कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जो उनके विचार-स्वातन्त्र्य के मार्ग में कभी बाधक हो सके।" और इतना कहकर रञ्जना बोली—"ठीक है न? ख़ैर, अगर आप थक गए हों, तो इस विज्ञप्ति का मसविदा मैं स्वयं अभी तैयार कर दूँगी। मगर चाय जलपान तो आये ··। अच्छा पहले आप लोग का परिचय तो करवा दूँ···।

देखिए, आपका शुभ नाम है—तारिणी दीदी, अध्यापिका सूर्यमुखी कन्या विद्यालय; आप हैं—जनकनन्दिनी उपाध्याय, आपको नगर के एक पी० सी० एस० महोदय की अर्द्धाङ्गिनी होने का सौभाग्य प्राप्त है और आप यहां के नेताजी-बालिका-विद्यालय की मैनेजिंग कमेटी की अध्यक्षा हैं।"

इसी प्रकार उन सबका यकायक परिचय पाकर वीरेन्द्र संकोच से उठकर खड़ा हो गया। बोला—"क्षमा कीजिएगा, रञ्जनाजी ने आप लोगों के परिचय में देर कर दी। अन्यथा आप लोगों को इतना कष्ट न होता। मेरा ख़्याल है कि लकड़ी की उस कठोर बेञ्च पर आप लोगों को कष्ट होता होगा? अरे कालूराम, भीतर से कुर्सियाँ तो ले आ झट से!"

श्रीमती उपाध्याय हँसने लगीं। बोलीं—"हम लोग यहाँ स्वागत-सत्कार के लिए नहीं आईं। हमारा कार्य है—सेवा और धर्म है ऐसे पवित्र कार्य में सहयोगदान!" श्रीमती सुनीतादेवी ने मुस्कराते हुए कह दिया—"कर्त्तव्य है राष्ट्र का नव-निर्माण"; और कुमारी सुरबाला ने रूमाल मुँह से हटाते हुए कह दिया—"उद्देश्य है सत्य के प्रति निष्ठा।"

इसी समय रञ्जना बोल उठी—"और साधन है एकता और संगठन।"

अब तारिणी ने कह दिया—"योजना है इस बार यह सिद्ध कर दिखाना कि संगठन के बल से हम क्या नहीं कर सकते?"

इतने में प्रदीप आ गया। तत्काल सभी देवियाँ उठकर खड़ी हो गयीं। तब रञ्जना बोल उठी—"कल अरुणा दीदी जब घर पर नहीं मिलीं, तो मुझे ज़िद्द हो गयी कि एक अरुणा के स्थान पर दस अरुणा की बड़ी बहनों को अगर मैंने इस महायज्ञ की पूर्ति के लिए न जुटा लिया, तो कुछ न किया।"

यद्यपि प्रदीप कुछ संकुचित-सा हो उठा फिर भी वह यह कहे बिना

न रह सका कि इन सेवाओं, सहायताओं और सहयोगों के लिए भगवान् ने अवसर दिया तो मैं एक साथ धन्यवाद देना चाहूँगा। इतने में रम-ज़ान भाई रेस्टोराँ के ब्वाय को खान-पान सामग्री सहित लाकर सामने आ पहुँचे। वीरेन्द्र ने संकेत से प्रदीप को पार्श्ववर्ती कक्ष में चले आने का संकेत कर दिया। तब प्रदीप यह कहकर अन्दर चला गया कि मैं अभी हाज़िर हुआ, आप लोग तब तक चाय-चक्रम् चलाइये।

रञ्जना इसी समय झट उनके पास जा खड़ी हुई और मुस्कराती हुई बोली—"इस अन्तरंग समिति की एक सदस्या मैं भी हूँ। मुझे भी आपसे दो-दो बातें कर लेने की आवश्यकता है।"

रञ्जना के इतना कहते ही सभी देवियाँ हँस पड़ीं और प्रदाप के मुँह से निकल गया—"अच्छी बात है। तब वीरेन्द्र भाई, हमको यहीं बैठकर विचार-विमर्श कर लेना चाहिए। आप सबका एक साथ यहाँ पाकर मुझे वास्तव में बड़ा बल मिल रहा है।" और इस कथन के साथ वह तत्काल वहीं बैठ गया।

प्रदीप दो मिनट बाद जब अपने टोस्ट पर मक्खन लगा रहा था, रञ्जना जैसे किसी की प्रतीक्षा कर रही थी। बार-बार उसकी दृष्टि द्वार पर पड़ी हुई चिक पर जा पड़ती थी। वीरेन्द्र चाय में दूध डाल रहा था। सुरबाला चाय की चुस्की ले रही थी। तारिणी चम्मच से गुलाबजामुन काट रही थी और श्रीमती उपाध्याय मक्खन की टिकिया पर चाकू की धार साफ़ कर रही थीं। यकायक चिक का पर्दा उठ गया। एक तरुण वयस्क आधुनिका ने प्रवेश करते हुए कहा—"मैं भी आ सकती हूँ ?"

रञ्जना बोलने जा रही था कि प्रदीप ने कह दिया—"शौक से आइए, बैठिए, चाय लीजिए।"

आधुनिका बोल उठी—"रञ्जना दीदी, मुझे आपसे कुछ कहना है।"

रञ्जना ने उत्तर दिया—"सुनो गंगा, यहाँ सब अपने हैं। कोई

बेगाना नहीं है। जो कुछ तुमको कहना हो, संकोच त्यागकर कहो।"

प्रदीप बोल उठा—"हाँ, बिलकुल निर्भय होकर, मगर पहले चाय पी लीजिए।"

रञ्जना बोली—"हरेक बात के बाद एक घूँट चाय पीती जाओ··· हाँ, कहो···यह लो पहले चाय··· ।"

इतने में गंगा गम्भीर हो गई और बोली—"बड़ी बुरी ख़बर है। सेठ दीनानाथ ने कहा है कि काँग्रेस टिकट से खड़े होनेवाले प्रतिनिधि को हराने के लिए हम मार्केट में तीन लाख रुपए फूँक देंगे। मगर किसी भी तरह उसको इस सीट पर बैठने न देंगे, न देंगे, न देंगे।··· दूसरी बात यह कि उन्होंने हमारे मुहल्ले के कई मतदाताओं के पास यह सन्देश भेजा है कि हमने ऐसा प्रबन्ध कर लिया है कि अगर हमारी मिल के कुछ मज़दूरों ने प्रदीप को वोट दिए, तो महीने-भर के अन्दर किसी-न-किसी बहाने हम उनको मिल से कान पकड़कर बाहर निकाल देंगे। हमको यह भी सूचना मिली है कि जिन्होंने भरे हुए जल का लोटा उठाकर कस्में खाई हैं कि हम प्रदीप को अपना मत न देंगे, उनकी एक सूची बना ली गई है। चुनाव के बाद उन्हें एक-एक कम्बल पुरस्कार में दिया जायगा। इस ख़बर का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ रहा है। मुझको यह भी सूचना मिली है कि जो लोग हमारी पार्टी के काम में पूरा सहयोग नहीं देते और अक्सर सौंपे हुए कार्य को बिगाड़ देते हैं, वे गुप्तरूप से दूसरी पार्टी के वैतनिक कर्मचारी हैं और इधर की उधर भिड़ाने के लिए ही नियुक्त किए गए हैं। ऐसे एक कर्मचारी को मैंने जनसंघ के आर्थिक सहायक लाला गज्जूमल की बैठक से, रात्रि के बारह बजे इस तरह उतरते हुए देखा है जैसे कोई चोर आँख बचाकर उतर रहा हो।" इतना कहकर गंगाकुमारी जब कुछ स्थिर हुई तो रञ्जना ने प्रश्न कर दिया—"वाह! तुमने अच्छी रिपोर्ट दी है। हमको इन सब ख़तरों से सावधान होने में बड़ी सहायता मिलेगी।

...अरे, खाओ, बात भी करती जाओ, मगर यह बात मुझे बड़ी प्यारी लगी कि जिन लोगों को कम्बल मिलनेवाले हैं, उन्होंने कसम भी खाई तो तुम्हारी।"

इस पर उपस्थित मण्डली यकायक हँस पड़ी और प्रदीप बोल उठा—"हाँ, यह खूब रही।"

तब रञ्जना ने प्रश्न कर दिया—"अच्छा हाँ, अब उस एरिया का भी कुछ हाल-चाल बताओ।"

गंगाकुमारी ने अब अपने पर्स को खोलकर एक छोटी, पतली, बढ़िया, खूबसूरत, लेदरबाउण्ड नोटबुक निकाली और एक पृष्ठ खोलते हुए खिन्नमना सी होकर कह दिया—"सबसे अधिक चिन्ता का समाचार यह है कि ग्वालटोली एरिया के लाला सोहनलाल ठेकेदार, पण्डित मूलचन्द्र गोटेवाले, मुन्शी फतेहचन्द साइकिलवाले और ख्वाजा साहब भट्टेवाले इन चारों को पाँच-पाँच हज़ार रुपए इस बात के लिए दिए गए हैं कि मज़दूरों का एक भी वोट काँग्रेस को न मिलने पाए।"

इस बात को सुनकर कई देवियाँ आतङ्कित हो उठीं। श्रीमती उपाध्याय के मुँह से निकल गया—"अच्छा! यह स्थिति तो बड़ी भयानक है!" और तारिणी बोल उठी—"पूँजीपतियों के इस षड्यन्त्र का मुकाबला करने के लिए हमारे पास ऐसा कोई बल नहीं है, जिसका हम भरोसा कर सकें।" और रञ्जना भी कुछ डरती-डरती बोली—"भोलीभाली जनता कभी-कभी ऐसे लोगों के जाल में ज़रूर फँस जाती है।"

इतने में वीरेन्द्र पेंसिल हाथ में लेकर बोल उठा—"हमारे पास सबसे बड़ा बल सत्य के प्रति निष्ठा, राष्ट्र के प्रति भक्ति और जनता के प्रति कर्त्तव्य-सेवा की ज्वलन्त भावना है। हम एक दिन में, चार घण्टे में, दस मिनट में वातावरण बदल सकते हैं, अगर हमारा संगठन दृढ़ हो, हमारे संकल्प में बल हो और हमारे कर्त्तव्यपालन की शैली

में विनय, संयम और कठोरता हो। कोई शक्ति हमको झुका नहीं सकती, कोई बल हमें मार नहीं सकता, कोई सत्ता हमारा बाल नहीं बाँका कर सकती। पूँजीवाद के पिशाच से डरकर, काँप-काँप कर, अपने छेड़े हुए महान् कार्य और यज्ञ से भाग उठनेवाले कायर, भीरु और निकम्मे प्राणियों में से हम एक भी नहीं हैं। संग्राम में जूझना और अन्त में विजयश्री लाभ करना ही हमारे जन्म और मरण के पहले और अन्तिम पर्व हैं।"

इतने में नोटबुक बन्द करती हुई गंगाकुमारी बोल उठी—"आपका आदेश शिरोधार्य है। दस मिनट में नहीं, दो मिनट में मैं आपकी आज्ञा का पालन किये देती हूँ। मुझे लाला सोहनलाल की बहन रुक्मिणी देवी, पण्डित मूलचन्द्र पाठक की धर्मपत्नी पार्वतीदेवी, मुन्शी फतेहचन्द की बुआ सुहागिनीदेवी और ख्वाजा साहब के मुनीम चन्दूलाल से मिलने का अवसर मिल चुका है। हँसते-हँसते घुमा-फिराकर सबने एक ही बात कही कि आती लक्ष्मी को कोई टट्टर नहीं देता। क्योंकि ये लोग चुनाव को भी अपनी व्यापारिक हानि-लाभ का एक अङ्ग मानते हैं, इसलिए इनका कहना है कि भाई, रक़म तो हम छोड़ेंगे नहीं, वह तो आज ही से हज़म होने लगी। रह गया वोट, सो वह तो काँग्रेस को ही जायगा।"

गंगाकुमारी का इतना कहना था कि उपस्थित मण्डली के अन्दर एक हलचल मच गई। एक-साथ तालियाँ बज उठीं। वीरेन्द्र ने हँसते हुए कहा—"वाह गंगाकुमारी! तुमने आज तबियत खुश कर दी। हमको इस समय देश के लिए तुम्हारी ही जैसी आधुनिकाओं की आवश्यकता है।"

प्रदीप बिना बोले न रह सका—"भगवान् करे ऐसी ही सुखद सन्ध्या हमारे प्रत्येक दिन को मिले।" और रञ्जना कुर्सी से उठते हुए बोली—"चाय का एक दौर इसी बात पर और चल जाय।"

वीरेन्द्र के मुँह से निकल गया—"हाँ, रमज़ान भाई, तुम्हें भी तो एक प्याली चाय और ढालनी है।"

रञ्जना हँसने लगी। बोली—"रमज़ान भाई, तुम तो, मेरा ख़्याल है, दो क्या, चार-चार प्याले चाय एक बैठक में झाड़ देते हो!"

एक बार फिर वह कमरा हास-परिहास से गूज उठा।

: ४४ :

बड़े साहब की बहूरानी अब कोई काम न करती थी। सबसे महत्त्वपूर्ण काम उनके जीवन में था सोना। जब नींद उन्हें घेरे रहती तो उनके सिर के पास खड़ा हुआ चाहे कोई ज़ोर से उन्हें पुकारता भी रहे अथवा उनकी बाँह पकड़कर एकाध बार हिलाए-जुलाए भी, किन्तु उनकी नींद उचटती न थी। कभी रञ्जना अगर इस बात की शिकायत भी करती; तो वह यही उत्तर देती—"नींद भी भाग्य से ही आती है। अपने-अपने दिन होते हैं। इसमें आश्चर्य क्यों करती हो रानी!"

रञ्जना भाभी के कथन के भीतरी मर्म को समझकर लाज से गड़ जाती थी। उसकी माँ इस विषय में बहू से कुछ कह न सकती थी। क्योंकि वे जानती थीं—बड़े अब उनके आज्ञाकारी नहीं रह गए। उनको अब न मेरा डर रह गया है, न रञ्जना के बाबू का। कभी-कभी ग।पीलाला जब प्रातःकाल घर के अन्दर होते और कोई बात कहने के लिए या किसी का ँ की याद दिलाने के लिए बड़े साहब को पूछते—"अरे बड़े, कहाँ हो? यह कहाँ गया रञ्जना की माँ इतने सवेरे?" तो रञ्जना की माँ धीरे से उनके पास जाकर बोल उठती—"बेकार बुलाते हो, अभी वह सो रहा है।"

गोपीलाला बोल उठते—"राम राम...शिव शिव ! आठ बज गए और अभी वह सो ही रहा है !"

श्रीमतीजी तब और धीरे से बोल उठतीं—"देखते नहीं, कमरे के किवाड़ भीतर से बन्द हैं ? सब कुछ जान-बूझ कर बेकार को बकबक लगाए हो। बच्चों का घर है। उन दोनों ने तो लाज-शरम सब धो ही डाली है। पर तुमको तो इस बुढ़ापे में कुछ ख्याल रखना चाहिए। अपने से समझ लो।"

ऐसे समय गोपीलाला को ताव आ जाता—"राम राम...शिव शिव, तुम क्या बक रही हो, रञ्जना की माँ ! हमको सोने की अगर ऐसी बीमारी होती, तो गोपीलाला आज गोपीलाला न होते ! सड़क पर खोनचा लगाते, खोनचा राम राम...शिव शिव !"

पर इस प्रकार की कानाफूँसी भी अब बन्द हो गई थी। क्योंकि बहूरानी का सतमासा होने वाला था और इस कारण घर में सदा उत्साह और आनन्द-विनोद खेला और हँसा करता।

उन दिनों बड़े साहब माल खरीदने बम्बई गए हुए थे कि एक दिन गोरखपुर के लाला परसादीलाल आ पहुँचे। अब बारह बज रहे थे और बाज़ार खुल चुका था। मुनीम और गुमाश्ते बैठे हुए अपने-अपने काम में लगे थे कि लाला परसादीलाल की शक़ल देखते ही गोपीलाला पूछ बैठे—"कहो लाला परसादीलाल, वह चार हज़ार की रक़म कब दे रहे हो ?"

प्रश्न सुनकर लाला परसादीलाल का चेहरा सफ़ेद पड़ गया। लेकिन जैसे-तैसे अपने को सँभालकर उन्होंने जवाब दिया—"लाला जी, क्या अब आपकी दूकान में दो-दो मर्तबे भुगतान लेना चालू हो गया ! इस रोज़गार में तो एकदम मुनाफ़ा-ही-मुनाफ़ा है !"

उत्तर सुनकर अब गोपीलाला का चेहरा फक हो गया। वे बोल उठे—"एँ, क्या कहा तुमने ? दो-दो मर्तबे ! राम-राम...शिव-शिव !"

लाला परसादीलाल बोल उठे—"अरे लालाजी, इतने भोले

न बनो। अपना खाता देखो। मुनीम से पूछो। हमने बड़े साहब को पूरी रक़म मय ब्याज के चुकाई थी कि नहीं ?"

मुनीमजी बोल उठे—"रक़म कहाँ चुकाई थी ? बड़े साहब ने तो बतलाया था कि आपने कोई हैण्डनोट लिख दिया था !"

तब गोपीलाला बोल उठे—"हाँ राम-राम...शिव शिव। बड़े ने कहा तो था कि जब तुमने उसको रक़म नहीं दी और यह कहने लगे इस समय हमारे पास रुपया नहीं है तब उसने तुमसे हैण्डनोट लिखवा लिया था। मुझे अच्छी तरह से याद है राम-राम...शिव-शिव बिलकुल यही बात हुई थी।"

अब परसादीलाला जामे से बाहर होकर बोले—"सत्यानास हो जायगा गोपीलाला ! दाने-दाने को तरसोगे अगर इस तरह तुम या तुम्हारे साहबजादे बेईमानी पर कमर कस लेंगे ! हम तो चाहते थे कि रक़म का भुगतान यहीं इसी गद्दी पर हो, पर तुम्हारे चिरंजीव ने हमको ऊपर बुलाकर कहा—"कि यहीं दे दो हमको। हम बाल-बच्चेवाले आदमी हैं। अगर हम झूठ बोल रहे हों, तो भगवान् हमको समझे !. रात-दिन राम-राम...शिव-शिव की रट लगाए रहते हो और इस तरह बेईमानी की कमाई खाते हो ! दिमाग़ में भूसा भर गया है ? अगर हमने रक़म का भुगतान न किया होता, तो बड़े साहब ने हमको साढ़े तीन हज़ार का माल यों ही उठा दिया होता ? राजा हरिश्चन्द्र थे तुम्हारे बरख़ुरदार ! दुकानदारी न हुई, धर्मादाखाता हो गया ! हैण्ड-नोट लिख दिया था—कहाँ है हैण्डनोट, दिखलाइए हमको ! किस बेवकूफ़ ने हैण्डनोट लिखा था ? ऐसे-ऐसे लोग पैदा हो गए हैं ..!"

बस, लाला परसादीलाल का इतना कहना था कि गोपीलाला ने एक बार लम्बी निश्वास लेकर , काँपते हुए स्वर में कह दिया—रा... म...रा...म...शि...व...शि...व...!"

तब मुनीम जी के मुँह से यकायक निकल गया—"अरे, यह क्या हो गया ?"

बही हाथ से छोड़कर वे झट गोपीलाला के पास आकर उनको हिलाने-डुलाने लगे—"लाला जी, लाला जी..." तब गुमाश्ते, तगादगीरं तथा अन्य नौकर सबके सब लाला जी को घेरकर खड़े हो गए। परसादीलाला बोले—"डाक्टर को बुलाइए, जल्दी कीजिए।"

मुनीम जी ने फ़ोन पकड़ा। चार बार कर्र-कर्र की आवाज़ हुई। दो-एक नौकर पड़ोस की दूकानों में लाला जी की इस दशा का समाचार देने जा पहुँचे और थोड़ी देर में बाजार के सभी धनी-मानी व्यापारियों से उनकी दूकान भर गई।

कोई कह उठा—"सब यहीं पड़ा रह जाता है। एक मात्र दान, धर्म, मनुष्य की सचाई, उसका सच्चा व्यवहार अपनी कहानी छोड़ जाता है।"

दूसरा बोल उठा—"रात दिन राम-राम...शिव-शिव की रट लगाए रहते थे। आज तक उन्होंने किसी नौकर को कभी गाली न दी। सब को अपना हितू और सगा समझते थे और सबके साथ सच्चाई का व्यवहार करते थे।"

तीसरे के मुँह से निकल गया—"और भगवान् ने मृत्यु भी उनको कितनी उज्ज्वल दी! कोटि कोटि मुनि जतन कराहीं, अन्त राम कहि आवत नाहीं! मगर उनके अन्तिम शब्द यही थे—रा...म...रा...म ...शिव-शिव...।"

जिस समय दूकान में गोपीलाला का ऐसा गुणानुवाद चल रहा था, उसी समय रञ्जना मज़दूरों के एक क्षेत्र में अपनी दो सहकर्मिणी तारिणी और सुरबाला के साथ, खुली चारपाई पर बैठी हुई, मज़दूरों को समझा रही थी—रुपए-पैसे का यह लोभ, नजर-भेंट में अलवान या कम्बल पा जाने का यह लालच राष्ट्र के काम में कभी साथ न देगा। साथ देगी, तुम्हारी यह समझ, तुम्हारा यह ज्ञान कि किसके द्वारा तुम्हारी सम-

स्याएँ, उलझनें और परेशानियाँ, तुम्हारा रात दिन का रुदन और उपवास, तुम्हारी इन खोखली आँखों की पुकार, तुम्हारी इन डेढ़ हड्डियों और नपीतुली साँसों का घिघियाना, रिरियाना और दया की भीख माँगना, उनके कानों में पहुँचाया जा सकता है, जो आज जनता के प्रतिनिधि बनकर सदन और संसद की कुरसियों पर विराजमान हैं। इस धोखे में मत रहो कि कभी वे लोग तुम्हारे सच्चे प्रतिनिधि हो सकते हैं, आज तुमको भड़काकर हड़ताल करा देना, दस दिन या दो महीने बाद एक ओर जब तुम भूखों मरने लगो और दूसरी ओर जब मिल-मालिक उनको थैलियाँ थमाने को तैयार हो जाएँ, तब तुम्हीं को हड़ताल तोड़ देने के लिए राज़ी कर लेना जिनका एकमात्र पेशा बन गया है। जो लोग मज़दूरों और मिल मालिकों के बीच दलाली खाते हैं, वे तुम्हारे हितू नहीं, दुश्मन हैं—शत्रु हैं। और एक तुम्हारे ही नहीं, वे सम्पूर्ण राष्ट्र के शत्रु हैं। आज तुम्हारी समझ, सूझबूझ, जानकारी और अपनी निज की सचाई की परीक्षा का समय है। ज़रा सोचकर देखो कि तुम्हारी भलाई चाहनेवाले कौन हो सकते हैं! मुझे यह जानकर बहुत दुःख हुआ कि हमारे कुछ भाई रुपए और कम्बल—और ऐसी ही बहुत सी चीज़ें हो सकती हैं—के लोभ में पड़कर अपनी ईमानदारी और अपनी भलाई का विचार बेच देने को तैयार जान पड़ते हैं। यह सवाल एक-दो दिन का नहीं है, एक दो बरस का नहीं है, यह सवाल है—समूचे देश की औद्योगिक सम्पदा के विकास का, देश के भीतर बल का। उस शक्ति का जो तुम्हारे ही परिश्रम से पैदा होती है, और तुम्हारे ही परिश्रम से हम सबको मिलती है। संसार में, हिन्दुस्तान के उद्योग-धन्धों की चीज़ें न्यूयार्क, लन्दन, मास्को, टोकियो, हांगकांग आदि महानगरों में पहुँचती हैं, तो नाम किसका होता है? लाभ किसको मिलता है? कभी तुमने सोचा है कि हिन्दुस्तान की औद्योगिक उन्नति के साथ

तुम्हारी अपनी और तुम्हारी सन्तान की निजा उन्नति का कितना सगा नाता है ? वह दिन दूर नहीं है, जब तुम्हारे ये मैले-कुचैले कपड़ों में रहने और गन्दे मकानों में पलनेवाले लड़के स्कूलों और विद्यालयों की फीस के लिए रिरियाने और घिघियानेवाले लड़के एक दिन राष्ट्र की सम्पत्ति बन जाएँगे। पढ़-लिखकर तैयार हो जाने तक की सारी शिक्षा तुम्हारी ज़िम्मेदारियों की मोहताज न होकर शासनसत्ता की कार्यकुशलता का उपयोग करने की अधिकारिणी बन जायगी। तुम अपनी इन्हीं आँखों से देखोगे, कि तुम्हारे ये बच्चे मिलों की ऊँची-ऊँची कुर्सियों पर विराजमान हैं। वे नौकर नहीं, उन मिलों के हिस्सेदार बन बैठे हैं। लेकिन तुम्हारी आत्मा की इस प्रकार, तुम्हारी महत्त्वाकांक्षाओं की हुंकार तभी पूरी होगी, जब तुम अपनी सचाई और ईमानदारी पर स्थित रहकर, दृढ़ रहकर चुनाव के समय अपना सच्चा प्रतिनिधि चुन लेना, अपना धर्म और पवित्र कर्त्तव्य समझोगे। तुम्हारे मत की विजय ही तुम्हारी इच्छाओं की पूर्ति का सबसे बड़ा साधन है। निर्माण तुम्हारे हाथ में है। निर्माण तुम्हारे मत का मोहताज है। मगर शर्त यह है कि तुम अपने अधिकार का उपयोग बिलकुल सही-सही करो, बिलकुल ठीक-ठीक करो। लोभ से बचो, मोह से बचो और किसी तरह, किसी के बहकाए में मत आओ।'

रञ्जना के इस छोटे लेकिन उपयोगी प्रवचन को सुनकर कई मज़दूर आपस में कानाफूसी करने लगे। एक बोल उठा—"बहनजी, आपके बाबू जी भी तो…।"

रञ्जना ने बात के मर्म को समझकर मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"हाँ, मेरे बाबू मिल-मालिक तो नहीं लेकिन एजेण्ट ज़रूर हैं।"

मज़दूर ने जबाब दिया—"बहनजी, मैंने एकाध बार सेठ जी की दुकान पर आपको देखा भी है। भगवान् के बड़े भक्त हैं!"

इतने में जिस मज़दूर के दरवाज़े से यह चारपाई कुछ निकट पड़ी

थी, उसकी लड़की ने आकर कहा—"दीदी, अम्मा कहती हैं कि आप थोड़ा दूध पी लें तो मैं एक गिलास में बनाकर ले आऊँ। या कहें तो दूध की चाय बना दूँ।"

रञ्जना बोल उठी—"जियो जियो बिटिया रानी, अब हम चलती हैं क्योंकि और भी काम देखना है। कभी फुरसत में होंगी, तो तुम्हारे घर आकर अपने मन का खाना बनाकर, तुम्हारे साथ बैठकर सब मिल कर खाएँगी।"

तारिणी बोली—"चलो, अब चलें, बड़ी देर हो गई।"

रञ्जना के मुँह से निकल गया—"बाबू कल कह रहे थे, अरे समय से खाना तो खा लिया कर बेटी। काम तो फिर जीवन से लगा है।"

सुरबाला ने ताँगे पर पैर रखते हुए कह दिया—"दीदी, वे जब बात करते हैं, तो उनका बार-बार राम-राम शिव-शिव कहना मुझे बड़ा अच्छा लगता है!"

तारिणी बोल उठी—"पहली बार जब मैंने उनकी बातचीत सुनी थी, तब मुझे कुछ हँसी आ गई थी।"

रञ्जना ने पूछा—"और अब ?"

तारिणी ने उत्तर दिया—"अब तो श्रद्धा से मेरा मस्तक झुक जाता है।"

तांगा चल पड़ा और थोड़ी दूर बाद जो वह सड़क से अपने मकान की ओर मुड़ने लगी, तो उस ओर अत्यधिक भीड़ देखकर विस्मय में पड़ गई। यकायक कुछ स्वर उसके कानों के परदों पर उतरने लगे—"गोपीलाला की बात ही और थी। उनका-सा आदमा होना दुर्लभ है।"

तारिणी के मुँह से निकल गया—"अरी दीदी, यह मैं क्या सुन रही हूँ ?"

ताँगा अभी मकान के द्वार पर नहीं पहुँच पाया था। रञ्जना यकायक फूट-फूटकर रो पड़ी। थोड़ी देर में उसका क्रन्दन घर और द्वार के हाहा-कार में सम्मिलित हो गया।

सबकी यही गति है। ऐसा अवसर एक-न-एक दिन सब के जीवन में आता है। क्रन्दन और हाहाकार, चीत्कार और सिसकियाँ, आँसुओं के बूंद और निर्झर उठते और गिरते हैं। फिर धीरे-धीरे सब काल के मुँह में समा जाता है। काल कभी कछ उधार नहीं रखता! काल का सौदा बिल्कुल पूरे मूलधन का सौदा है। उसमें ब्याज और व्याज पर ब्याज नहीं चलता। कहते हैं—बड़ा से बड़ा दुःख हो, फिर भी उसकी चरम सीमा की अवधि केवल तीन दिन की है।

और यही तीन दिन रञ्जना की परीक्षा के दिन थे। जब उसकी सखियाँ उनसे पूछतीं—"अरी रञ्जना, तुमको क्या हो गया है? तुम्हारे छोटे-बड़े भाई हैं, माँ हैं, भाभी हैं, सब बेचारे कितने दुःखी होंगे! समय पर उनको खाना खिलाना, समझा-बुझाकर उनको राजी करना, तुम्हारा ही तो काम है।"

तब रञ्जना एक निःश्वास के साथ उत्तर देती—"सब ठीक है, बहन, लेकिन राष्ट्र का काम, जनता के प्रति कर्त्तव्य की भावना, हमारे निज के नातों और कर्त्तव्यों के पालन से कहीं ऊपर है। बाबू तो अब लौटकर आने से रहे; लेकिन दो तीन दिन का यह काम भी तो देखना है। बीच में इसको कैसा छोड़ा जा सकता है!"

अब प्रदीप के पक्ष में वातावरण का एक नया रूप बन गया था। जब रञ्जना व्याख्यान देने को खड़ी होती, तो लोग आपस में बातें करने लगते—"एक हम लोग हैं कि रात दिन अपना काम, स्वार्थ, अपना मतलब, अपनी गरज़ और हानि-लाभ देखते हैं! एक यह लड़की है, जिसका पिता मर गया है और यह अपने घरवालों का ध्यान न रख

कर देश के इस काम में लगी हुई है। ज़रा इसके उच्च हृदय को देखा, आदर्श भावना का देखा, उत्साह और साहस को देखो।

कोई कहने लगा—"भाई, मुझे तो कुछ ऐसा जान पड़ता है कि देश का अब सारा काम-काज अब ये लड़कियाँ ही सँभालेंगी। जनता की समस्याओं का समाधान इन्हीं के मुँह की ओर देखेगा। देख न लो प्रत्यक्ष, इन लड़कियों ने सारे नगर के जन-जन की भावना को मथकर छोड़ दिया है। सड़कों के नारे, माइक्रोफोन की आवाज़ें, परचेबाजियाँ, पार्टियों की बैठकें, भीतरी षड़यन्त्र और मिल-मालिकों की तिजोरियों से निकलनेवाले नोटों के बण्डल इन्होंने व्यर्थ कर डाले हैं।"

किसी ने कह दिया—"हमने तो वह दृश्य भी देखा है जब यह लड़की पिता के दाह-संस्कार के बाद सीधी मिल एरिया की तरफ जाकर फिर अपने काम में जुट गई थी। हमने वह दृश्य भी देखा है, जब भावना में डूबकर यह लड़की कभी-कभी व्याख्यान देती-देती आँसू भी पोछने लगती थी।"

एक बार कहीं कोई पूछ ही बैठा—रञ्जना जी, ये आज आपको व्याख्यान के बीच में आँसू पोछने की नौबत कैसे आ गई ? तो रञ्जना ने उत्तर दिया—भाई, क्या बताऊँ यह प्रश्न भी अब मेरे जीवन की कहानी के साथ जुड़ गया है। बाबू ने एक दिन कहा था—और इतना कहती-कहती रञ्जना फिर सजलनयन हो उठी। बोली—"अब जाने ही दीजिए। वह बात अब कहने की नहीं है।"

प्रश्नकर्त्ता ने बतला देने की बहुत विनय की, लेकिन रञ्जना बतला न सकी। उसने उत्तर दिया—"क्षमा कीजिए, वह मेरी एक बहुत निजी बात है।"

पर कथा के प्रसंग में निजी से निजी बात भी कथा के लिए निजी नहीं होती। वास्तव में बात यह थी कि गोपीलाला ने एक दिन हँसते हँसते रञ्जना से कह दिया था—"तूने वह काम किया है रञ्जना जिसको

मैं भी नहीं कर सकता था। तुझसे क्या छिपा है कि मुझसे कितनी बड़ा भूल हो गई थी ! भगवान की कितनी बड़ी ममता तेरे साथ है कि तूने मेरी बिगड़ी हुई बात बना ली। कुलदीप लाला ने फ़ोन से मुझसे बात की थी। उन्होंने कहा था—'कुछ भी हो गोपीलाला, तुम आदमी बड़े खरे निकले। तुमने उस समय सत्रह हज़ार की रकम मुझसे ज़रूर ऐंठ ली, लेकिन आज मुझे लगता है, तुम्हारी लाड़िली बेटी की लगन और सेवा का मूल्य सत्रह लाख में भी चुकाया नहीं जा सकता !' और प्रासंगिक बात यह थी कि रञ्जना के मुँह से निकल गया था—'सच्ची लगन और सेवा का मूल्य लाखों रुपयों में भी चुकाया नहीं जा सकता' !"

भावनाओं के इस परिवर्तन ने प्रदीप की डाँवाडोल नैया को बहुत कुछ स्थिर और प्रवहमान बना दिया था। वह जहाँ जहाँ जाता, वहाँ सर्वत्र या तो उसी की चर्चा मिलती, या फिर रञ्जना के कार्यकलाप की। लोग कहते थे—"भाई, वैसे तो मामला कुछ गड़बड़ था, लेकिन रञ्जना की तपस्या का कोई जोड़ नहीं है। सोशलिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि बाबू मुरलीमनोहर विद्यालङ्कार हमारे सगे-सम्बन्धियों में हैं। हमारा उनका खान-पान का भी व्यवहार है। लेकिन अब हवा का रुख कुछ बदल गया है। प्रदीप की क्या बात है ! उनका सा वक्ता, त्यागी नेता, साधु और बात का धनी तो नगर क्या प्रान्त में मिलना मुश्किल है। और यह रञ्जना नाम की जो लड़की है, यह तो बस दुर्गा की मूर्ति है ! जहाँ जाती है, वहाँ जनता की हार्दिक भावनाओं को अपनी मुट्ठी में कर लेती है।"

अन्त में वह क्षण भी आ गया जब एक ओर एक सार्वजनिक सभा में अपनी विजय के उपलक्ष में प्रदीप ने यह स्वीकार किया कि आप ही लोगों की हार्दिकता हमारा सच्चा बल रहा है। आप ही लोगों का सच्चा सहयोग हमारी असली शक्ति रही है। पर इस सिलसिले में उन देवियों, स्त्रियों, कुमारियों और शिष्याओं का अवलम्ब, उनकी निःस्वार्थ

सेवाएँ, उनकी मूक तपस्या, उनकी कलामयी कार्यप्रणालियाँ तो मुझे जीवन भर याद रहेंगी।

वीरेन्द्र ने इस समय उठकर उनके कान के पास जाकर कुछ संकेत भी किया—"आपको सबका अलग-अलग नाम भी लेना चाहिए, स्पेशली रञ्जना का।" तब प्रदीप ने रुद्धकण्ठ और साश्रु नयन होकर कह दिया—"हमारे बन्धु इस समय हमको एक बहुत पवित्र सलाह दे रहे हैं। मैं क्या कहूँ उनकी उस भावना के लिए। कुछ बातें जीवन में अपना स्थायी महत्त्व रखती हैं। वे जब तक दूसरों से सम्बन्धित रहती हैं, तभी तक उनका महत्त्व सार्वजनीन होता है। किन्तु जब उनका भावनात्मक सम्बन्ध निजत्व की बाँह पकड़ लेता है, तब उन बातों का महत्त्व दूसरों के पक्ष में न जाकर स्वयं उसी के पक्ष में जा पहुँचता है। मैं यदि इस स्थल पर किसी नारी के सम्बन्ध में अपनी प्रशंसात्मक भावना व्यक्त करने में चूक जाऊँ, तो उसका यह कारण नहीं है कि वह मेरी भूल है, या मेरी ग़लती है। क्योंकि एक बार जो मुझे अपना बना लेते हैं, मैं उनकी प्रशंसा को अपनी ही प्रशंसा समझने लगता हूँ।"

इतने में स्त्रीसमाज के बीच से उठकर एक नारी मञ्च पर आ गई और सभापति जी से आज्ञा लेकर बोल उठी—"हमारे मान्य प्रति-निधि दद्दा ने अभी जिस देवी के सम्बन्ध में अपनी हार्दिक भावना प्रकट की है, वे हमारी बहन रञ्जना हैं। उनकी सेवाएँ स्तुत्य हैं। उनका धीरज सराहना के योग्य है। उनकी संलग्नता अनन्यतम है। कुछ कारणों से इधर कुछ दिनों के लिए मैं अपनी सेवाओं का सहयोग जो उनको नहीं दे सकी, उसके लिए मैं अब पछता रही हूँ और मैं कह नहीं सकती कि भविष्य में कब तक यह पश्चात्ताप बना रहेगा!"

अरुणा यह कहती-कहती सजल नयन हो उठी। वह जब अपनी बात कह चुकी, तब प्रदीप ने संकेत से उसे अपने पास बुला लिया और कहा—"दुखी होने की कोई बात नहीं है। विश्वास मनुष्य का सबसे

बड़ा धन होता है और विश्वास का दान ही सच्चा आत्मदान है। मेरी विजय में तुम्हारी विजय है और किसी कारण अगर तुम्हें कुछ भ्रम भी हो गया हो, तो उसका निवारण हो जाने पर, अब तो तुम्हें दुखी न होकर आनन्दित ही होना चाहिए। क्या यह कम सुख की बात है कि जिस कार्य का श्रीगणेश तुमने किया था, अन्त में वह सफल होकर रहा!"

इस सभा में प्रदीप के कई मित्र भी उपस्थित थे। वे सभा के एक कोने से बोल उठे—"प्रदीपजी की बात तो पूरी हो गई, लेकिन हम लोगों की कामना अभी पूरी नहीं हुई।"

दूसरी ओर से एक महाशय बोल उठे—"हमारे आज के निर्वाचन-विजेता कुछ संकोची स्वभाव के हैं। उन्होंने जिस नारी-आत्मा की ओर संकेत किया है आप सब लोगों को उनकी सेवाओं का यथेष्ट परिचय मिल चुका है। वे हैं रञ्जना देवी। हम सब लोग आज यहाँ पर उनकी सेवाओं के लिए उनको धन्यवाद देते हैं, हालाँकि हज़ार-हज़ार धन्यवाद भी उनके लिए कम हैं।"

सभापति ने इसी समय अपने भाषण के साथ सभा समाप्त की।

अब कई लोगों ने प्रदीप को घेरकर उन्हीं से पूछना प्रारम्भ कर दिया—"पर यह बात हमारी समझ में नह आई कि इस सभा म रञ्जना जी क्यों नहीं आई?"

सभा के समाप्त होने पर सब लोग अपने-अपने घर जा रहे थे। रास्ते में कुंजविहारी सामने आ गया और बोला—"दद्दा, मैं आपको हृदय से बधाई देता हूँ।"

प्रदीप ने एक बार उसकी ओर देखा और मुस्करा दिया।

जब प्रदीप गाड़ी पर बैठने लगा, तो एक दूसरी गाड़ी के भीतर से निकलकर जेतली साहब ने मुस्कराते हुए उसको बधाई दी और कहा—"भाई प्रदीप, क्षमा करना, उन दिनों मेरी कुछ तबियत खराब हो गई थी। इसलिए बहुत चाहने पर भी मैं उस दिन की सभा में बोलने के

लिए आ नहीं पाया था। कहीं तुम्हें भ्रम न हो जाय, इसलिए आज इस समय मुझे यहाँ आना ही पड़ा।"

प्रदीप ने तब मुस्कराते हुए कह दिया—"इस कृपा के लिए धन्यवाद। बातें तो आपसे बहुत करनी हैं मुझको, मगर इस समय नहीं, फिर कभी करूँगा।"

अभी गोपीलाला का श्राद्ध-संस्कार हो नहीं पाया था। बड़े साहब बम्बई से लौट आये थे। उनको मुनीम जी के द्वारा यह विदित हो गया था कि बाबूजी की मृत्यु का मूल कारण क्या था। इसलिए वह मन-ही-मन कुछ दुखी रहा करता था।

मनुष्य का वह रूप बड़ा ही दुःखद और चिन्त्य होता है जब वह जानता है कि मुझसे एक बड़ा पाप हो गया है; किन्तु वह उसके सम्बन्ध में कभी, किसी से, कोई शब्द भी कह नहीं पाता। अरुणा, बड़े साहब और कुंजबिहारी ही नहीं, बहुत पढ़े लिखे, बहुत त्यागी एम० एल० ए० श्रीमान् जेतली साहब भी इसी श्रेणी के व्यक्ति थे। साधारण आदमी तो यदि कभी कोई अपराध कर लेता है, तो उसकी लाज से जीवन भर नतमुख बना रहता है। लेकिन प्रदीप को बिलकुल ठीक अवसर पर धोखा देना भी जेतली साहब के लिए साधारण बात थी। उसका केवल इतना ही मूल्य था कि उन्होंने अपनी उस ग़लती को अस्वस्थता का रूप देकर छुट्टी पा ली।

आज सन्ध्या समय कुलदीपलाला ने गोपीलाला के घर जाकर सहानुभूति के स्वर में बड़े साहब और उनकी माँ को सम्बोधन करते हुए कह दिया—"मुझसे और गोपीलाला से फ़ोन पर कुछ बातें हो गई थीं। अभी उस बात को अधिक दिन नहीं हुए। एक समय था, जब रञ्जना बिटिया के विवाह के लिए मुझे कुछ हिचक थी। उसके बाद मेरी हालत ही ऐसी ख़राब हो गई थी कि आप लोगों का विचार मेरे

यहाँ सम्बन्ध करने का नहीं रह गया था। कम-से-कम मैंने समझ यही लिया था। लेकिन गोपीलाला ने उस दिन अपनी यह ग़लती मान ली थी। अब मेरे मन में इस सम्बन्ध के लिए कोई दुविधा नहीं रह गई है। लड़के और लड़की दोनों ने एक दूसरे को समझ लिया है और मेरी तो हालत कुछ ऐसी नाजुक हो गई है कि मुझे ही इसके लिए आज यहाँ आना पड़ा। मेरे लायक कोई काम हो, तो रञ्जना की माँ, तुम—और बड़े तुमसे भी मेरा यही कहना है—संकोच त्यागकर मुझसे कह देना। अब तुम्हारे परिवार को मैं अपना ही परिवार मानने लगा हूँ। तुम्हारा दुख मेरा दुख है। तुम्हारी उलझनें मैं अपनी उलझनें समझता हूँ। और बड़े मैं तुमसे कभी एकान्त में कुछ बात करना चाहता हूँ। कभी भी तुम मेरे यहाँ आ सकते हो।"

इसके उत्तर में बड़े साहब की आँखें डबडबा आईं और रञ्जना की माँ घूँघट के भीतर से बोल उठीं—"अब इन बच्चों की देखरेख भी आपको ही करनी होगी। क्योंकि उनके सिर पर हाथ धरने वाला तो ..." और इतना कहती-कहती रञ्जना की माँ रोने लगीं।

कुलदीपलाला चारपाई से उठते हुए बोल उठे—"कोई नहीं जानता कि क्या होनहार है! कोई नहीं कह सकता कि कब हमारा पैर ऊँचाई पर पड़ जायगा और कब निचाई पर। सुख दुख तो जीवन से लगे हैं। आदमी को अपना धर्म नहीं छोड़ना चाहिए।"

इतने में बड़े साहब के मुँह से निकल गया—"हमने आज एक जगह कुछ ऐसी खबर सुनी है कि आपने अपने गोदाम का बीमा भी करा रखा था और तीन लाख कई हज़ार की रक़म भी आपको मिलने वाली है।"

कुलदीपलाला ने तांगे पर बैठते हुए उत्तर दिया—"हाँ, वह रक़म हमें मिल गई है। तुम्हारी बहन रञ्जना अब उसी घर में जायगी, जिस घर में बैठकर गोपीलाला ने उसके विवाह की बात तय की थी।"

बड़े साहब ने अब प्रसन्नता के साथ कह दिया—"आप मेरे पिता के समान हैं। बच्चों से भूलें होती हैं, तो बड़-बढ़े, पिता हों या चाचा, उन्हें क्षमा भी कर देते हैं !"

काल के चरण फिर कुछ आगे बढ़ गए।

अरुणा लखनऊ के एक इण्टरमीडिएट कालेज में प्रिन्सिपल का पद पा गई और कुछ ही महीनों के बाद वीरेन्द्र फिर कानपुर लौट आया।

एक दिन की बात है वीरेन्द्र कई दिन की पहनी हुई कमीज़ और मैले तथा कुछ फटे हुए पायजामे में, दाढ़ी बढ़ाए हुए, प्रदीप की बैठक में बैठा हुआ था कि प्रदीप ने कह दिया—"चलो वीरेन्द्र, खाना खा लो।"

वीरेन्द्र ने इन्कार नहीं किया। वह उसके पीछे-पीछे चल दिया।

चुपचाप मूक बैठा हुआ वीरेन्द्र जब खाना खा रहा था तभी प्रदीप ने पूछा—"यह तुम्हारा लखनऊ जाना और कुछ ही महीनों के बाद वहाँ से सपत्नीक लौट आना कुछ मेरी समझ में नहीं आया !"

वीरेन्द्र ने एक निःश्वास लेकर चुप्पी साध ली।

फिर प्रदीप ने इस विषय में प्रश्न करना उचित नहीं समझा। किन्तु वीरेन्द्र ने आचमन कर चुकने के बाद अपने आप प्रदीप से कह दिया—"मुझे तो आज खाना मिल गया, लेकिन हेमा अब भी भूखी होगी !"

प्रदीप ने गम्भीरतापूर्वक पूछा—"क्यों ! ऐसी भी क्या बात है ?"

वीरेन्द्र ने अब मस्तक ऊँचा करके मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"क्योंकि शैतान के दाँत बहुत बढ़ गए हैं। ईर्ष्या और द्वेष से सारा देश आज जल उठा है। नैतिकता मर रही है। देश की लाज आज ख़तरे में है। ऐसे समय अगर ईमानदार और सच्चरित्र प्राणी अपने

आत्म-विश्वास की रक्षा करता हुआ भूखों मरता है, तो इसमें आश्चर्य क्या है ? आश्चर्य तो इस बात में है कि वह अब भी जी रहा है !"

इतने में सकुचाती सकुचाती रञ्जना बोल उठी—"भले ही मानवता खतर में हो, लेकिन उसे सक्रिय होना ही पड़ेगा। दूकान की देख-रेख के लिए एक सहायक की मुझे भी आवश्यकता पड़ेगी वीरेन्द्र भाई। इसलिये आपको हमारे बीच रहना ही पड़ेगा !"

———